गढ़वाल

की

दिवंगत विभूतियां

लेखक

भक्तदर्शन

प्रकाशक—

भक्तदर्शन

एम० ए०, एम० पी०,

लैंसडौन, ज़िला गढ़वाल,

उत्तर प्रदेश।

प्रथम बार—दिसम्बर, सन १९५२ ई०

मूल्य—पांच रुपये मात्र

मुद्रक—

चमनलाल कतियाल

अमर भारत प्रेस,

दरियागंज, दिल्ली।

प्रस्तावना

आज मेरा 'कुम्भ' पूरा हुआ। सन १६४० में, आज से लगभग बारह वर्ष पहिले, मैंने यह योजना तैयार की थी; लेकिन उसी बीच सन १६४१ के व्यक्तिगत सत्याग्रह तथा अगस्त, सन १६४२ के तूफ़ानी आंदोलन ने मुझे जेल की चहारदीवारी के अन्दर पहुँचा दिया। फिर भी उन दोनों जेल-प्रवासों में मैंने अपनी प्रारम्भिक पांडुलिपि तैयार कर ली। तदुपरान्त वहां से मुक्त होने के बाद काग़ज़ व छपाई की अड़चनें सामने आ खड़ी हुईं, अतः मैं इस कार्य को हाथ में नहीं ले पाया। फिर 'सुमन-स्मृति-ग्रन्थ' तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण मुझे अवकाश ही नहीं मिला; और अब यह पुस्तक प्रकाश में आ रही है।

मेरी यह रचना मौलिक नहीं है। मैं ने तो सब उपलब्ध सामग्री का अध्ययन करके केवल उसे क्रमबद्ध कर दिया है। मेरा उद्देश्य यह है कि गढ़वाल की वर्तमान पीढ़ी अपने दिवंगत महानुभावों के कार्य-कलापों का मनन करके अपने कर्तव्य-मार्ग को स्थिर करे; साथ ही उन बड़े व छोटे जन-सेवकों की स्मृति के प्रति श्रद्धाञ्जलि भी अर्पित की जाय।

इसे तैयार करने में मैंने लैटिन भाषा की उक्ति—"नील निसी बोनम" का अनुसरण किया है; (अर्थात बीते हुए व्यक्तियों की प्रशंसा ही की जाय।) इसलिये इस पुस्तक में कुछ ऐसे महानुभावों के जीवन-परिचय भी आ गये हैं, जो अपने जीवन-काल में काफ़ी बदनाम थे; क्योंकि, मेरी अपनी सम्मति में, उनके दोष उनके साथ चले गये, लेकिन उनके गुण और अच्छे कार्य आज भी जीवित और प्रकाशमान हैं।

मैं स्वीकार करता हूं कि इस पुस्तक में मैं ने विभिन्न जीवन-परिचयों का जिस प्रकार श्रेणी-विभाजन किया है, उसमें मतभेद की गुंजायश हो सकती है, लेकिन मैं समझता हूं कि व्यावहारिकता की दृष्टि से यह अपरिहार्य था। इसी प्रकार खण्डों के अन्तर्गत मैं ने विभिन्न महानुभावों के जीवन-परिचय निधन-तिथियों के क्रम से दिये हैं; साथ ही मैंने गढ़-नरेशों तथा अन्य महानुभावों के नामों के पहिले क्रमशः 'महाराज' और 'श्री' का ही उपयोग किया है, क्योंकि, मेरी सम्मति में, अन्य टाइटिल व पदवियां लगाना अनावश्यक और निरर्थक था।

मैं ने अनवरत पत्र-व्यवहार करके यह कोशिश की है कि गढ़वाल के सभी अंगों की सब दिवंगत विभूतियों के परिचय इस पुस्तक में आ जायं; तथा जितने फोटो मिल सके वे भी दिये गये हैं। फिर भी अनेक जीवनियां छूट गई हैं या उनके बारे में बहुत कम सामग्री मिल सकी है। उनमें से कुछ को मैंने परिशिष्ट में सम्मिलित कर दिया है। मैं पाठक महानुभावों को निमन्त्रण देता हूं कि वे अपने सुझाव भेजने की कृपा करें, ताकि अगले संस्करण में सब कमियों को दूर कर दिया जाय।

इस पुस्तक को तैयार करने में जहां मुझे मि० एटकिसन के 'गजेटियर' तथा श्री हरिकृष्ण रतूड़ी के 'गढ़वाल का इतिहास' से सहायता मिली है, वहां मैं गढ़वाल ज़िला बोर्ड शिक्षा-समिति के भूतपूर्व चेयरमैन श्री कुन्दनसिंह गुसाईं, वकील, लैंसडौन का विशेष रूप से आभारी हूँ। उनके पास ब्रिटिश म्यूज़ियम, टिहरी-राज्य-संग्रह तथा अन्य सूत्रों के महत्वपूर्ण काग़ज़ों की प्रतिलिपियां व 'नोट्स' हैं; उन्होंने वह सब सामग्री सहर्ष मेरे सिपुर्द कर दी और इस पुस्तक के प्रथम भाग में मैंने उसका उपयोग किया है।

द्वितीय भाग की तैयारी के लिये मैं जिन अनेक महानुभावों का आभारी हूँ उनमें सर्वप्रथम मैं श्री विश्वम्भरदत्त चन्दोला को धन्य-

वाद देता हूँ, क्योंकि उन्होंने 'गढ़वाली' की सब पुरानी फाइलें मेरे सिपुर्द कर दीं और उनसे मुझे बहुत मूल्यवान सामग्री प्राप्त हुई। इसी प्रकार मैं श्री भैरवदत्त धूलिया का भी आभारी हूँ, जिन्होंने 'कर्मभूमि' की पुरानी फाइलों का अवलोकन कराके मुझे सहायता दी। मैं वयोवृद्ध श्री शालिग्राम वैष्णव का भी कृतज्ञ हूँ; उन्होंने मुझे अनेक विस्तृत विश्वसनीय सूचनायें दीं। मैं श्री श्यामचन्द नेगी, बी० ए०, पत्रकार को भी धन्यवाद देता हूं; उन्होंने अपनी अंग्रेज़ी पुस्तिका 'सम इमीनेण्ट गढ़वालीज़' के अतिरिक्त और भी सामग्री भेज दी। इसी प्रकार आई० टी० कौलेज, लखनऊ, के अध्यापक श्री शम्भु प्रसाद बहुगुणा, एम० ए०, का भी मैं आभारी हुँ; उन्होंने डा० बड़थ्वाल, श्री चन्द्र कुंवर बर्त्वाल और श्री भोलादत्त चन्दोला आदि के बारे में मूल्यवान सूचनायें दीं।

इनके अतिरिक्त जिन अनेक महानुभावों से मुझे सहायता मिली है, उनका यथासम्भव यथा-स्थान मैंने उल्लेख कर दिया है। साथ ही मैं उन अनेक महानुभावों को भी धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने बार-बार याद दिलाने पर भी सामग्री नहीं भेजी!

अन्त में मैं दैनिक 'अमर-भारत' के सम्पादक और हिन्दी के सुलेखक श्री भगवती प्रसाद 'माधव' के प्रति अपना आभार प्रदर्शित करता हूँ; उन्होंने इस पुस्तक को छपाने आदि की व्यवस्था करके अपने प्रेमपूर्ण व्यवहार के द्वारा मुझे अनुग्रहीत किया।

अपने सीमित साधनों के बावजूद भी, इस पुस्तक को सर्वांग-सुन्दर बनाने का मैंने प्रयत्न किया है; फिर भी अनेक कमियां रह गई हैं तथा भूलें हो गई हैं। यदि उनके लिये क्षमा प्रदान करके पाठक-समुदाय ने मुझे प्रोत्साहन दिया तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

नई दिल्ली;
२८ दिसम्बर, सन १९५२ ई०।

—भक्तदर्शन

विषय-सूची

प्रथम भाग

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

द्वितीय भाग

प्रथम खण्ड

महाराज कीर्तिशाह

महाराज नरेन्द्रशाह

श्री नारायण सिंह नेगी

श्री पातीराम परमार

महन्त लक्ष्मणदास

श्री तारादत्त गैरोला

श्री कुलानन्द बड़थ्वाल

श्री महेशानन्द नौटियाल

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

श्री चन्द्रकुंवर बर्त्वाल

श्री सत्यशरण रतूड़ी

श्री आत्माराम गैरोला

श्री श्रीदेव सुमन

श्री कलमसिंह नेगी

श्री छवाणसिंह नेगी
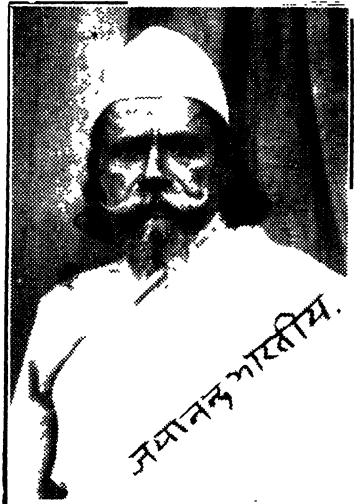
श्री जयानन्द भारतीय

श्री गोविन्द वैष्णव।

श्री नारायणदास वैष्णव।
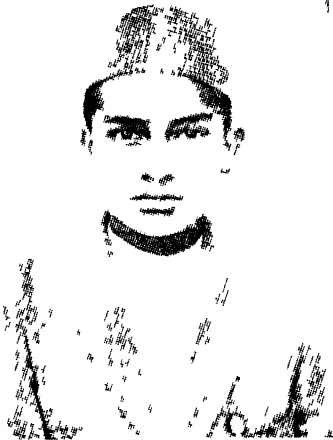
।श्री महेशचन्द्र शर्मा।

श्री बलभद्रसिंह
नेगी

श्री अमरसिंह
रावत
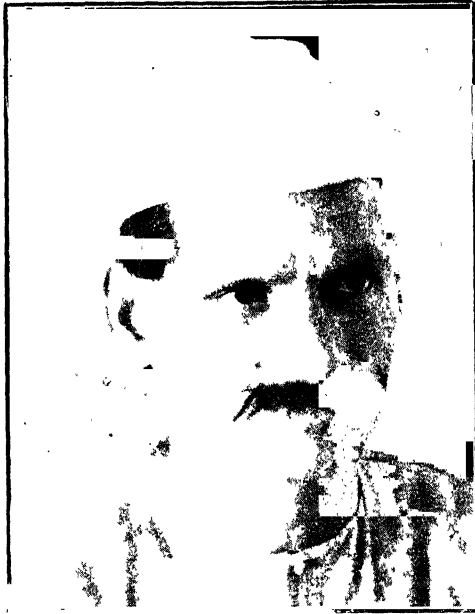
श्री घनानन्द खंडूड़ी

सादर समर्पित

स्नेहमयी मांजी और आदरणीय पिताजी को

पुनीत स्मृति में—

'मांजी' श्रीमती बुद्धिमती का जन्म मयालगांव, पट्टी तलाई, में हुआ था; १६ मार्च, सन १६३६ ई० को लगभग ६० वर्ष की आयु में उनका देहावसान हुआ !

'पिताजी' श्री गोपालसिंह रावत का जन्म ६ मई, सन १८७४ ई० को भौंराड, पट्टी सावली, में हुआ था। उन्होंने इंट्रेंस की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद सकारी नौकरी की और सन १६३४ में सब-रजिष्ट्रार के पद से पेंशन पर गये; आखिर १३ नवम्बर, सन १६५२ ई० को उनका लगभग ७६ वर्ष की आयु में देहावसान हुआ !

आशा है कि इस पुस्तक के प्रकाशन से उनकी दिवंगत आत्माओं को कुछ सुख मिलेगा।

विनीत—भक्त

चण्डिकोपासक श्री मोलागार

प्रथम भाग

—✤✤✤✤—

महाराज कनकपाल के आगमन से महाराज
सुदर्शनशाह के शासन-काल तक

प्रथम खण्ड

(१) महाराज कनकपाल

(निधन-तिथि—सन् ८६६ ई० के लगभग)

गढ़वाल का भूतकाल एक ऐसे गाढ़े आवरण से आच्छादित है कि कोई भी तथ्य स्पष्टतया दृष्टिगोचर नहीं होता। वायु-पुराण, केदारखण्ड आदि ग्रन्थों तथा चीनी यात्री ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण से अनुमान लगाने का कुछ मसाला मिलता है, लेकिन उनके आधार पर किसी प्रकार का क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं होता। अब तक प्राप्त सामग्री की छानबीन करके गढ़वाल के प्रारम्भिक इतिहास की जो मुख्य घटनायें ज्ञात होती हैं, वे इस प्रकार हैं—

ऋग्वेद-काल में यहां आर्यों की एक शाखा त्रित्सु का निवास था। महाभारत-काल में यह इलाक़ा पांचाल देश का एक भाग था; वह पहिले कौरवों के हिस्से में आया और फिर पांडवों को मिला; महाभारत के युद्ध में यहां से भगदत्त नाम के एक राजा भी सम्मिलित हुए थे। मौर्य-काल में यहां भी बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ और ग्रीक विद्वानों के संसर्ग से ज्योतिष तथा स्थापत्य-

कला की उन्नति हुई। सम्राट कनिष्क के समय में यहां के राजा उनके आधीन थे। गुप्त-काल में यह प्रदेश उस साम्राज्य का एक अंग था। सन् ६३४ में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने यहां एक उपजाऊ तथा धनी इलाक़ा देखा था तथा इसकी राजधानी (सम्भवतया ब्रह्मपुर ?) को काफी समृद्ध तथा घना बसा हुआ पाया था। आठवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जगद्गुरू श्री शंकराचार्य ने सारे भारतवर्ष में धार्मिक विजय की अपनी दुन्दुभी बजाते हुए यहां प्रवेश किया तथा बौद्ध-धर्म को सदा के लिये समाप्त करके नवीन हिन्दू-धर्म की स्थापना की; उनके आगमन से इस प्रदेश का धार्मिक महत्व बढ़ा; श्री केदारनाथ पुरी में उनकी समाधि अभी तक विद्यमान है।

जब गढ़वाल के प्रारम्भिक इतिहास के सम्बन्ध में इतनी ही घटनायें ज्ञात हों, तब यह कैसे पता लग सकता है कि जिन विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से वर्तमान गढ़वाल-समाज का निर्माण हुआ है वे कौन थीं और कहां से कब तथा क्यों यहां आईं ? फिर भी तीन प्रमुख श्रेणी के लोग यहां विद्यमान प्रतीत होते हैं—डोम (शिल्पकार); खसिया और सनातनी हिन्दू। डोमों (शिल्पकारों) के प्रारम्भ तथा प्रगति के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट ज्ञात नहीं होता; मि० एटकिनसन आदि लेखकों के अनुसार वे ही इस प्रदेश के मूल निवासी हैं। खसियों के विषय में भी पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते; फिर भी यह स्पष्ट है कि ईसा की आठवीं-नवीं शताब्दी में उन्होंने गढ़वाल की चोटियों पर बावन गढ़ों की स्थापना कर ली थी और इस प्रकार छोटी-छोटी ठकुराइयों के अधिपति बन गये थे। लेकिन आपस में अनवरत विद्वेष और संघर्ष होते रहने के कारण वे इस प्रदेश में शान्ति व सुव्यवस्था क़ायम नहीं कर पाये। यह कार्य सनातनी हिन्दुओं ने किया। आठवीं-नवीं शताब्दी से पहिले भी ये लोग अवश्य

ही भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों से तीर्थ-यात्रा आदि के लिये यहां आते रहे होंगे; लेकिन उन दिनों तथा उसके बाद तो उनका आगमन काफ़ी बड़ी संख्या में होने लगा; परिणामत: सारा गढ़वाल उनके अधिकार में आ गया और वर्तमान गढ़वाल समाज की नींव पड़ी।

सनातनी हिन्दुओं के आगमन की इस कहानी में महाराज कनकपाल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग है; क्योंकि उनके द्वारा चांदपुरगढ़ में जिस राज्य की स्थापना की गई थी उसका विस्तार धीरे-धीरे ऐसा बढ़ा कि यह सारा प्रदेश उसकी छत्रछाया में आ गया और अभी कुछ वर्ष पूर्व तक टिहरी-गढ़वाल में उनके वंशज सिंहासनासीन थे।

उनके गढ़वाल-आगमन के बारे में विभिन्न लेखकों ने विभिन्न तिथियां दी हैं। मि० एटकिनसन ने उनका उल्लेख मात्र कर दिया है कि वे गुजरात से यहां आये थे और भिलंग के राजा सोनपाल की एकमात्र पुत्री से विवाह करके चांदपुरगढ़ के अधिकारी हुए। डा० पातीराम ने भी इसी बात को दुहराया है। श्री हरिकृष्ण रतूड़ी ने इस विषय पर विस्तार के साथ लिखा है और सिद्ध किया है कि कनकपाल धारा नगरी से यहां आये थे; वह उन दिनों गुजरात में सम्मिलित थी और बाद को मालवा में शामिल हुई। लेकिन तारीख़ के बारे में अभी तक निश्चित निर्णय नहीं हुआ है।

टिहरी-राज्य-वंशावली के अनुसार वे ५ गते वैसाख, सम्वत् ७४५ वि०, तदनुसार अप्रैल, सन् ६८८ ई० के दिन चांदपुरगढ़ की गद्दी पर बैठे। जनरल कनिंघम के अनुसार चांदपुरगढ़ की स्थापना सन् ११५६ ई० में हुई थी। लेकिन इन दोनों तिथियों के लिए कोई निर्णयात्मक प्रमाण उन्होंने प्रस्तुत नहीं किया है। इसके विपरीत श्री हरिकृष्ण रतूड़ी सम्वत् ६४५ वि०, तदनुसार

सन् ८८८ ई० मानते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक शिलालेख का उल्लेख किया है जो चांदपुरगढ़ में पाया गया था। उसमें लिखा है:—

"सायकाब्धि नव सम्मित वर्षे।
विक्रमस्य विधु वंशज पूज्यः॥
श्री नृपः कनकपाल इहाप्तः।
शौनकर्षि कुलजः प्रमरोयम्॥"

इस शिलालेख के अनुसार उनकी राज्यारोहण-तिथि सम्वत् ९४५ वि० निकलती है। श्री रतूड़ी ने मालवा का इतिहास देकर यह भी बतलाया है कि सम्वत् ७४५ वि० में तो धारा नगरी में प्रमर वंश का राज्य ही नहीं था। इसके अतिरिक्त अधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि सनातनी हिन्दुओं का आगमन तथा श्री बद्री-केदार की यात्रा का ज़ोर जगद्गुरु श्री शंकराचार्य के धर्म-प्रचार के बाद ही बढ़ा होगा; और अब तक प्राप्त सामग्री के आधार पर उनका समय ईसा की आठवीं शताब्दी का अंतिम भाग ही निश्चित होता है। इस हिसाब से भी महाराज कनकपाल का नवीं शताब्दी से पहिले गढ़वाल आना सम्भव नहीं प्रतीत होता।

इनका गढ़वाल-आगमन

अतः अब तक जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध हुई है उसके अनुसार महाराज कनकपाल का जीवन-विवरण इस प्रकार है—

पँवारों के प्राचीन शिलालेख तथा टॉड राजस्थान के अनुसार अग्नि से अग्नि-वंश की उत्पत्ति हुई; उसकी चार प्रमुख शाखाओं में से ही पँवार (अर्थात प्रमर) जाति एक थी। इसी जाति का एक राजा वाक्पति था, जो सन् ८७५ में धारा की गद्दी पर बैठा था। हमारे चरितनायक उस राजा के सौतेले छोटे भाई थे।

यद्यपि इन्होंने सभी राजकीयों विषय में शिक्षा पाई थी तथा

उनमें यथेष्ट निपुणता प्राप्त कर ली थी; तथापि स्वभावतः आध्यात्मिक भावना के व्यक्ति होने के कारण इन्हें राजकार्य से कुछ अरुचि-सी हो गई। परिणामतः एक ब्रह्मचारी साधु से दीक्षा लेकर ये उसके शिष्य हो गये और वेदान्त आदि धर्मग्रन्थों का अध्ययन करने लगे। इस अध्ययन के फलस्वरूप उस युवावस्था में ही इनमें वैराग्य की सी भावना जाग्रत हो गई। लेकिन उसी बीच उस वेदान्ती गुरु का देहान्त हो गया और ये कुछ मित्रों के साथ तीर्थाटन को चल दिये। सन् ८८७ ई० में जब अनुमानतः इनकी अवस्था २५ वर्ष की थी, ये घर से निकल पड़े और मित्रों सहित हरिद्वार पहुँचे। वहां इन्होंने कुछ समय निवास किया और श्री बद्रीनारायण धाम की यात्रा करने का विचार कर ही रहे थे कि एक महत्वपूर्ण घटना घटित हुई।

चांदपुरगढ़ में उन दिनों एक राजा थे भानुप्रताप। उनके कोई पुत्र नहीं था; केवल दो कन्याएँ थीं। बड़ी कन्या का विवाह तो उन्होंने कुमाऊँ के राजकुमार राजपाल से कर दिया था; लेकिन छोटी कन्या के विषय में उन्हें चिन्ता थी और वे कुछ निश्चित नहीं कर पाए थे। राजा भानुप्रताप श्री बद्रीनाथ की भूमि के अधिपति थे और स्वभावतया उनके अनन्य उपासक थे। कहते हैं कि एक रात स्वयं श्री बद्रीनाथ जी ने स्वप्न में आकर उनसे कहा कि "धारा-नरेश मेरी यात्रा के लिये आया हुआ है, हरिद्वार जाकर लिवा ला और मेरे दर्शन कराने के पश्चात अपनी कन्या उसे व्याह दे। उसी से आगे यह राजवंश चलेगा।" इस सम्बन्ध में श्री रतूड़ी ने एक अज्ञात ग्रन्थ से कुछ श्लोक भी उद्धृत किये हैं। पर अधिक सम्भावना यह है कि यातायात की उन दिनों अधिक कठिनाइयां थीं; इसलिये श्री बद्रीनारायण की यात्रा के लिये मैदानों से जो लोग आया करते थे, वे पहिले अपने-अपने राजाओं के द्वारा यहां के राजा को सूचना देते थे; और जब यहां के राजा रक्षकों व पथ-प्रदर्शकों

का प्रबन्ध कर देते थे, तब यात्री लोग हरिद्वार से उनके साथ आगे बढ़ते थे। विशेषकर कुम्भ के वर्ष इस प्रकार के सामूहिक आयोजन किये जाते थे। सम्भवतया इसी प्रकार राजा भानुप्रताप को इन राजकुमार के हरिद्वार आने तक की सूचना मिली हो।

अतः राजकुमार कनकपाल की यात्रा व रक्षा आदि का उन्होंने विशेष प्रबन्ध किया और स्वयं भी इनके साथ श्री बद्रीनारायण धाम की यात्रा की। यात्रा की समाप्ति पर जब सब लोग वापिस लौटे तो राजा भानुप्रताप ने राजकुमार से अपनी इच्छा प्रकट की। उस बीच इस पर्वतीय प्रदेश के प्राकृतिक सौंदर्य ने इनका मन विमोहित कर लिया था तथा साथ ही उस राजकन्या के सौंदर्य ने भी इन्हें अपनी ओर आकर्षित किया था। अन्त में सब सोच-विचार कर इन्होंने उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और राजकन्या से विवाह करके ये चांदपुरगढ़ में ही रहने लगे।

राजा भानुप्रताप बृद्ध हो चुके थे और उन्होंने यह भी देखा कि कनकपाल एक सुयोग्य शासक तथा चतुर राजनीतिज्ञ हैं; इसलिए संवत् ६४५ वि०, तदनुसार सन ८८८ ई० में एक शुभ दिन उन्होंने इन्हें अपनी राजगद्दी पर बिठाया; और अपने आप अपनी रानी समेत वानप्रस्थी होकर श्री बद्रीनाथपुरी में रहने लगे; वहां कुछ वर्षों तक आत्मज्ञान की खोज में प्रवृत्त रहने के बाद वे पंचतत्व को प्राप्त हुए।

× × ×

ये राजा भानुप्रताप कौन थे—यह भी अभी तक पूर्णतया निश्चित नहीं हो पाया है। एक विचारधारा के अनुसार वे यहाँ के बावन खसिया गढ़पतियों में से एक प्रतिष्ठित गढ़पति थे। इसके समर्थन में प्रसिद्ध गढ़वाली कहावत—"तोपवाल की तोपताप, चौंड्याल को राज"—पेश की जाती है। इस लोकोक्ति के अनुसार चांदपुरगढ़ के दो तरफ दो गांव थे—तोप और चौंड; और इन

गांवों के लोग इस गढ़ पर अधिकार जमाने के लिये हमेशा आपस में लड़ते रहते थे। एक मौक़े पर ऐसा हुआ कि तोप गांव के लोग चारों तरफ़ से घेरा डाले पड़े थे और यह समझ रहे थे कि उन्हें गढ़ पर क़ब्ज़ा करने में थोड़ी ही देर है, कि इतने में चौंड गांव के लोग, जो ताक लगाये बैठे थे, एक नये रास्ते से ऊपर चढ़ गये और वहां अपनी विजय-पताका फहरा दी। बेचारे तोप वाले "तोप-ताप" ही करते रह गये और चौंड वालों का राज्य क़ायम हो गया। इस विचारधारा के अनुसार राजा भानुप्रताप उन्हीं चौंड वालों के वंशज "चौंड्याल ठाकुर" थे।

इसके विपरीत एक कहानी इस प्रकार है कि किसी क्षेमराज नामक राजा ने, जो महाराज परीक्षित के पुत्र जन्मेजय की चौद-हवीं पीढ़ी में थे, दिल्ली का सिंहासन प्राप्त किया। उनके मंत्री विसर्प ने राजा को मार कर राज्य पर अधिकार कर लिया। उक्त राजा की विधवा रानी, जो कि गर्भवती थी, एक दासी के साथ चुपचाप वहां से चल दी और अनेक कष्ट सहने के बाद श्री बद्रि-काश्रम पहुँच कर ऋषियों की शरण में रहने लगी। वहीं उसका पुत्र राजपाल पैदा हुआ। ऋषियों ने उसे शस्त्र व शास्त्र की शिक्षा देकर इस प्रदेश का राजा घोषित कर दिया। उसी समय कुमाऊँ के राजा सुखवन्त ने चढ़ाई कर दी; पर सौभाग्यवश विक्रम नाम के राजा ने, जो यात्रा के लिये आया हुआ था, सुखवन्त को मार भगाया। राजपाल का पुत्र अनंगपाल हुआ; उसके एक ही कन्या हुई, जिसका विवाह उसने राजा विक्रम के ही वंश के एक राजकुमार से किया। उस कन्या के पुत्र पृथ्वीराज को अनंगपाल ने अपना उत्तराधिकारी बनाया। उसी अनंगपाल की कुछ पीढ़ियों में भानुप्रताप राजा हुये थे।

शासन की मुख्य घटनाएँ

ख़ैर; यह निश्चित है कि महाराज कनकपाल सन् ८८८ ई० में चांदपुरगढ़ के सिंहासन पर आसीन हुये। उन दिनों वह एक छोटा-सा राज्य था; यद्यपि वह अन्य ठकुराइयों से अवश्य ही बड़ा रहा होगा। उसके महत्व का एक कारण यह भी था कि चांदपुरगढ़ का अधिपति श्री बद्रीनाथ की भूमि का भी अधीश्वर माना जाता था। तथापि एक ओर कत्यूरियों के वंशज जोशीमठ तक पहुँच कर यात्रा में विघ्न डाला करते थे, और दूसरी ओर खसिया ठकुराइयों का पारस्परिक संघर्ष चल रहा था।

महाराज कनकपाल एक शासन-पटु व्यक्ति थे। उन्होंने सर्व-प्रथम चांदपुरगढ़ का पुनर्निर्माण कराया और उसे मज़बूत बनाया। उसके भग्नावशेष अब भी आदिबद्री से दो मील दूर कर्णप्रयाग की दिशा में सड़क के पास ही विद्यमान हैं और उस समय की स्थापत्य-कला का दिग्दर्शन कराते हैं। इसके बाद उन्होंने पास-पड़ोस के गढ़पतियों को अपने आधीन किया—किसी से बिना युद्ध किये ही मित्रता कर ली; कुछ को सीधे युद्ध में पराजित किया; और शेष को आपस में ही भेदनीति से लड़वाकर अपने वश में किया। इस प्रकार कुछ ही वर्षों के अन्दर समस्त उत्तरी गढ़वाल में उन्होंने अपना प्रभुत्व जमा लिया। तब रह गये कत्यूरा सर्दार। ये लोग पहिले जोशीमठ के शासक रह चुके थे और फिर कुमाऊँ के कार्ति-केयपुर (वर्तमान कत्यूर) में अपनी राजधानी बनाकर रहने लगे थे। लेकिन तब भी वे समय-समय पर ग्वालदम के रास्ते गढ़वाल में घुस आते और कभी-कभी तो ऊपर ही ऊपर जोशीमठ तक भी बढ़ जाते थे। उनका मुकाबला करने के लिये महाराज कनकपाल ने बधाण, दशौली और पैनखंडा इलाक़ों के गढ़पतियों तथा वहां की प्रजा को सहायता पहुँचाई और कत्यूरियों को सदा के लिये

गढ़वाल की सीमा से हटा दिया । इस संगठन-शक्ति व बुद्धि-चातुर्य के कारण उपरोक्त तीनों इलाक़ों ने इनकी आधीनता स्वीकार कर ली।

इस प्रकार समस्त उत्तरी गढ़वाल को अपने अधिकार में कर लेने के बाद इन्होंने अपने समाज-संगठन की ओर ध्यान दिया। कुछ मित्र तो इनके साथ ही आये थे; उनके अतिरिक्त इन्होंने अपने मूल देश से अपने कुल-गुरु तथा कतिपय अन्य व्यक्तियों को भी बुलाया। उनके यहां के एक राजकुमार ने पवित्र उत्तराखण्ड में एक नया राज्य स्थापित किया है—यह सुनकर कई अन्य लोग भी चले आये। इनके सुप्रबन्ध के कारण श्री बद्रीनारायण धाम की यात्रा पहिले से अधिक निरापद तथा सरल हो गई थी; इस कारण भारतवर्ष के विभिन्न भागों से यात्री अधिकाधिक संख्या में यहां आने लगे; और उनमें से भी कई लोग यहीं बसने लगे। उन सबको इन्होंने चांदपुरगढ़ के आसपास के गांवों में बसाया और उनके सहयोग व परामर्श से राज-कार्य करने लगे। वर्तमान अधिकांश उच्चवंशीय ब्राह्मण व क्षत्रिय परिवारों के पुरखा उसी समय के आये हुए हैं; और बाद को भी आते रहे। इस प्रकार गढ़वाल राज्य की स्थापना करने के साथ-साथ ये वर्तमान गढ़वाली समाज के भी संस्थापक तथा निर्माता सिद्ध हुए।

महाराज कनकपाल ने कितने वर्ष शासन किया और कब उनकी मृत्यु हुई—इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता। हां, टिहरी राज्य-वंशावली के अनुसार उन्होंने ११ वर्ष तक राज्य किया और ५१ वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हुई। लेकिन ऊपर जो वर्णन दिया गया है उससे ये बातें मेल खाती प्रतीत नहीं होतीं। अतः गढ़वाल-राज्य के इन महान संस्थापक के देहावसान के बारे में कुछ निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता। शायद भविष्य में और अधिक सामग्री उपलब्ध होने पर कोई इतिहासकार इस पर प्रकाश डाल सकें।

(२) महाराज अजयपाल

(निधन-तिथि—सन १३७६ ई०)

महाराज कनकपाल ने चांदपुरगढ़ में जिस राज्य की स्थापना की थी, उनके वंशधरों ने उसका और भी अधिक विस्तार किया। लेकिन खेद की बात है कि ३६ पीढ़ियों तक का कोई निश्चित विवरण उपलब्ध नहीं होता। केवल इतना ही पता लगता है कि महाराज कनकपाल से सतरहवीं पीढ़ी पर महाराज अनन्त-पाल (प्रथम) की राजधानी कुछ दिनों मलुवांकोट में, इक्कीसवीं पीढ़ी पर महाराज विक्रमपाल की राजधानी अमुवाकोट में और चौबीसवीं पीढ़ी पर महाराज सोनपाल की राजधानी भिलंग की घाटी में रही थी। उसी बीच बारहवीं शताब्दी में नैपाल के मल्ल राजाओं ने अपने गढ़वाल-आगमन के सिलसिले में, गोपेश्वर तथा बाड़ाहाट (उत्तरकाशी) में अपने विजय-स्तम्भ खड़े किये, लेकिन यह स्पष्ट रूप से पता नहीं लगता कि उन्होंने गढ़वाल के उत्तरी भाग में आकर उस इलाके को विजित कर लिया था, अथवा केवल बौद्ध धर्म-प्रचार की विशुद्ध भावना से ही वे यहां आये थे। विजय-स्तम्भों की भाषा से तो धर्म-प्रचार की भावना ही दृढ़ होती है।

इसके अतिरिक्त स्वयं टिहरी-राज्य-संग्रह के एक काग़ज़ से यह मालूम होता है कि सम्वत् १२७५ वि० (सन् १२१८ ई०) में नागपुर इलाके के कंडारागढ़ में राजधानी स्थिर हुई; अर्थात् उन दिनों कंडारागढ़ ही गढ़वाल का सर्वप्रमुख राज्य बन गया। उस पत्रक के अनुसार २५-३० पीढ़ियों तक गढ़वाल का राज उन्होंने "खाया" (अर्थात उपभोग किया)। उनके राज्य का विस्तार सहारनपुर जिले में स्थित मंगलौर तक था; वहां गढ़-नरेश की ओर से जो क़िला बनाया गया था वह इतना बड़ा था कि उसकी बाहरी

प्राचीर पर बावन बुर्जियां बनी हुई थीं।

इस विवरण से यह अनुमान लगता है कि चांदपुरगढ़ के पंवार-वंशीय राजाओं का भाग्य कभी प्रबल व कभी निर्बल होता रहा और तदनुसार उनकी राज्य-श्री बढ़ती व घटती रही। सम्भवतया वे परिस्थितिवश अपनी राजधानियों को भी बदलते रहे। तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि चांदपुरगढ़ का राज्य अपना अस्तित्व क़ायम रखे रहा और लगभग ४५० वर्षों तक महाराज कनकपाल के वंशज चांदपुरगढ़ तथा गढ़वाल के एक बड़े इलाक़े के अधिपति रहे। ऐसी स्थिति में उनकी सैंतीसवीं पीढ़ी पर महाराज अजयपाल का जन्म हुआ और उन्होंने अपने पराक्रम तथा बुद्धि-चातुर्य से अखण्ड व पूर्ण स्वतन्त्र गढ़वाल राज्य की नींव डाली।

लेकिन दुर्भाग्य से उनकी तिथियों का भी अभी तक निश्चयात्मक ढंग पर निरूपण नहीं किया जा सका है। श्री हरिकृष्ण रतूड़ी मानते हैं कि उन्होंने सन् १५०० से सन् १५१६ तक शासन किया; उसी बीच सन् १५१२ में वे देवलगढ़ में राजधानी लाये और फिर सन् १५१७ में श्रीनगर की स्थापना करके वहां अपनी राजधानी ले गये। इसके विल्कुल विपरीत श्री तारादत्त गैरोला ने "हिमालयान फ़ोकलोर" नामक अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है कि देवलगढ़ के एक मन्दिर के एक शिलालेख के अनुसार महाराज अजयपाल के जन्मोत्सव के अवसर पर सन् १२५४ ई० में उस मन्दिर को तत्कालीन महाराज की ओर से कुछ भूमि दान की गई थी। उपरोक्त दोनों सम्मतियों के प्रतिकूल भारतीय पुरातत्व-विभाग के डाइरेक्टर-जनरल जनरल कनिंघम की राय से सहमत होते हुए मि० एटकिनसन सन् १३५८ ई० में श्रीनगर की स्थापना मानते हैं; और वे लिखते हैं कि उन्होंने केवल १२ वर्ष सन् १३७० ई० तक ही राज्य किया। यद्यपि

मि० एटकिनसन ने कोई विशेष प्रमाण अपनी सम्मति की पुष्टि में नहीं दिया है, तथापि उनके कथन का कुछ समर्थन टिहरी-राज्य-वंशावली से होता है। उसके अनुसार महाराज अजयपाल का जन्म सन् १३३० में हुआ; सन १३५८ में २८ वर्ष की अवस्था में वे राजगद्दी पर बैठे और ३१ वर्ष राज्य करके ५६ वर्ष की आयु में सन् १३८६ ई० में उनका देहावसान हुआ। चूंकि प्रथम दो सम्मतियों के साथ कोई और प्रमाण नहीं है, और चूंकि अन्तिम दो सम्मतियां परस्पर मिलती-जुलती हैं; इसलिये फ़िलहाल उन्हें विश्वास-योग्य मानकर महाराज कनकपाल का जीवन-चरित्र उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है।

राज्यारोहण तथा राज्य-विस्तार

महाराज कनकपाल से छत्तीसवीं पीढ़ी पर महाराज आनन्द-पाल (द्वितीय) चांदपुर गढ़ की राजगद्दी पर विराजमान हुए। उन्हीं के घर उनके ज्येष्ठ राजकुमार के रूप में हमारे चरितनायक का सन् १३३० ई० के एक शुभ दिन जन्म हुआ। बचपन से ही इनमें प्रतिभा थी; इसलिये शीघ्र ही इन्होंने सब शस्त्रों तथा शास्त्रों की जानकारी प्राप्त कर ली और अपनी योग्यता के कारण अपने पिता को राज-कार्य में सहायता देने लगे। उनके जीवन-काल में ही इन्होंने कई युद्धों में वीरता दिखाकर यश प्राप्त कर लिया था और गढ़वाल के सब गढ़ों में इनकी वीरता, योग्यता और सज्जनता की कहानियां पहुँच चुकी थीं। आख़िर सन् १३५८ में महाराज आनन्दपाल का देहान्त हो गया और उसी वर्ष २८ वर्ष की पूर्ण यौवनावस्था में ये चांदपुरगढ़ के सिंहासन पर आसीन हुए।

अब राज्य का भार तो उन्होंने अपने कन्धों पर ले लिया था, लेकिन ये इतने से ही सन्तुष्ट होने वाले व्यक्ति नहीं थे। ये एक

दूरदर्शी राजनीतिज्ञ थे; और इसलिये इन्होंने जान लिया था कि जब तक बावन ठकुराइयों में बंटी हुई गढ़वाल की शक्ति को संघ-बद्ध नहीं किया जाता, तब तक उत्तराखण्ड का यह प्रदेश कभी भी उन्नति नहीं कर सकेगा। वे यह भी जानते थे कि उन ठकुराइयों में आन्तरिक शक्ति कुछ भी नहीं रही है, सैंकड़ों वर्षों के पारस्परिक विद्वेष और कलह के कारण उनकी शक्ति जर्जरित हो चुकी है; और इसलिये थोड़ा-सा भी साहसपूर्वक प्रयत्न करने से यह कार्य सिद्ध हो सकता है। वे इसी विचार में निमग्न थे और अपना भावी कार्यक्रम बना ही रहे थे कि चंपावतगढ़ राज्य के तत्कालीन चंद-वंशीय नरेश गढ़वाल के सीमान्त प्रदेश बधाण पर चढ़ आये। महाराज अजयपाल ने अपनी सेना लेकर शत्रु का मुक़ाबला किया; लेकिन सफल नहीं हो सके; परिणाम यह हुआ कि इनकी सेना का अधिकाँश भाग मार डाला गया और स्वयं अपनी प्राण-रक्षा के लिये इन्हें युद्धस्थल से भागना पड़ा।

इस अप्रत्याशित पराजय से ये बहुत दुखित हुए और सोचने लगे कि क्या भावी विजय के सब मन्सूबे केवल स्वप्नवत ही सिद्ध होंगे? उस निराशा के अवसर पर इन्होंने एक पांव पर खड़े होकर भगवान भोलानाथ का स्मरण किया। रणक्षेत्र के समीप ही ऊँचे पर्वत के एक शिखर पर कई दिनों तक इन्होंने आराधना की। एक कथानक के अनुसार लोहबा इलाके में स्थित पनुवाखाल के नीचे एक "ओड्यार" (गुफा) में इन्होंने आराधना की थी। आख़िर उन्हें उस प्रकार अचल व अटल देखकर भगवान भोलानाथ बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने सत्यनाथ भैरव के रूप में राजा को दर्शन दिये। उन्होंने राजा से कहा कि "मेरे कन्धों पर बैठे जा।" जब अजय-पाल उनके कन्धों पर बैठ गये, तब शिव जी ने अपना शरीर बढ़ाया। धीरे-धीरे वे इतने ऊँचे हो गये कि इनकी दृष्टि उत्तर की ओर श्वेत हिमालय तक और दक्षिण की ओर नगीना (ज़िला

बिजनौर) तक, पूर्व की ओर काली (शारदा) नदी तक और पश्चिम की ओर सपादलक्ष (शिवालिक) तक पहुँच गई; और वह विस्तृत इलाक़ा इन्हें स्पष्ट दिखाई देने लगा। पर इतनी ऊँचाई तक पहुँच जाने पर ये घबरा उठे; आख़िर मनुष्य ही तो थे; इसलिये नीचे उतार देने का अनुरोध किया। इस पर शिवजी ने फिर अपना पहिला शरीर धारण कर लिया और कहा—"हे राजा, जहां तक तेरी दृष्टि गई है, वहां तक निस्सन्देह तेरा राज्य हो जायेगा; इसलिये जा और अपनी सेना लेकर शत्रु से लड़।"

उपरोक्त वरदान के बाद महाराज अजयपाल को अपनी विजय पर अटल विश्वास हो गया। इन्होंने अपनी बची-खुची सेना एकत्र की और एक ऐसे शुभ अवसर पर अचानक शत्रु पर धावा बोल दिया कि उसके पांव उखड़ गये और वह भाग चला। ये भी अपनी सेना लेकर उसके पीछे गये और शत्रु-राज्य का कुछ भाग भी अधिकार में कर लिया। अन्त में चंपावतगढ़ के राजा ने इनसे संधि कर ली और ये वापस चांदपुरगढ़ लौट आये।

कुछ दिन विश्राम करने के बाद इन्होंने प्रति वर्ष चार-पांच गढ़पतियों पर विजय प्राप्त करने का कार्यक्रम बनाया। सैकड़ों वर्षों के पारस्परिक युद्ध के कारण वे स्वयं ही शिथिल और जर्जर हो चुके थे; उस पर अनेक गढ़पति इनके बल-पराक्रम की गाथा सुनकर स्वयं ही इनसे आ मिले तथा कइयों को इन्होंने अपनी नीतिज्ञता द्वारा अपनी ओर कर लिया; तथा शेष जो बचे उनको अपने पौरुष से आधीन किया। इस प्रकार लगभग दस वर्षों में इन्होंने उत्तर व मध्य गढ़वाल के सब ठकुरी राजा अपने आधीन कर लिये। उस विजय-यात्रा में इन्हें उत्तर ही उत्तर भिलंग-बांगर तक जाना पड़ा था। सन १३६६ ई० में इन्होंने बशरंबु पट्टी में स्थित कोली गढ़ को कोला नेगियों के अन्तिम शासक झगड़सिंह से विजित किया था। उससे आगे बढ़कर शिमला के पर्वतों में स्थित राईगढ़ को

भी उन्होंने जीता था और वार्षिक कर का वादा करा के उसे नाम-मात्र की स्वाधीनता दे दी थी।

उत्तर गढ़वाल की उस विजय के सिलसिले में इन्हें कण्डारा-गढ़ (नागपुर) के कंडारी गुसाईं राजा नरवीरसिंह पर चढ़ाई करनी पड़ी थी। वह सारे नागपुर तथा कालीफाट इलाके का स्वामी था। उसने इनकी आधीनता स्वीकार नहीं की और लड़ने को तैयार हो गया। कहते हैं कि उसके पास एक पारस-मणि थी, जो कि जौ के दाने के बराबर थी। यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि हर फ़सल में खेती के बाद प्रजा के लोग अपने लोहे के औजार गढ़ में लाते और राजा उन्हें पारस-मणि से छूकर सोने का बना देता। इस कारण भी उसे बहुत अभिमान था। लेकिन उसकी सेना बहुत शिथिल थी। उसके सिपाही थे—"कण्डारा के पैक और फेगू के नैक"। उन्होंने राजा को खूब दिलासा दिया और अपनी वीरता का प्रदर्शन करने के लिये अपनी 'किल्मोड़े' की तलवारों से राजा का केलों का बागीचा काट गिराया। लेकिन जब महाराज अजय-पाल की सेना गढ़ के पास आगई, तो 'कंडारा के पैक' तो भाग खड़े हुए और 'फेगू के नैक' हाथों में ताल-मजीरा लेकर आगे बढ़ आये और इनका गुणगान करने लगे! बेचारा कंडारी राजा निराश होकर अपनी पारस-मणि के साथ भाग पड़ा और नीचे मन्दाकिनी में कूद कर आत्म-हत्या कर ली।

इस प्रकार उत्तरी गढ़वाल के गढ़पतियों को अपने आधीन कर लेने के बाद महाराज अजयपाल ने दक्षिणी गढ़वाल की ओर ध्यान दिया। जैसा कि "आधौ असवाल, आधौ गढ़वाल" उक्ति से सिद्ध होता है, दक्षिणी इलाके में असवाल ठाकुरों का बोलबाला था। उनके अतिरिक्त गोरला, सजवाण, नरवाण, पयाल और रिखोला आदि भी वहां के प्रमुख गढ़पति थे। उन्हें अपने आधीन करने का सौभाग्यवश इन्हें शीघ्र एक अनुकूल अवसर मिल गया।

पहिले तो वे आपस में ही खूब लड़ा करते थे। दूसरे उन दिनों बिजनौर आदि के मैदानों में मुसलमानों का राज्य हो चुका था और तराई-भावर का इलाका तो डाकुओं का अड्डा ही बना हुआ था। ये मुसलमान सर्दार और डाकू कभी-कभी हमले कर दिया करते थे और दक्षिणी गढ़वाल के सीमावर्ती गांवों को लूट ले जाया करते थे। उन इलाकों की प्रजा की रक्षा करना उनका कर्तव्य था, लेकिन आपसी झगड़ों के कारण वे शिथिल हो गये थे और उन हमलों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। उस कमज़ोरी से लाभ उठाकर इन्होंने उन गढ़पतियों के पास अपना यह प्रस्ताव भेजा कि ये अपनी सेना भेजकर उनकी सहायता करना चाहते हैं; और कुछ समय तक सोच-विचार करने के बाद गढ़पतियों ने उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। परिणाम यह हुआ कि महाराज अजयपाल की सेनाओं ने गढ़वाल की सीमा के अन्दर से उन लुटेरों और डाकुओं को खदेड़ दिया। साथ ही भावी आक्रमणों से रक्षा के उद्देश्य से उन्होंने कई गढ़ों को मजबूत बनवाया और उनमें अपनी फौजी चौकियां तैनात कर दीं; गुजड़ूगढ़, लंगूरगढ़ तथा महाबगढ़ उनमें अधिक प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार दक्षिणी गढ़वाल भी सहज ही इनके अधिकार में आ गया।

कफ्फू चौहान का बलिदान

उपरोक्त बुद्धिमत्तापूर्ण नीति से सारा गढ़वाल इनके अधिकार में आ गया। सन १३५८ में ये गद्दी पर बैठे थे। पहिला वर्ष चंपावतगढ़ के राजा से युद्ध करने में लगा था; दूसरा वर्ष चांदपुरगढ़ में विश्राम करने तथा तैय्यारी में लगा था; तथा बाद के कुल दस वर्ष इन्होंने गढ़पतियों को आधीन करने में लगाये थे। अब ये एक बड़े विस्तृत प्रदेश के शासक थे; इन्होंने अनुभव किया कि चांदपुर-गढ़ एक कोने में पड़ गया है और वहां से सारे राज्य का शासन

करना कठिन है, इसलिये सन १३७० ई० में अपनी राजधानी ये देवलगढ़ ले आये। उसके बाद ही इन्होंने दक्षिणी गढ़वाल के गढ़पतियों को अपने अधिकार में किया था। उसी बीच अलकनन्दा के बायें किनारे पर इन्हें एक अच्छी-सी विस्तृत जगह दिखाई पड़ी और वहीं इन्होंने अपनी स्थायी राजधानी बनाने का निश्चय किया। इधर वहां महल तथा बाज़ार का निर्माण होता रहा, उधर दक्षिणी गढ़पतियों के साथ भी ये राजनैतिक वार्ता चलाते रहे। आखिर सब निर्माण-कार्य पूरा हो जाने के बाद सन १३७५ में इन्होंने वहां अपनी राजधानी स्थापित की।

उस अवसर पर इन्होंने एक विशाल दर्बार किया और अपने "महाराज" होने का उत्सव मनाया। उस समय तक गढ़वाल के सब गढ़पति इनके आधीन हो चुके थे, इसलिये वे सब उत्साहपूर्वक श्रीनगर आये और उस उत्सव में सम्मिलित हुए। वह उत्सव क्या था, एक प्रकार का राजसूय यज्ञ था। लेकिन एकरण बांकुरा गढ़पति उस समय भी ऐसा था, जिसने इनको आधीनता स्वीकार नहीं की थी। उसकी कहानी प्रचलित पंवाड़े के अनुसार इस प्रकार है—

उदयपुर पर्गने की जुवा पट्टी में गंगा नदी के किनारे एक ऊँचे टीले पर 'उपुगढ़' स्थित था। उसका शासक उन दिनों चौहान वंशीय युवक कफ्फू चौहान था। उसे अपने गढ़ की स्वाधीनता प्राणों से भी प्यारी थी; और उसे दुख था कि दक्षिणी गढ़पतियों ने बिना लड़े कैसे महाराज अजयपाल की संरक्षता स्वीकार कर ली है। उसने उनके उत्सव में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। जब उसे दुबारा चेतावनी भेजी गई तो उसने लिख भेजा—"मैं पशुओं में सिंह की तरह और पक्षियों में गरुड़ की त ह हूँ; मैं किसी की भी आधीनता स्वीकार नहीं कर सकता।" परिणाम यह हुआ कि महाराज अजयपाल ने एक बड़ी सेना भेजकर चढ़ाई बोल दी।

शाम झुटपुटे का समय था कि अचानक पार गंगातट पर श्रीनगरी सेना का जमघट लग गया और इधर गंगा की गरजती तरंगों से संघर्ष करता हुआ उपुगढ़ अचल खड़ा था; सिर्फ़ एक झूला ही इस ओर आने का एकमात्र साधन था। माता ने झरोखे से नदी पार वह बड़ी फौज देखी तो अपने पुत्र से कारण पूछा। उसने कहा—"मां, राजा अजयपाल को हमारी स्वाधीनता खल रही है। बहुत से गढ़पति उनकी आधीनता स्वीकार कर चुके हैं; लेकिन मेरे गढ़ को तो अपनी आज़ादी प्यारी है !" माता ने समझाया कि "क्यों लड़ रहे हो ? तुम नहीं जीत सकोगे; इसलिये आधीनता क़बूल कर लो।" लेकिन उसने एक न मानी। रात को प्रियतमा से बातचीत हुई; उसने भी समझाया, लेकिन वह क्यों मानने लगा था ? आधी रात में पत्नी ने अनुभव किया कि कफ्फू अपने विस्तर पर नहीं है। उसी समय उसने एक धड़ाका सुना; झरोखे से झांक कर जो देखा तो पता लगा कि सामने का झूला गंगा के वक्षस्थल पर लोट गया है ! थोड़ी ही देर में उसने देखा कि कफ्फू अपनी उस करामात पर खुश होता हुआ लौट आया है।

सुबह तड़के दोनों ओर से युद्ध की तैयारी हो गई और मारू बाजे बजने लगे। माता रात भर देवी के मन्दिर में आराधना करती रहीं थीं और सूर्योदय के समय भी वहीं चिन्ताकुल पूजा में मग्न थीं। कफ्फू ने आकर चरण छुए; आशीर्वाद मिला—"मां; मेरे लाल की रक्षा करना !" कुछ देर बाद माता ने एक सहायक सर्दार देबू को बुलाकर कहा—"बेटा, यदि उपुगढ़ के भाग्य फूट ही जायं, तो पहिले ख़बर कर देना। जब हमारा गढ़पति ही नहीं रहेगा, तो हम भी नहीं रहेंगे। हमारे गढ़पति को आज़ादी प्यारी है, तो हम भी अपने जीते जी आधीनता स्वीकार नहीं करेंगे। अजयपाल उपुगढ़ की राख पर ही अधिकार कर सकता है —जीवित उपुगढ़ पर नहीं !"

उधर जब श्रीनगरी सेनापति ने देखा कि एकमात्र भूला कटा हुआ है तो वे बहुत उत्तेजित हुए। उन्होंने फ़ौरन थोड़ी ही दूरी पर एक नया भूला बनवाया और सेना लेकर उपुगढ़ को घेर लिया। इधर थोड़ी-सी सेना थी; सेना क्या थी—पागलों और स्वाधीनता के मतवालों का जुलूस था। भयंकर युद्ध हुआ; कफ्फू ने अपने घोड़े पर चढ़े हुए ऐसी वीरता से युद्ध किया कि अपने सामने के सब शत्रु-सैनिक तलवार के घाट उतार दिये। श्रीनगरी सेना में भगदड़ मच गई और मैदान साफ़ हो गया। कफ्फू खुशी-खुशी घर की ओर लौटा, पर देखता क्या है कि सारा गढ़ धरधरा कर जल रहा है। बात यह हुई कि जब कफ्फू शत्रु-सेना के बीच बहुत देर तक मार-काट मचाता रहा था और बड़ी देर तक बाहर नहीं दिखाई दिया तो देवू ने समझा कि माता की आशंका पूरी हुई और इसलिये उसने गढ़ पर वही खबर पहुँचा दी थी। अतः वह पहाड़ी ललनाओं का जौहर था! आग के शोले आकाश में पहुंच रहे थे, और कफ्फू बेसुध भूमि पर पड़ा हुआ सोच रहा था कि "जिस माता, जिस प्रियतमा और जिस उपुगढ़ के लिये मैंने यह दुस्साहसपूर्ण कार्य किया था, आखिरकार क्या उसका यही परिणाम होना था?"

जब उसे होश आया तो क्या देखता है कि वह बन्दी दशा में महाराज अजयपाल के समक्ष सैनिकों से घिरा हुआ है। महाराज ने उसे आश्वासन दिया कि "अगर आधीनता स्वीकार कर लो तो उपुगढ़ से भी बड़ा अधिपति बना दूँगा।" उसने फ़ौरन उत्तर दिया—"मैं स्वाधीनता खोकर सम्मान प्राप्त करना पसन्द नहीं करता।" महाराज को भी क्रोध आ गया, और कहा—"ओ स्वाधीनता के मतवाले, तुझे मेरे सामने सिर झुकाना ही पड़ेगा।" साथ ही उन्होंने सैनिकों को आदेश दिया कि "इसका सिर इस तरह से काटो कि मेरे पैरों पर गिरे।" उसी बीच कफ्फू ने दो

मुट्ठी भर बालू उठा कर फांक ली थी; और ज्योंही तलवार उसकी गर्दन पर पड़ी, उसने इस तरह पर अपने सिर को झटका दिया कि उसका सिर इनके पैरों की तरफ गिरने के बजाय पीछे की ओर जा गिरा; सिर्फ बालू के कुछ कण ही इनकी ओर आये !

इस अद्भुत साहस, वीरता और आत्म-सम्मान की भावना को देखकर महाराज आश्चर्य-चकित हो गये । उन्होंने सिंहासन से उतर कर मृतक कफ्फू के लिये सिर झुकाया और कहा—"वीर, तुम जीते, मैं हारा !" उनकी आज्ञा से कफ्फू की अर्थी बहुत धूम-धाम से सजाई गई; उसके साथ-साथ स्वयं महाराज अन्य कई गढ़पतियों और सेनापतियों के साथ पैदल चले; और गंगा-तट पर स्वयं अपने हाथों से उन्होंने चिता में आग लगाई । चिता की लपटों का धूमिल प्रकाश उस सन्ध्या को उपुगढ़ के भग्नावशेष पर पड़ रहा था; महाराज के साथ सब लोग शान्त खड़े थे और सब के मन में रह-रह कर यही भाव उठ रहा था—"वीर गया, पर वीरता शेष रह गई !!!"

उपरोक्त कहानी से ज्ञात होता है कि उन दिनों गढ़वाल के गढ़पति अपने गढ़ों की स्वाधीनता को कितना मूल्यवान समझते थे; और स्वयं महाराज के हृदय में उनके प्रति कितना आदर था ।

श्रीनगर की स्थापना और महत्व

इस प्रकार सन् १३७५ में महाराज अजयपाल ने श्रीनगर में राजधानी बसाई थी और वहां महल तथा बाज़ार का निर्माण कराके बाक़ायदा उनका उद्घाटन किया था । इस संबंध में एक प्रचलित गाथा इस प्रकार है कि एक दिन वे शिकार खेलते हुए उस भूमि पर पहुँचे, जहां पहिले के अनेक खण्डहर थे और खैर-वृक्षों का एक घना बन उगा हुआ था । वहां अचानक उनके एक शिकारी कुत्ते को एक ख़रगोश ने मार दिया । इस पर सबको आश्चर्य हुआ; लेकिन

रात को भगवती ने स्वप्न में कहा—"यह परम सिद्ध स्थान है; यहां अलकनन्दा के मध्य में एक शिला पर श्रीयंत्र है, जिससे इसका नाम श्रीक्षेत्र है। उसी के प्रभाव से एक निर्बल खरगोश ने एक कुत्ते को मार डाला। यह बात तेरे लिये अनिष्टसूचक नहीं है। तू इस स्थान में अपनी राजधानी स्थापित कर, और नित्य प्रति मेरे यंत्र का पूजन-अर्चन करता रह; तेरी सब बातें सिद्ध होंगी।" इस आदेश के अनुसार ही इन्होंने वहां राजधानी बसाई थी।

श्रीनगर की स्थापना के बारे में प्रचलित जनश्रुति और टिहरी-राज्य-संग्रह के अनुसार भी यह मालूम होता है कि १५ गते कार्तिक, संवत् १४१५ वि० (सन् १३५८ ई०) को महाराज अजयपाल के साथ लोहबा, चांदपुर, बधाण, पैनखंडा, व नागपुर की प्रजा श्रीनगर आई और वहां राजधानी की स्थापना की गई। लेकिन यह तारीख विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती; क्योंकि स्वयं टिहरी-राज्य-संग्रह के अनुसार इनकी राज्यारोहण तिथि सन् १३५८ है। उन दिनों राजधानी चांदपुरगढ़ में थी और राज्य कुछ अधिक शक्तिशाली नहीं था। अपने राज्य का विस्तार करने के लिये इन्हें कुछ वर्ष अवश्य लगाने पड़े होंगे और यह संभव नहीं प्रतीत होता कि राज्यारोहण के फौरन बाद ही ये श्रीनगर चले गये हों। श्री हरिकृष्ण रतूड़ी के अनुसार गद्दी पर बैठने के बारहवें वर्ष ये देवलगढ़ गए और सतरहवें वर्ष में इन्होंने श्रीनगर की स्थापना की। शासन-क्रम का यह ढंग अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक प्रतीत होता है। इस संबन्ध में एक विचारणीय बात यह भी है कि वह अनवरत संघर्ष का युग था। अतः उन दिनों राजधानी किसी पर्वत-शिखर पर किसी सुदृढ़ किले के अन्दर ही हो सकती थी। इसीलिये उन्होंने केन्द्रस्थान के विचार से पहिले देवलगढ़ में अपनी राजधानी परिवर्तित की। वहां लगभग पांच वर्ष रहने पर जब उन्हें विश्वास हो गया कि सारा गढ़वाल उनके एकछत्र नियंत्रण में आ गया है तथा

पूर्ण शान्ति व व्यवस्था स्थापित हो चुकी है, तब उन्होंने श्रीनगर जैसे खुले तथा सामरिक दृष्टि से अरक्षित स्थान पर राजधानी स्थापित की । अतः इन सब परिस्थितियों पर विचार करके सन् १३७५ की तिथि ही उचित ठहरती है ।

और श्रीनगर है भी बहुत महत्व का स्थान । दिल्ली के बारे में कहावत है कि वह चौदह बार बसाई गई और उजड़ गई । इसी प्रकार श्रीनगर के बारे में भी जनश्रुति है कि वह ग्यारह बार बसाया गया और उजड़ गया ! लेकिन शताब्दियों तक वह बीच-बीच में बड़े-बड़े राजाओं की राजधानी बनता रहा । उसके बारे में कई आख्यान प्रसिद्ध हैं, जिनमें मुख्य निम्न प्रकार हैं—

सत्ययुग में यहां सत्यसन्ध नाम के एक प्रतापी राजा राज करते थे; लेकिन एक कोलासुर नाम का दैत्य प्रजा को सताने लगा। उन्होंने कई बार उसे मारने की कोशिश की, पर सफल नहीं हुए। तब महाराज ने उस स्थान में, जो अब श्री क्षेत्र कहलाता है, अलकनन्दा के तट पर श्री-यंत्र का विधिपूर्वक पूजन-अर्चन किया । फलस्वरूप भगवती महामाया दुर्गा का वरदान प्राप्त करके वे उस दैत्य को मारने में सफल हुये । उस स्थान पर श्री-यंत्र की स्थापना होने के कारण उसका नाम श्रीक्षेत्र पड़ा । जिस शिला पर उन्होंने श्री-यंत्र की स्थापना की थी वह अभी तक अलकनन्दा में विद्यमान है । जिस स्थान पर कोलासुर राक्षस मारा गया था, वहां पर अब 'कोलासू' गांव है ।

कहा जाता है कि वहां बाराह-अवतार के समय कामेश्वरी देवी की स्थापना हुई थी । मुनि शीलनिधि की कन्या का स्वयम्बर भी यहीं हुआ था; नारद मुनि उस कन्या को देखकर मोहित हो गये थे; तब उनका अहंकार भंग करने के लिये विष्णु जी ने नगर की स्थापना की थी । त्रेतायुग में यहीं कमलेश्वर पर नित्य प्रति एक हजार कमल-पुष्प चढ़ाकर श्रीरामचन्द्र ने महादेव जी

की उपासना की थी, ताकि वे रावण आदि को मारने की ब्रह्म-हत्या के पाप से मुक्त हो जायँ। यहीं चंड-मुंड दैत्यों का संहार हुआ था। महाभारत-काल में यहां राजा सुबाहु की राजधानी थी; उसके यहां स्वर्गारोहण को जाते हुए पाण्डव अतिथि रहे थे; उन दिनों उसे श्रीपुर कहते थे। वहीं महाकवि भारवि के "किरातार्जुनीयम्" का क्रीड़ास्थल था, और सम्भवतया वहीं पास ही गंगा-तट पर उस महाकाव्य की रचना हुई थी।

उपरोक्त पौराणिक आख्यानों के अतिरिक्त सन् ६३४ ई० में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग, जिस ब्रह्मपुर नगर में आया था, वह भी यही श्रीनगर था। उसके वर्णन के अनुसार हरिद्वार से उत्तर की तरफ ३०० ली (१०० मील) की दूरी पर "पो-ह्लो-ली-ही-मो-पु-लो" (ब्रह्मपुर) प्रान्त है; वह राज्य गोलाई में ४००० ली (१३०० मील) है और चारों ओर पर्वतों से घिरा हुआ है; प्रधान नगर (राजधानी) की गोलाई करीब २० ली (७ मील) है; वहां बस्ती बड़ी घनी है, व गृहस्थ लोग बहुत धनी हैं; आदि-आदि। जनरल कनिंघम का खयाल है कि ब्रह्मपुर प्रदेश का गढ़वाल और कुमाऊँ दोनों से मतलब है और ब्रह्मपुर नगर संभवतया रामगंगा के किनारे प्राचीन लखनपुर था। कुछ लेखकों का खयाल है कि ब्रह्मपुर नगर बिजनौर जिले में वर्तमान बढ़ापुर है। मि० एटकिनसन के अनुसार ब्रह्मपुर वर्तमान टिहरी-गढ़वाल जिले का बाड़ाहाट (उत्तरकाशी) है। श्री हरिकृष्ण रतूड़ी ने माना है कि हुयेनसांग का मतलब गढ़वाल के बावन गढ़ों में से किसी एक गढ़ से था। लेकिन इधर कुछ वर्षों पहिले चित्रकार मोलाराम संबंधी अपनी लेखमाला में श्री मुकन्दीलाल, बैरिस्टर, ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि "सिवाय श्रीनगर के और कोई स्थान ब्रह्मपुर हो ही नहीं सकता है।" इस संबन्ध में उन्होंने फ्रांसीसी इतिहास-लेखक विवियन डी सेंट मार्टिन की सम्मति उद्धृत की है। इस

प्रकार श्रीनगर के पक्ष में ही सर्वाधिक संभावना प्रीतत होती है।

अतः ऐसे धार्मिक तथा ऐतिहासिक महत्व के स्थान पर महाराज अजयपाल ने ६१ 'ज्यूला' भूमि को समधरातल कराने के बाद एक सुन्दर विशाल महल और एक रमणीक नगर का निर्माण कराया। गोर्खा-आक्रमण तक वहीं राजधानी रही; और उस बीच प्रायः प्रत्येक महाराज ने वहां के सौंदर्य और ऐश्वर्य को बढ़ाने की कोशिश की। लेकिन सन् १८०३ ई० में राज्य-श्री गई और सन् १८६४ ई० में विरही नदी की बाढ़ ने उस पुरातन महल और बाज़ार को भी बहा दिया; इसी कारण तत्कालीन जिलाधीश मि० पौ को कुछ ऊँचाई पर वर्तमान नगर का निर्माण कराना पड़ा।

इस प्रकार सन् १८६४ ई० तक वहां के महल आदि महाराज अजयपाल तथा उनके उत्तराधिकारियों के स्थापत्य-कौशल की साक्षी देते रहते थे। सन १८२८ ई० के "एशियाटिक रिसर्चेज़" (जिल्द १६) में कुमाऊँ प्रान्त पर एक संक्षिप्त विवरण लिखते हुए तत्कालीन कमिश्नर मिस्टर जी० एम० ट्रैल ने लिखा था—"राजा का महल अवश्य ही एक सुन्दर इमारत रहा होगा; और यदि इस इलाके की गरीबी और निर्माण की कठिनाइयों पर ध्यान दिया जाय, तो वह निश्चय ही प्रशंसा के योग्य है।" मि० ट्रैल से लगभग साठ वर्ष बाद स्वामी विवेकानन्द की अंग्रेज शिष्या भगिनी निवेदिता उत्तराखण्ड की यात्रा करने आई थीं; उन्हें भी श्रीनगर के मन्दिरों की 'गुरु-गंभीर सुन्दरता' को देखकर आश्चर्य हुआ था; और उन्होंने अनुमान लगाया था कि उड़ीसा के मध्यकालीन युग वाले मन्दिरों से भी पहिले उनका निर्माण हुआ होगा। वे लिखती हैं—

"यद्यपि ये आनुपातिक दृष्टि से छोटे हैं, पर इनमें अद्भुत संपूर्णता है। स्थापत्य-कला की यह शैली हिमालय प्रान्त में अवश्य ही काफी लंबे समय से चली आ रही होगी। यहां श्रीनगर में ऐसे

भी उदाहरण हैं, जिनकी बनावट कुछ लघु लेकिन औरों से अधिक उन्नत है। उनमें से कुछ तो दो सौ वर्षों तक की आयु के ही मालूम पड़ते हैं; लेकिन उनमें से कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जो बहुत पुराने प्रतीत होते हैं—अनुमानतः वे चौथी शताब्दी या उससे भी पहिले गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत हिन्दू-पुनर्जागरण-काल के हैं। एक घाटी, जो कि मैदानों के ही समान समतल है, उसके मध्य में इसकी भौगोलिक स्थिति के कारण यह स्थान अनिवार्यतया एक प्रमुख जीवनपूर्ण केन्द्र बन गया होगा। हम भली भांति कल्पना कर सकते हैं कि कैसे बौद्ध-भिक्षुओं का सर्वप्रथम दल यहां आया होगा, और किस प्रकार धीरे-धीरे उन्होंने अपना एक उपनिवेश यहां बसा लिया होगा, ताकि बौद्ध-विहारों के सिद्धान्त के अनुसार उपदेश देने, अध्ययन करने तथा नियमित उपासना में वे यहां अपना जीवन व्यतीत कर सकें, इस सन्तोष के साथ कि वे अपने चारों ओर के जीवन के एक जीवनपूर्ण अँग बन जायेंगे! बहुत लंबा समय बीता जब उनके निवास के वास्तविक चिन्ह नष्ट हो चुके, पर जहां कहीं भी कोई बहुत पुरानी धार्मिक बलिदान की वस्तु मिलती है, जो कि शताब्दियों तक उपासना का मुख्य केन्द्र और आधार रह चुकी हो, तो हम निश्चयात्मकता के साथ यह परिणाम निकाल सकते हैं कि उसकी स्थापना उन बौद्ध-भिक्षुओं द्वारा हुई होगी। ऐसे चिन्ह अभी भी श्रीनगर के कमलेश्वर तथा पांच पांडवों के मन्दिरों में मौजूद हैं।"

राज्य का संरक्षण व संवर्धन

महाराज अजयपाल ने अब अपने गढ़वाल राज्य के संरक्षण व संवर्धन की ओर ध्यान दिया। यहां पर यह भी स्पष्ट कर दिया जाय कि पहिले इस प्रदेश का नाम केदारखण्ड, उत्तराखण्ड, देवभूमि, ब्रह्मदेश आदि था, लेकिन श्रीनगर में राजधानी आ जाने

तथा समस्त गढ़वाल के एक ही महाराज की छत्रछाया में संगठित हो जाने के कारण अब वह "गढ़वाल" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। महाराज जानते थे कि पुराने गढ़पतियों के हृदयों में अपनी स्वाधीनता की अग्नि शीघ्र नहीं बुझ सकती, इसलिये नीतिज्ञतापूर्वक उन्हें स्वीकृति दे दी गई कि वे श्रीनगर दर्बार की संरक्षता में अपने-अपने गढ़ों पर राज्य करते रहें। लेकिन धीरे-धीरे उन्हें मिलाने की कोशिश की गई। उनमें से कतिपय प्रमुख सर्दारों—यथा असवाल ठाकुरों और गोर्ला रावतों—के साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित किये गये। धीरे-धीरे इन्होंने उन गढ़पतियों की नियुक्ति अपने उच्च पदाधिकारियों की तरह पर करनी शुरू कर दी; परिणामस्वरूप उनकी रही-सही स्वाधीनता भी लुप्त हो गई और वे पूरी तरह पर श्रीनगर-दर्बार के आश्रित हो गये। इन्होंने उन्हें अपना दर्बारी बनाकर सम्मानित किया और गढ़वाल राज्य के फिर दुबारा विश्रृंखल होने की आशंका को सदा के लिये समाप्त कर दिया।

इस राजनैतिक बन्दोबस्त के अतिरिक्त इन्होंने सामरिक दृष्टि से भी सारे प्रदेश का पुनर्संगठन किया। इन्होंने पुराने गढ़पतियों के पास थोड़े-थोड़े सैनिक रहने दिये, ताकि उन्हें बुरा न लगे; और एक केन्द्रीय फ़ौज का निर्माण किया। चूँकि श्रीनगर से ही विस्तृत सीमाओं की सुविधापूर्वक रक्षा नहीं हो सकती थी; इसलिये इन्होंने सीमावर्ती गढ़ों पर फ़ौजी टुकड़ियां नियुक्त कीं। गुजड़ूगढ़, लंगूरगढ़ और महाबगढ़ का उल्लेख पहिले किया जा चुका; उनके अतिरिक्त पूर्व, पश्चिम और उत्तर की सीमाओं पर भी चौकियां स्थापित की गईं। उन चौकियों में जो सैनिक रहते थे, उन्हें नक़द वेतन के बदले यथेष्ट भूमि देने की व्यवस्था की गई थी। उदाहरण-स्वरूप पूर्व की दिशा में लोहबागढ़ के प्रसिद्ध क़िले में जिन वीरों को नियुक्त किया गया था, उन्हें वहां की

सेवाओं के उपलक्ष्य में गौचर के पार्श्व में स्थित प्रसिद्ध पनाई के सेरे का सर्वोत्तम भाग दिया गया था। इसीलिये यह उक्ति चालू हो गई थी कि—"जो द्यौ लोहबागढ़ मुंडली, सो खौ पनाई की कुंडली।" उन्हीं वीर सैनिकों के वंशज कनूणी न मूसनी जातियों के लोग अब तक पनाई में विद्यमान हैं। संगठन के सिलसिले में ही इन्होंने एक महत्वपूर्ण कार्य और किया। उनकी सेना में सरोला व गंगाड़ी ब्राह्मण तथा सभी जातियों के क्षत्रिय थे। खान-पान के प्रश्न को लेकर उनमें आपसी मतभेद रहा करता था। इस मत-भेद को मिटाने के लिये इन्होंने यह आज्ञा प्रचारित की कि सरोला ब्राह्मणों द्वारा पकाया हुआ भोजन सब लोग खा लें। इस आज्ञा के अनुसार उनकी सेना ही ने नहीं बल्कि सारे समाज ने अनुकरण किया, और यह व्यवस्था अब तक भी चली आ रही है।

राज्य के केन्द्रीयकरण तथा सुव्यवस्था के लिये इन्होंने पर्गनों व पट्टियों का विभाजन किया, तथा तोल व नाप के परिमाणों का भी समानीकरण किया। आजकल भी गढ़वाल में एक सरकारी 'पाथा' है और एक 'द्यूली पाथा' कहलाता है। इस पाथे का प्रचार इन्होंने देवलगढ़ से किया था। इस प्रकार विभिन्न पाथों के स्थान पर एक ही पाथे का सारे राज्य में प्रचलन हो गया। इसी प्रकार के इन्होंने अन्य इतने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये कि "अजयपाल की स्थापना" की लोकोक्ति अभी तक प्रचलित है।

देवलगढ़ की स्थापना और नाथों का महत्व

प्रारम्भिक पराजय के बाद जिन सिद्ध सत्यनाथ ने महाराज अजयपाल को प्रोत्साहन दिया था, उनका गढ़वाल के इतिहास में बहुत महत्व है। आरम्भ में दिये गये कथानक के अनुसार तो वे स्वयं महादेव भगवान थे। लेकिन एक अन्य जनश्रुति के आधार पर यह अधिक विश्वसनीय मालूम पड़ता है कि वे हिन्दू राज्यों

के प्रचारक एक साधु थे और श्री बद्रीनारायण की भूमि पर एक शक्तिशाली हिन्दू राज्य की स्थापना कराना चाहते थे।

तथ्य यह है कि गढ़वाल की धार्मिक श्रेष्ठता के कारण साधु-सन्तों का यहां बहुत आगमन होता रहता था और उनमें से कई तो स्थायी रूप से यहीं निवास करने लगते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त उनका यहाँ की राजनीति में भी बड़ा भाग रहता था। पंवार-वंश को गढ़वाल में लाने और उसे यहां स्थायित्व प्रदान कराने में भी उसने प्रमुख भाग लिया था। राजा भानुप्रताप के पूर्वजों को सहायता देना भी इसका प्रमाण है। श्री शंकराचार्य के समय के बाद तो विशेषकर गोरख-पंथी नाथों का खूब बोलबाला रहा था। गढ़वाल के ही समानान्तर नैपाल में शीशोदियों की शाखा को गोरखपन्थी ही ले गये थे; इसीलिये अभी तक वहां की गद्दी श्री गोरखनाथ की ही गद्दी मानी जाती है और राजा केवल उनका दीवान मात्र समझा जाता है। नाथों का महत्व इस बात से भी स्पष्ट होता है कि अभी तक उनका सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में यहां विद्यमान है, तथा सिद्धों की प्रायः ग्राम-देवता की तरह पूजा हुआ करती है। मंत्रों में भी सत्यनाथ, गोरखनाथ, मछिन्द्रनाथ, चौरंगीनाथ, हनुमन्त नाथ, पिंगलनाथ, गरीबनाथ और कबीरनाथ आदि सिद्धों की "आणों" पड़ती हैं।

चित्रकार व कवि श्री मोलाराम ने अपने "श्रीनगर राज्य का इतिहास" में बतलाया है कि गढ़वाल राज्य के प्रथम संस्थापक भौना-पाल के पिता धारा नगरी से आये थे, और स्वयं भौना को सत्य-नाथ योगी ने आशीर्वाद दिया था कि बावन पीढ़ी तक उसका राज्य अचल रहेगा। गढ़वाल-राज्य की स्थापना के बारे में इस दृष्टि-कोण पर चाहे कुछ मतभेद ही हो, लेकिन यह निश्चित है कि गढ़-वाल राज्य को सुदृढ़ बनाने में सत्यनाथ ने प्रमुख भाग लिया था।

क्योंकि एक अन्य कथानक के अनुसार प्रथम पराजय के बाद ही सिद्ध सत्यनाथ प्रकट हुए और उन्होंने महाराज अजयपाल से कहा—"गढ़वाल का राज्य हमने तुझको दिया। यह सवा सेर गेहूँ का एक दाना देता हूँ। तू इसकी पूजा देवलगढ़ में कराते रहना। तू कई पीढ़ी-पुश्तों तक सवा लाख 'ज्यूला' भूमि पर राज्य करते रहना। प्रति वर्ष आश्विन के महीने में जब नवरात्रि आयें, तो विशेष समारोह करना।" अजयपाल ने मन में निश्चय किया कि वे उस समारोह पर सवा लाख रुपये ख़र्च किया करेंगे। इस पर सत्यनाथ ने कहा—"हे राजा, तुझसे इतना अधिक ख़र्च नहीं हो सकेगा, इसलिये सवा लाख का दसवां भाग अर्थात साढ़े बारह हज़ार रुपये ख़र्च किया करना।" महाराज ने उसी वरदान के अनुसार अपना राज्य-विस्तार कर लेने के बाद देवलगढ़ में सिद्ध सत्यनाथ के मन्दिर की स्थापना की और वहीं प्रारंभ में अपनी राजधानी परिवर्तित की।

इन सिद्ध सत्यनाथ का मन्दिर अभी तक देवलगढ़ में विद्यमान है। जनश्रुति के अनुसार इस गढ़ का निर्माण पंवार-शासन से अनेक शताब्दियों पहिले जगतू बिल्वाल नामक एक प्रसिद्ध रण-बांकुरे ने किया था और उसका नाम "जगतगढ़" रखा था। परंतु बाद को बारहवीं सदी के आरंभ में त्रिगर्त (कांगड़ा) के राजा देवल आत्म-चिन्तन के लिये वहां आये और उसका पुनर्निर्माण कराके उसका नाम "देवलगढ़" रखा और वहां गौरजादेवी की भी स्थापना की। सन १३७० में जब महाराज अजयपाल अपनी राजधानी वहां लाये तो उन्होंने गुरु सत्यनाथ का मठ स्थापित करने के साथ-साथ अपनी कुलदेवी राजराजेश्वरी के मन्दिर की स्थापना भी वहां पर की। सत्यनाथ का मन्दिर पहिले अनुमानतः एक गुफा के रूप में था। बाद को किन्हीं पीर हंसनाथ ने मन्दिर का निर्माण कराया। तदुपरान्त १८ गते आषाढ़, संवत् १६८३ वि० (जुलाई, सन् १६२६ ई०) को किन्हीं प्रभातनाथ ने मन्दिर का जीर्णोद्धार

करवाया और एक बड़े भण्डारे का आयोजन किया—यह वहां के एक शिलालेख से स्पष्ट होता है।

महाराज अजयपाल नाथों का बहुत सम्मान करते थे, क्योंकि उन्हीं के कारण उनके पूर्वजों को राज्य और स्वयं उन्हें विजय प्राप्त हुई थी। उन्होंने केवल नाथों का सम्मान ही नहीं किया, बल्कि उनका बहुत-कुछ अनुसरण भी किया। इसलिये महाराज भर्तृहरि व गोपीचन्द की तरह उन्हें भी महात्माओं की श्रेणी में गिना जाने लगा था। इस कारण ही गढ़वाली मन्त्र-साहित्य में उनका नाम अक्सर आता है।

× × × ×

ऐसे विद्वान, प्रतापी, संगठन-कुशल और नीतिज्ञ महाराज अजयपाल का ५६ वर्ष की आयु में सन १३८६ ई० में स्वर्गवास हुआ, लेकिन उनकी कीर्ति अमर है।

---

(३) महाराज बलभद्र शाह

(निधन-तिथि—सन १४६८ ई०)

गढ़वाल-राजवंश को दिल्ली के मुसलमान सम्राट से "शाह" की खानदानी पदवी प्राप्त कराने वाले महाराज बलभद्र शाह श्री हरिकृष्ण रतूड़ी और टिहरी राज्य वंशावली के अनुसार महाराज अजयपाल से सातवीं पीढ़ी पर हुए थे। लेकिन मि० एटकिनसन को अल्मोड़ा में जो सूची प्राप्त हुई थी उसके अनुसार वे चौदहवीं पीढ़ी पर हुए थे। इसलिये यह एक विवादास्पद विषय है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि महाराज अजयपाल और इनके बीच के राजा साधारण कोटि के थे और उनके सम्बन्ध में बहुत कम बातें मालूम हो सकी हैं।

इनके समय के बारे में भी मतभेद है। टिहरी-राज्य-संग्रह में उपलब्ध एक सूची के अनुसार इन्होंने सम्वत १५८२ में एक पत्थर का दर्वाज़ा श्रीनगर में खड़ा किया था, लेकिन उसी संग्रह में विस्तृत टिहरी-राज्य-वंशावली के अनुसार इन्होंने बैसाख सम्बत् १५३० वि० (सन् १४७३ ई०) से सम्वत् १५५५ वि० (सन् १४६८ ई०) तक शासन किया । उधर श्री हरिकृष्ण रतूड़ी के अनुसार इनका शासन-काल सन् १५७५ ई० से सन् १५६१ ई० तक था। लेकिन उनकी तारीखें स्पष्टतया ग़लत मालूम होती हैं, क्योंकि मि० एट-किनसन के अनुसार महाराज मानशाह, जो महाराज बलभद्रशाह से एक या दो पीढ़ी बाद हुए थे, उन्होंने पातल (पट्टी मौंदाड़स्यूँ) के एकेश्वर महादेव को और हाट (पट्टी बण्ड) के नारायण मन्दिर को कुछ गूंठ गांव चढ़ाये थे, और उनके एक दान-पत्र पर सन् १५४७ की तारीख अँकित है। इस स्पष्ट प्रमाण के आधार पर यह तो निश्चित हो जाता है कि श्री रतूड़ी की तारीखें तथा सम्वत १५८२ की तारीख भी विश्वसनीय नहीं। फिर भी यह निश्चिततया नहीं कहा जा सकता कि टिहरी-राज्य-वंशावली की तारीखें ठीक हैं; सम्भव है कि और अधिक सामग्री मिलने पर उनमें भी कुछ परिवर्तन करना पड़े, तथापि फ़िलहाल तो उन्हें ही मानना पड़ेगा।

ऊपर तिथियों के बारे में मतभेद बतलाया गया है, लेकिन एक बात तो निश्चित है कि इन्हें ही सर्वप्रथम 'शाह' की उपाधि मिली थी, और उनके बाद गढ़वाल के सब राजा इस पदवी को अपने नाम के साथ जोड़ते चले आये हैं। यहां पर एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस पदवी को "शाह" और "साह" दोनों प्रकार से लिखा जाता था। महाराज सुदर्शनशाह के समय के कुछ कागजातों में "साह" लिखा हुआ है। मि० एटकिनसन तथा प्रायः सब अँग्रेज लेखकों ने "साह" (Sah) शब्द का ही प्रयोग किया है। इसीलिये कुछ लेखकों ने यह भी अनुमान लगाया है कि गढ़वाल-नरेशों को

दिल्ली दर्बार से कोई उपाधि ही नहीं मिली थी। लेकिन यह उनकी सरासर भूल है। तथ्य यह है कि "शाह" की उपाधि अवश्य मिली थी, लेकिन चूँकि यहां के लोग फ़ारसी के शुद्ध उच्चारण से परिचित नहीं थे, इलिये ये "साह" ही उसका उच्चारण करते व लिखते भी थे। यहीं उच्चारण कर्नल हार्डविक तथा अन्य अँग्रेज़ यात्रियों ने यहां के लोगों के मुख से सुना, इसीलिये उन्होंने अपने लेखों में 'साह' शब्द का प्रयोग किया। इस विषय का स्पष्टीकरण महाराज फतेहशाह के एक सिक्के से होता है, जिसमें "शाह" शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया गया है। यह भी सम्भव है कि उस पदवी के साथ कोई शाही फर्मान भी निकला होगा, लेकिन गोर्खा-आक्रमण के समय अन्य कागज-पत्रों के साथ वह भी नष्ट हो गया होगा। बहरहाल "शाह" पदवी का मिलना तो निश्चित है, पर उसके प्राप्त होने के बारे में कई कहानियां हैं—

एक कहानी के अनुसार सम्राट शाहजहां का पुत्र दारा शकोह अपने भाई औरँगज़ेब से पराजित होकर श्रीनगर आगया, लेकिन राजा ने उसे पकड़ कर दिल्ली वापिस भेज दिया, इसीलिये यह पदवी मिली। यह कहानी सरासर निर्मूल है, क्योंकि औरंगज़ेब ने तो सन् १६५८ से सन् १७०७ तक शासन किया था, अर्थात् महाराज बलभद्रशाह से लगभग दो सौ वर्ष बाद!

एक अन्य जनश्रुति इस प्रकार है कि सतेरा (पट्टी तल्ला नागपुर) के एक सुयोग्य वर्तवाल ठाकुर किसी सरकारी काम पर दिल्ली भेजे गये। उन्हीं दिनों इत्तिफाक से शाही परिवार की एक महिला बीमार पड़ी। अनेक वैद्यों और हकीमों ने उसका इलाज किया, लेकिन रोग बढ़ता ही गया। गढ़वाल के वे राजदूत वैद्यक शास्त्र से भी परिचित थे। उन्होंने अनुरोध किया कि उन्हें भी चिकित्सा करने का अवसर दिया जाय। अतः वे परदे के बाहर बिठाये गये; उस रुग्ण महिला की कलाई पर सूत का एक तागा

बांधा गया और दूसरा सिरा बाहर इनके हाथ में दिया गया। उन्होंने उस सूत के द्वारा नाड़ी की गति का अध्ययन किया तथा रोग पहिचान कर ऐसी औषधियां दीं कि थोड़े ही समय में वह महिला रोगमुक्त हो गई। इस बारे में यह भी कथानक है कि इनकी परीक्षा लेने के लिए पहिले वह सूत एक चारपाई के पाये पर बांधा गया; तो इन्होंने "काष्ठ" बतलाया। फिर उसे एक बकरी की टांग से बांधा गया, तो इन्होंने "मनुष्य के सिवा अन्य जीव" बतलाया। अन्त में जब उस महिला की कलाई पर बांधा गया तो तुरन्त इन्होंने रोग की जांच कर ली। कहते हैं कि इन्हें मालूम हुआ कि उस रोगिणी के गर्भ है; लेकिन स्थान-च्युत होने के कारण वह पीड़ा दे रहा है। इन्होंने मांग की कि रोगिणी का पेट इन्हें दिखाया जाय; लेकिन उन दिनों की 'असूर्यमपश्याम' बेगमों के लिए यह एक असम्भव बात थी। फिर भी इनका प्रभाव पड़ चुका था; अतः इन्होंने पहिले नाम मात्र की दवाइयों की एक-दो पुड़ियां दीं, और फिर रोगिणी के नंगे पेट पर एक कांसे की थाली रख कर सुइयों का एक मुट्ठा मंत्रोच्चारण के साथ उस पर इस प्रकार मारा कि रोग एक दम ठीक हो गया! खैर; उनकी चिकित्सा-प्रणाली कैसी भी रही हो, लेकिन बादशाह उन पर बहुत प्रसन्न हुए और पुरस्कार देना चाहा। इन्होंने अपने लिए व्यक्तिगत पुरस्कार स्वीकार नहीं किया और अपने राजा के लिए "शाह" की पदवी प्राप्त की। इस कहानी से उन वर्त्ताल राजदूत की योग्यता का पता तो अवश्य लगता है; लेकिन यह विश्वास नहीं होता कि केवल इसी एक घटना से प्रभावित होकर तत्कालीन बादशाह ने "शाह" की उपाधि प्रदान कर दी हो।

एक तीसरी कहानी इस प्रकार प्रचलित है कि दिल्ली का कोई शाहज़ादा जलवायु-परिवर्तन के लिए गढ़वाल आया, और यहां के तत्कालीन महाराज के आतिथ्य-सत्कार से इतना प्रसन्न हुआ

कि दिल्ली लौटकर उसने सिफारिश की और तत्कालीन बादशाह बहादुर खां लोदी ने अपना नाम व "शाह" की पदवी गढ़वाल-नरेश को प्रदान कर दी। लेकिन यह तो आगे उद्धृत होने वाली कहानी का ही रूपान्तर मात्र मालूम होती है। अतः जो जनश्रुति अधिक विश्वसनीय है तथा जिसका उल्लेख श्री हरिकृष्ण रतूड़ी ने भी किया है उसके आधार पर इनका जीवन-चरित्र प्रस्तुत किया जाता है।

'पाल' से 'शाह' में परिवर्तन

महाराज अजयपाल के वंशज महाराज सहजपाल के घर इनका जन्म सन् १४५७ ई० में हुआ। इन्होंने बचपन से ही अपनी वीरता का परिचय देना शुरू कर दिया था और शस्त्र-चालन तथा आखेट में अद्भुत निपुणता प्राप्त कर ली थी। पर अभी ये १७ वर्ष के ही थे कि महाराज सहजपाल का देहान्त हो गया और सन् १४७३ ई० में ये महाराज बलभद्रपाल के नाम से गद्दी पर बैठे।

इनकी वीरता के विषय में एक गाथा इस प्रकार प्रचलित है कि श्रीनगर के राजमहल के उस भाग में, जहां रानियां रहती थीं; एक विशाल फाटक था; वह पत्थर का बना हुआ था और उसको तीस-चालीस व्यक्ति मिलकर खड़ा कर सकते थे। एक बार सन् १४६५ ई० में वह कमज़ोर होकर तिरछा हो गया और गिरने ही वाला था कि इनकी नज़र उस पर पड़ी; इन्होंने फ़ौरन कन्धा लगा कर उसे खड़ा कर दिया और बाद को उसकी मरम्मत करा दी। इसी प्रकार की घटनाओं के कारण, एक जनश्रुति के अनुसार, लोग इन्हें भीमसेन का अवतार मानते थे।

इनका विचार था कि पूर्व दिशा में एक महल बनाया जाय, जिसकी "खोलियां" तांबे की हों। उस कार्य के लिए काशी से उस्ताद कारीगर बुलाये गये थे। लेकिन बाद में एक दिन इन्होंने

कहा कि "हमारी गणना के अनुसार इन तांबे की 'खोलियों' के कारण कभी शत्रु का आक्रमण होगा।" इसलिए वह विचार छोड़ दिया गया और पत्थर का महल बनाया गया। उस महल में इन्होंने एक सुन्दर चित्रशाला का भी निर्माण कराया था। उसी चित्रशाला में बाद को राजाओं का राज्याभिषेक हुआ करता था।

ये केवल बलशाली ही नहीं थे, बल्कि एक चतुर राजनीतिज्ञ भी थे। ये जानते थे कि दिल्ली के सम्राट से मित्रता का सम्बन्ध कर लेने से राज्य की प्रतिष्ठा बढ़ेगी। इनसे पहिले किसी ने उस ओर ध्यान नहीं दिया था। इन्होंने इसी उद्देश्य से महाराज अजयपाल के समय में स्थापित लँगूरगढ़ और महाबगढ़ आदि की फौजी चौकियों को मजबूत बनाया। उन दिनों कई डाकू मैदानों में डाके डालते और फिर भाग कर गढ़वाल के दक्षिणी पर्वतों में आ छिपते; इस प्रकार शाही सिपाही उन्हें पकड़ नहीं पाते थे। इन्होंने अपनी फौजी चौकियों की सहायता से उन सब लुटेरों को पकड़ लिया और उन्हें दिल्ली दर्बार में भेज दिया। इस कारण दिल्ली और श्रीनगर के दर्बारों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गया और आपस में राजदूत भेजने की प्रथा क़ायम हो गई। संभवतया इन्हीं के राजदूत होकर वे वर्त्वाल ठाकुर दिल्ली गये थे और वहां अपनी योग्यता प्रदर्शित कर अपना व गढ़वाल का नाम ऊँचा किया था।

उसी बीच एक महत्वपूर्ण घटना हुई। ये कोटद्वार-भाबर की ओर शेर का शिकार खेलने गये हुए थे। उन्हीं दिनों नजीबाबाद में शाही डेरा पड़ा हुआ था और बादशाह सुल्तान सिकन्दर खां लोदी (राज्यकाल सन् १४८६ से सन् १५१७ ई० तक) भी शिकार खेल रहे थे। सौभाग्य से जंगल में दोनों की मुलाक़ात हो गई। राजकीय सम्बन्ध तो स्थापित हो ही चुका था, अब व्यक्तिगत मैत्री भी हो गई। दोनों ने कुछ दिन साथ ही शिकार खेला। इन्होंने

बादशाह को शिकार में बहुत मदद दी, और एक बार तो एक खूँख़ार शेर से उनकी प्राण-रक्षा की। बादशाह इनकी बुद्धिमानी, बल और पराक्रम पर इतने मुग्ध हो गये कि इन्हें निमन्त्रण देकर अपने साथ दिल्ली ले गये। वहां इनका राजसी आदर-सत्कार हुआ, और दोनों राज्यों में मैत्रीपूर्ण सन्धि हो जाने के बाद ये सम्मान के साथ गढ़वाल लौट आये।

उन्हीं दिनों मुसलिम साम्राज्य की उत्तरी सीमा पर, सम्भवतया नहान व जौनसार-बावर की ओर से, कतिपय लुटेरों ने बड़ा उत्पात मचा रखा था। वे झुण्ड के झुण्ड पहाड़ों से उतरते और अम्बाला तथा सहारनपुर के मैदानी गांवों में लूट पाट-मचाते। जब शाही फौज उनका दमन करने को भेजी जाती तो वे पहाड़ों में भाग जाते, और वहां मैदानी फौजें उनका पीछा नहीं कर पाती थीं। ऐसी परिस्थिति देखकर बादशाह ने इन्हें लिखा कि "यदि सम्भव हो तो उन लुटेरों का दमन करने में सहायता कीजिये।" इन्होंने उस अनुरोध को सहर्ष स्वीकार कर लिया और अपनी सेना लेकर वहां धावा बोल दिया। गढ़वाली सैनिक तो पहाड़ों के आदी थे ही, अतः इन्होंने कुछ समय के अन्दर वहां शांति स्थापित कर दी; साथ ही पिछली लूटमार के बदले उनसे काफी बड़ा जुर्माना वसूल किया और भविष्य में स्थायी शांति रखने के लिये उनसे लिखित बचन भी ले लिया। वह जुर्माना व शर्तनामा एक मास के अन्दर दिल्ली दर्बार में पहुँचा दिया गया। उस वीरतापूर्ण विजय के लिये बादशाह ने इनके पास बहुमूल्य ख़िलअत, सोने की तलवार और "शाह" की ख़ानदानी पदवी भेजी। इन्होंने धन्यवादपूर्वक "शाह" पदवी स्वीकार कर ली और "बलभद्रपाल" के स्थान पर अपना नाम "बलभद्रशाह" रखने की घोषणा कर दी। तभी सन् १४६६ ई० से यह पदवी गढ़वाल-नरेशों के नाम के साथ चली आ रही है।

महाराज बलभद्रशाह एक योग्य शासक भी थे। उन्होंने सारे

राज्य की भूमि का बन्दोबस्त कराया। टिहरी-राज्य-संग्रह में उनके समय का एक महत्वपूर्ण काग़ज़ सुरक्षित है। उसमें पर्गनावार 'ज्यूलों' का विवरण दिया गया है। उस काग़ज़ से इन बातों पर प्रकाश पड़ता है-(१) पर्गने की पूरी रक़म में 'नज़र', (२) किस ढंग से वह वसूल किया जाता है—(अ) किन किश्तों में वह संग्रह होता है, (ब) उन व्यक्तियों के नाम जिनके मार्फत वह एकत्रित किया जाता है, (स) किन तारीखों पर वे किश्तें जमा की जाती हैं, (३) ख़र्च कितना एकत्रित होता है और कैसे उसका बंटवारा किया जाता है । इसी एक विवरण से इनकी शासन-पटुता का परिचय मिलता है।

ऐसे चतुर, राजनीतिज्ञ और पराक्रमी गढ़वाल-नरेश का सन् १४६८ ई० में, २५ वर्ष राज्य करके, ४१ वर्ष की अल्पायु में ही देहावसान हो गया।

(४) महाराज फतेहशाह

(निधन-तिथि—सन् १७१५ ई०)

"मेदिनीशाह सूनो, श्री फतेशाहऽवनीपते।
बदरीनाथ कृपया मुद्रा जयति राजते॥"

उपरोक्त संस्कृत श्लोक महाराज फतेहशाह के एक सिक्के पर पाया गया है। यह सिक्का श्री हरिकृष्ण रतूड़ी को कतिपय अन्य पुराने सिक्कों के साथ श्रीनगर के रईस लाला मनोहरीलाल से प्राप्त हुआ था। इस सिक्के से ज्ञात होता है कि महाराज फतेहशाह संवत १७५७ वि० अर्थात सन् १७०० ई० में विद्यमान थे। श्री रतूड़ी के अनुसार इन्होंने सन् १६६६ ई० से सन् १७४६ ई० तक राज्य किया। टिहरी-राज्य-वंशावली के अनुसार इन्होंने फाल्गुण, सम्वत् १७१७ वि० (सन् १६६० ई०) से ११ माघ, सम्वत् १७६५ वि० (सन् १७०८ ई०) तक शासन किया। मि० एटकिनसन के अनु-

सार इनका राज्य-काल सन् १६८४ ई० से सन् १७१६ ई० तक था। इस प्रकार उपरोक्त सिक्के की तिथि इन तीनों श्रेणियों की तारीखों के अन्तर्गत आ जाती हैं। यदि यह माना जाय कि नये राजा के राज्यासीन होने पर ही नये सिक्के ढाले जाते थे, तब तो श्री रतूड़ी की तिथियां ही ठीक जंचती हैं; लेकिन यह मानना कि नये सिक्के बाद को नहीं ढाले जाते थे विश्वास-योग्य प्रतीत नहीं होता।

इसके अतिरिक्त टिहरी-राज्य-संग्रह में उपलब्ध एक कागज़ के अनुसार सम्वत् १७५० वि० अर्थात् सन् १६६३ ई० में महाराज फतेहशाह ने गढ़वाल व सिरमौर की सीमा का 'ओडा' (पत्थर) वैराट-गढ़ में निश्चित किया था। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि सन् १६६३ ई० में वे राज्य करते थे, अतः श्री रतूड़ी की तारीखें सही नहीं मालूम होतीं। उन्होंने और टिहरी-राज्य-वंशावली के संग्रह-कर्ता ने कोई प्रमाण भी प्रस्तुत नहीं किये हैं। उसके विपरीत मि० एटकिनसन ने दानपत्रों की तिथियां मिलाकर अपनी तारीखें स्थिर की हैं, अतः वे अधिक विश्वसनीय हैं।

साथ ही श्री केदारनाथ मन्दिर में सुरक्षित एक कागज के अनु-सार बुधवार ३० गते कार्तिक, सम्वत् १७७३ वि० (सन १७१६ ई०) तिथि त्रयोदशी चित्रा नक्षत्र के दिन महाराज प्रदीप्तशाह ने नागपुर पर्गने में स्थित देवी के एक मन्दिर को कुछ भूमि दान में दी थी। अब तक प्राप्त विवरणों के अनुसार महाराज फतेहशाह की मृत्यु के बाद उनके पुत्र महाराज दलीपसिंह ने नौ मास तक राज्य किया तथा उनकी मृत्यु के आठ मास बाद महाराजा प्रदीप्त-शाह का जन्म हुआ तथा वे राजगद्दी पर बैठे। अतएव महाराज फतेहशाह जून, सन् १७१५ ई० के बाद किसी भी दशा में जीवित नहीं माने जा सकते।

तिथियों के अतिरिक्त इनकी आयु के सम्बन्ध में भी मतभेद है। श्री रतूड़ी ७६ वर्ष मानते हैं, लेकिन वे स्वयं लिखते हैं कि ये

१५ वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे और कि इन्होंने ५० वर्ष तक राज्य किया; फिर यह समझ में नहीं आता कि कैसे इनकी आयु ७६ वर्ष की उन्होंने मान ली। टिहरी-राज्य-वंशावली के अनुसार राजगद्दी पर बैठते समय ये ३ वर्ष के थे और इन्होंने ४८ वर्ष राज्य किया, अर्थात् ये ५१ वर्ष की आयु तक जीवित रहे। मि० एटकिनसन के अनुसार इन्होंने ३२ वर्ष तक राज्य किया; उन्होंने इनकी आयु के बारे में कोई विवरण नहीं दिया है। ऊपर दानपत्रों की तिथियों के अनुसार इनका शासन-काल ३१ वर्ष का माना जा चुका है, इसलिये यह भी मानना उचित प्रतीत होता है कि इनकी आयु ५१ वर्ष की हुई थी, अर्थात् ये २० वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठे थे। ७६ वर्ष की आयु मानने से राज्यारोहण की आयु ४५ वर्ष ठहरती है, जो विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती। अतः उपरोक्त तिथियों के अनुसार उपलब्ध सामग्री के आधार पर इनका जीवन-चरित्र इस प्रकार है—

गढ़वाल-नरेशों को 'शाह' की पदवी दिलाने वाले महाराज बलभद्रशाह से श्री हरिकृष्ण रतूड़ी और टिहरी-राज्य-वंशावली के अनुसार सातवीं पीढ़ी पर और मि० एटकिनसन के अनुसार नवीं पीढ़ी पर इनका जन्म हुआ था। महाराज बलभद्रशाह के बाद महाराज मानशाह हुए; उन्होंने तिब्बत के एक राजा काकुवामोर को पराजित किया था और गढ़वाल की सीमा हरिद्वार से आगे मंगलौर तक बढ़ाई थी। उनके एक दानपत्र की तिथि सन् १५४७ ई० है। उनकी तिब्बत-विजय के बारे में यह जनश्रुति प्रचलित है कि कि उन्होंने वहां के बौद्ध मठ के सोने के त्रिशूल और कलश छीन कर यहां देवलगढ़ की गौरजादेवी के मन्दिर पर चढ़ाये थे।

उनके पुत्र महाराज श्यामशाह अत्यन्त क्रोधी, स्वेच्छाचारी व पागल से राजा हुए; उनके विषय में एक उक्ति प्रसिद्ध है—"शामशाही की कोलांई सामी तो सामी, बांगी तो बांगी।" श्री

मोलाराम के अनुसार भी वे अय्याशी में लिप्त रहते थे। उनके बाद श्री दुलारामशाह महाराज हुए; उनका न श्री रतूड़ी के इतिहास में और न टिहरी-राज्य-वंशावली में उल्लेख मिलता है, लेकिन मि० एटकिनसन और श्री मोलाराम ने उनका उल्लेख किया है तथा उनका एक दानपत्र सन् १५८० ई० का मिलता है; उनके शासनकाल में कोई विशेष घटना नहीं हुई।

उनके बाद महीपतशाह बड़े प्रतापी राजा हुए। उनके राज्यकाल में गढ़वाली सेना ने नीती घाटे के पार तिब्बत में दापाघाट का किला व मन्दिर हस्तगत किया और सतलज पर अपनी सीमा स्थापित की; पश्चिम में उसने छोटी चीन तक अपनी विजय-वैजयन्ती फहराई थी। अपनी इन्हीं विजयों के कारण वे "गर्व-भंजन" कहलाने लगे थे। लेकिन उनके जीवन का अन्तिम अँश दुखपूर्ण रहा—वे हरिद्वार में कुम्भ मेले के लिये गये तो रास्ते में ऋषीकेष में भरत-मूर्ति की बिल्लौर की आंखें निकलवा दीं और फिर लगवा दीं; हरिद्वार पहुँचे तो वहां ५०० जोगियों और १००० गृहस्थों को मरवा डाला; अन्त में उस धर्म-विरुद्ध कार्य का प्रायश्चित करने के लिये बिना किसी कारण कुमाऊँ के तत्कालीन राजा त्रिमलचन्द से युद्ध किया और वीरगति को प्राप्त हुए!

तदुपरान्त महाराज पृथ्वीशाह उर्फ़ पृथ्वीपतिशाह ने अपने राज्य की सीमा बुशहर, क्यूँठल और जुब्बल के मध्य तक पहुँचाई। उनका दिल्ली-दर्बार से बड़ा घना सम्बन्ध था। उन्हीं के राज्य-काल में दाराशिकोह का पुत्र सुलेमान शिकोह श्रीनगर आया था; उसकी रक्षा के लिये एक वर्ष तक वे शाही सेना से लड़ते रहे; लेकिन राजकुमार मेदिनीशाह और मन्त्रिमण्डल युद्ध के विरुद्ध था, इसलिये षड़यन्त्र से सुलेमान शिकोह औरंगजेब के सिपुर्द कर दिये गये। श्री मोलाराम के अनुसार उनके समय में दिल्ली-दर्बार से राजदूतों का आदान-प्रदान हुआ था।

उनके पुत्र महाराज मेदिनीशाह ने सम्राट औरंगज़ेब के आग्रह पर उसकी सहायता के लिये क्यूँठल राज्य पर आक्रमण किया था; उन्हीं के राज्य-काल में हरिद्वार-कुम्भ के अवसर पर वह प्रसिद्ध घटना हुई थी, जिसके कारण 'मेरी गंगा होली त मी मँ आली!' की उक्ति प्रचलित है। उन्हीं के घर सन् १६६४ ई० में महाराज फतेह-शाह का जन्म हुआ।

ये बचपन से ही होनहार प्रतीत होते थे। इन्होंने अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा के अतिरिक्त साहित्य और ललित कलाओं में अच्छी प्रगति की थी; इनका यही साहित्य-प्रेम आगे जाकर और भी अधिक विकसित हुआ था। इनका विवाह सिरमौर की राज-कन्या से हुआ। टिहरी-राज्य-संग्रह के एक काग़ज़ के अनुसार इन्होंने जुमला (डोटी) के राजा की पुत्री से भी विवाह किया था। आखिर सन् १६८४ ई० में महाराज मेदिनीशाह का देहान्त हुआ और बीस वर्ष की अवस्था में ये राज्य-सिंहासन पर अधिष्ठित हुए।

प्रारम्भिक दिग्विजय और देहरादून की स्थापना

इनका शासन-काल दिग्विजय से प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम इन्होंने सिरमौर राज्य पर चढ़ाई की और वहां के राजा रुद्रप्रकाश से युद्ध करके संधि कर ली। इस सम्बन्ध के एक विवरण से ज्ञात होता है कि सन् १६६३ ई० में इन्होंने वैराटगढ़ पर गढ़वाल और सिरमौर की सीमा निर्धारित की थी। अभी तक वहां 'फतेशाही पाथा' प्रच-लित बताया जाता है। उस विजय-यात्रा में इन्होंने सिरमौर-नरेश को बन्दी बना लिया था और उन्हें देहरादून ले आये थे; जब उन्होंने ३०००) वार्षिक कर देने का वचन दिया तब उन्हें मुक्त कर दिया गया; यह कर बाद में प्रति वर्ष अदा होता रहा। उसके कुछ समय बाद पांवटे में सिक्ख-गुरु गोविन्दसिंह के साथ इनका युद्ध हुआ और फिर सन्धि हो गई। वहां से सन १६६२ ई० में शिवालिक को पार

कर ये सहारनपुर के मैदानों में उतर गये और वहां के पुण्डीर गुर्जर सर्दारों पर आक्रमण किया । पुण्डीर सर्दार जगतसिंह के साथ इनका युद्ध हुआ; और उसने भाग कर दिल्ली-दर्बार की ओर से उस इलाके के लिए नियुक्त शाही जनरल सय्यदअली की संरक्षता में शरण ली। वह भी एक बड़ी सेना लेकर आया; उसके साथ भी घमासान युद्ध हुआ, जिसके कारण उसे कुछ दिनों के लिये युद्ध रोक कर मदद के लिये और फौज बुलानी पड़ी। लेकिन उसी बीच श्रीनगर में आवश्यक कार्य होने के कारण इन्होंने अपनी सेनायें पीछे हटा लीं और उसे दून घाटी में नियुक्त करके स्वयं श्रीनगर वापिस आ गए।

इस विजय-यात्रा के उपरान्त इन्होंने कुछ महीने श्रीनगर में विश्राम किया और तब इन्हें उत्तरी सीमा का ख़याल आया। अतः एक बड़ी सेना लेकर ये नीती घाटा जा पहुँचे। अच्छा मौसम देखकर इन्होंने नीती दर्रा पार किया और पश्चिमी तिब्बत के केन्द्र-स्थान दापा पर अधिकार कर लिया। उस विजय के फलस्वरूप वहां इन्होंने अपनी टोपी, कोट, तलवार और बन्दूक रख दी थी; यह कहा जाता है कि ये वस्तुयें अभी तक दापा के बौद्ध-मन्दिर में विद्यमान हैं।

सम्राट औरंगजेब के साथ इनका अच्छा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था। कभी-कभी दिल्ली जाकर ये सम्राट के मेहमान भी हुआ करते थे। राजदूतों का आदान-प्रदान तो नियमित रूप से होता रहता था। कम से कम दो बार तो शाही एलची इनके दर्बार में अवश्य आए थे और यहां से वापिस जाकर उन्होंने यहां के आतिथ्य-सत्कार की बहुत प्रशंसा की थी। सम्राट औरंगजेब से अच्छा मैत्रीपूर्ण संबंध होने के कारण ही, उनसे एक सिफारिशी पत्र लेकर-सिक्खों के गुरु रामराय इनके पास आए थे।

ये गुरु रामराय सिक्खों के प्रसिद्ध दस गुरुओं में से नहीं थे।

वे सातवें गुरु हरराय के पुत्र और आठवें गुरु हरिकृष्ण के सौतेले भाई थे। उन्होंने गुरु का पद प्राप्त करने के लिये अपने भाई गुरु हरिकृष्ण के समय और उनके बाद अपने भतीज़े गुरु तेगबहादुर के बाल्य-काल में बहुत-से प्रयत्न किये, लेकिन सिक्ख लोगों ने उनके सब प्रयत्न निष्फल कर दिये। सिक्ख-समाज की नाराज़ी का एक और बड़ा कारण था; कहते हैं कि एक बार सम्राट औरंगज़ेब के दर्बार में ये गुरु ग्रन्थ साहेब का पाठ कर रहे थे; एक स्थान पर मुसलमानों के लिए कुछ घृणित शब्द प्रयोग किये हुए थे; सम्राट ने पूछा कि "यहां पर ऐसा क्यों और कैसे लिखा गया ?" श्री रामराय ने समझाया कि "इस पद का मतलब 'मुसलमान' से नहीं, बल्कि 'बेईमान' से है !" इस स्पष्टीकरण से सम्राट तो शान्त हो गये, लेकिन सिक्ख-समाज में विरोध का तूफान उठ खड़ा हुआ; क्योंकि धर्म-ग्रंथों का अर्थ बदलना उन दिनों महापाप समझा जाता था; अतः उन्होंने श्री रामराय का वहिष्कार कर दिया। तब वे बहुत घबड़ाए और सम्राट के पास पहुँचे। उन्होंने इच्छा प्रकट की कि वे म्लेच्छों के बीच में नहीं रहना चाहते हैं तथा किसी अन्य स्थान में एकान्तवास करना चाहते हैं। इसी उद्देश्य से सम्राट औरंगज़ेब ने अपना सिफारिशी पत्र देकर उन्हें श्रीनगर-दर्बार में भेजा था।

सन् १६६६ ई० में गुरु रामराय महाराज फतेहशाह के दर्बार में आए और अपना सब बृत्तान्त सुनाया। इन्होंने उनकी गाथा सहानुभूति के साथ सुनी और आदर-सत्कार करने के बाद दून घाटी में खुड़बुड़ा, राजपुर और चामासारी नाम के तीन गांव गुरु-मन्दिर के लिए जागीर में दे दिये। अतः प्रसन्न होकर गुरु रामराय खुड़बुड़ा ग्राम में पहुँचे और वहां झण्डा गाड़कर वहीं स्थायी रूप से रहने लगे। इनके पीछे इनके पौत्र महाराज प्रदीपशाह ने धामावाला, मियांवाला, पण्डितवाड़ी और धरतावाला नाम के चार और गांव

जागीर में प्रदान किये थे। वहीं धामावाला में गुरु रामराय ने एक कच्चा मन्दिर बनाया था। उनकी मृत्यु के बाद उनकी बिधवा पत्नी श्रीमती पंजाबकौर ने काफ़ी रुपया लगाकर एक विशाल गुरुद्वारे का निर्माण कराया। यह गुरुद्वारा अभी तक मौजूद है और देहरादून नगर की शोभा है। जिस स्थान पर सर्वप्रथम झण्डा गाड़ा गया था, वहीं प्रति वर्ष 'झण्डे' का प्रसिद्ध मेला लगा करता है। गुरुद्वारे की स्थापना होते ही अनेक गुरु-भक्त वहां आकर बस गये; तब से वह स्थान गुरुद्वारा व डेरा नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'डेरा' बिगड़कर 'देहरा' बना और उसमें 'दून' शब्द जोड़कर वर्तमान देहरादून की उत्पत्ति हुई। इस गुरुद्वारे को श्रीनगर-दर्बार से बाद में भी अनेक गांव जागीर में मिलते गये, जिससे कि उसकी आमदनी काफी बड़ी हो गई। इस सहायता और अनुग्रह के कारण गुरु रामराय अपना अधिकांश समय श्रीनगर में ही बिताया करते थे और वहां महाराज के मुसाहिब की तरह रहा करते थे। उन्हीं के कारण महाराज फतेहशाह ने श्रीनगर में भी एक गुरुद्वारे का निर्माण करा दिया था।

कुमाऊँ राज्य से अनवरत युद्ध

उपरोक्त घटनाओं के अतिरिक्त इनके जीवन की महत्वपूर्ण घटना है—पड़ोसी कुमाऊँ राज्य से लगातार युद्ध। लेकिन उसका वास्तविक अर्थ समझने के लिए इतिहास के कुछ पृष्ठों को पलटने की आवश्यकता है।

गढ़वाल और कुमाऊँ के पारस्परिक राजनैतिक सम्बन्धों का इतिहास एक लम्बी और कष्टपूर्ण गाथा है। वैसे तो महाराज कनकपाल के समय में भी कुमाऊँ का ख़तरा मौजूद था; और इसीलिए उन्हें बधाण, दशौली व पैनखंडा के गढ़पतियों से मिलकर एक संयुक्त मोर्चा बनाना पड़ा था; उसी की सहायता से कत्यूरी

सर्दारों को गढ़वाल की सीमा से हटा देने में वे सफल हुए थे। उनकेबाद महाराज अजयपाल को भी चम्पावतगढ़ के राजा से युद्ध करन पड़ा था और सिद्ध सत्यनाथ के वरदान से उन्हें विजय प्राप्त हुई थी। उनके बाद फिर महाराज दुलारामशाह के समय में ही (सन् १५८० ई० में) कुमाऊँ के साथ युद्ध का उल्लेख मिलता है। उस दिन से जो युद्ध शुरूहुआ वह प्राय: लगातार लगभग दो शताब्दियों तक चलता रहा और तभी समाप्त हुआ, जब कि गोर्खा आक्रमणकर्ताओं के रूप में एक तीसरी ज़बर्दस्त ताक़त ने दोनों राज्यों को अपने अधिकार में कर लिया!

महाराज दुलारामशाह के राज्यकाल में कुमाऊँ के राजा रुद्र-चन्द्र ने बधाण पर आक्रमण किया। उन्होंने श्री पुरुषू पन्त नाम के एक वीर पुरुष को सेनापति नियुक्त किया। उसने कत्यूर के राजा सबलदेव से भी सहायता का अनुरोध किया; लेकिन वह गढ़वाली सेनापति से मिल गये और पीछे से रसद का सम्बन्ध काट दिया। इधर महाराज तो स्वयं युद्धक्षेत्र में नहीं गये, लेकिन उन्होंने घोषणा कर दी कि जो कोई श्री परखू पंत का सिर काट कर लाएगा उसे प्रतिदिन के सफ़र के अनुसार जागीर मिलेगी। कहते हैं कि एक पञ्चार राजपूत ने ग्वालदम के पास युद्ध के समय श्री परखू पन्त का सिर काट डाला और उसे श्रीनगर-दर्बार में उपस्थित करके इनाम प्राप्त किया। यह देखकर कुमाउनी सेना वापिस चली गई। दूसरी बार राजा रुद्रचन्द ने स्वयं सेना का सञ्चालन किया, लेकिन वे कत्यूर से आगे नहीं बढ़ पाये।

महाराज गर्वभंजन महीपतिशाह के समय में कुमाऊँ के राजा लक्ष्मीचन्द ने सात बार गढ़वाल की सीमा पर आक्रमण किया, लेकिन प्रत्येक बार बहुत हानि के साथ उन्हें पीछे हटना पड़ा। मि० एटकिनसन के अनुसार गढ़वाली लोग अभी तक भी अभिमान के

साथ उस 'श्याल-बूंगा' क़िले के भग्नावशेष बताते हैं, जहां कि कुमाऊँ-नरेश के आक्रमणों का वीरतापूर्वक मुक़ाबला किया गया था। श्री बद्रीदत्त पांडे द्वारा लिखित 'कुमाऊँ का इतिहास' के अनुसार राजा लक्ष्मीचन्द सातवीं बार भी विजयी न हो सके तो लज्जा के मारे उन्होंने महिलाओं के वस्त्र धारण कर लिए और डोली में बैठकर चल दिए; रास्ते में अगर कोई पूछता तो डोली ले जाने वाले कहते कि 'लखुली बिराली' जा रही है ! खैर, किसी प्रकार वे अल्मोड़े वापिस पहुंचे और अपने गुरु से उन्होंने एक वर्ष तक मंत्र-साधना की। आखिर आठवीं बार उन्होंने फिर हमला किया, लेकिन इस बार भी सीमाप्रांत के इलाकों को लूटकर सही-सलामत वापिस जाने पर ही उन्हें सन्तोष करना पड़ा।

इन्हीं राजा लक्ष्मीचन्द के एक पुत्र श्री त्रिमलचन्द अपने पिता की मृत्यु के बाद भागकर गढ़वाल आ गये थे। महाराज महीपतिशाह ने उन्हें आश्वासन दिया कि यदि वे पश्चिमी राम-गंगा को दोनों राज्यों की सीमा लिखित रूप से मान लें तो ये उन्हें उनका राज्य दिलाने में सहायता करेंगे, लेकिन उन्होंने स्वीकार नहीं किया। वे यहां कुछ समय तक रहे और फिर अपने राज्य में लौट कर उन्होंने अपने सिंहासन को प्राप्त किया। वे गढ़-नरेश के बहुत अनुग्रहीत थे और इसलिये जीवन भर शान्तिप्रिय रहे। उन्होंने श्री केदारनाथ मंदिर को कुछ गांव 'गूंठ' भी चढ़ाये थे। लेकिन अपने जीवनकी अंतिम दुर्घटनाओंके कारण महाराज महीपतिशाह ने कुमाऊँ पर अचानक चढ़ाई कर दी। राजा त्रिमलचंद घबड़ाये और पत्र लिख कर पूछा कि "हम पर नाहक़ क्यों आक्रमण कर रहे हो ?" लेकिन ये तो प्राणोत्सर्ग करने पर तुले हुए थे; इन्होंने लिखा—"न मैं राजधानी चाहता हूँ और न धन; मैं तो चाहता हूँ सिर्फ लड़ाई, ताकि मैं वीरतापूर्वक प्राणत्याग करके प्रायश्चित कर सकूं !" निदान शांतिप्रिय राजा त्रिमलचंद को लड़ना ही पड़ा। कोसी नदी

के किनारे लड़ाई हुई, गढ़-नरेश कुछ ही सैनिक साथ लेकर गए थे, अतः वे वीरतापूर्वक लड़ते हुए वहीं रणक्षेत्र में सदा के लिये सो गये !

कुछ लेखकों के अनुसार इसी विजय के उपलक्ष्य में कुमाऊँ के लोग अभी तक 'खतड़वा' का त्यौहार मनाते हैं; लेकिन यह बात जँचती नहीं। राजा त्रिमलचंद स्वयं शांतिप्रिय शासक थे; वे श्रीनगर-दर्बार के अनुगृहीत थे और वे महाराज महीपतिशाह के युद्ध और वीर-गति प्राप्त करने का वास्तविक कारण भी जानते थे, अतः यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि उन्होंने उस "विजय" के उपलक्ष्य में 'खतड़वा' मनाने की आज्ञा दी होगी। इस सम्बन्ध में श्री बद्रीदत्त पांडे का लिखना अधिक ठीक जँचता है। उनके अनुसार जब राजा लक्ष्मीचंद ने एक वर्ष की मंत्र-साधना के बाद आठवीं बार गढ़वाल पर आक्रमण किया तो उन्होंने पहिले से ही प्रबंध कर लिया था कि विजय की ख़बर राजधानी अल्मोड़ा तक पर्वत-शिखरों पर घास-फूस के ढेर जलाकर पहुँचाई जायेगी; इसलिये जब उन्होंने सीमावर्ती इलाक़े में कुछ लूट-पाट करने में सफलता पाई, तो तुरंत उपरोक्त प्रकार से वह ख़बर अल्मोड़ा पहुँचा दी गई और सारे राज्य में विजय का हर्ष छा गया !

लेकिन तथ्य यह है कि वह विजय अवास्तविक थी। स्वयं श्री बद्रीदत्त पांडे के शब्दों में—"विजय तो कुछ ऐसी भारी हुई नहीं, किंतु हां, इस बार उन्होंने मुल्क को लूट-खसोट कर कुछ धन एकत्र किया। इससे खुश होकर अल्मोड़ा को लौटे।" फिर भी आश्विन की संक्रांति की सायंकाल के समय कुमाऊँ भर में अभी तक घास का आदमी-सा बनाकर उसमें फूल-कांस इत्यादि लगाकर जलाते हैं। लड़के गाते, नाचते व कूदते हैं—"भैल्लो जी भैल्लो, भैल्लो खतड़वा। गैड़ा की जीत, खतड़ की हार, गैड़ा पड़ो श्योल, खतड़ पड़ो भ्योल।" आश्चर्य यह है कि इस प्रकार के प्रदर्शनों द्वारा गड़े मुर्दे उखाड़ कर

अभी तक गढ़वाल-कुमाऊँ के दुःखपूर्ण वैमनस्य को फिर से तरो-ताज़ा किया जाता है। आशा है कि कुमाऊँ के सर्वमान्य नेता इस अनुचित उत्सव को तत्काल बंद कराने में सफल होंगे।

महाराज पृथ्वीपतिशाह के समय में कुमाऊँ के राजा बाज़-बहादुर चन्द थे। सन् १६५४-५५ ई० में जब गढ़वाली सेना सम्राट शाहजहां की फौज से हरिद्वार के पास मोर्चा ले रही थी, उस समय भी राजा बाज़बहादुर चन्द ने हमले की तैयारी कर दी थी; लेकिन शीघ्र ही सन्धि हो गई। तदुपरांत जब सुलेमान शिकोह के प्रश्न को लेकर गढ़वाली सेना सन् १६५६ ई० में एक वर्ष तक सम्राट औरंगजेब की सेना से देहरादून के मैदानों में मोर्चा लेती रही, उस समय भी राजा बाज़बहादुर चन्द अपनी सेना लेकर गढ़वाल की तरफ़ आ गये थे, लेकिन वे सीमा पर ही वे रोक दिए गए।

उनके बाद महाराज मेदिनीशाह के समय में कुमाऊँ के साथ युद्ध हुआ। महाराज शायद वीरता के कुछ करिश्मे दिखा कर अपने को अमर करना चाहते थे; इसलिए सन् १६७० ई० में जब कि कुमाऊँ-नरेश भोट की तरफ गये हुए थे इन्होंने अचानक बिना किसी तैयारी के आक्रमण कर दिया; लेकिन राजा बाज़बहादुर चन्द ने भी कई वर्षों से तैयारियां की हुई थीं; वे फ़ौरन भोट से लौट आये और मुकाबला शुरू कर दिया। एक सेना उन्होंने पिंडर घाटी के रास्ते भेजी और स्वयं रामगंगा की घाटी के रास्ते लोहबा की ओर बढ़े। उन्होंने विशाल गढ़वाली सेना को देखकर कूट-नीति से काम लिया। कहते हैं कि उसी कारण साबली व बंगारस्यूं पट्टियों के कुछ लोग उनकी ओर हो गये। इस विश्वास-घातपूर्ण सहायता के कारण गढ़वाली सेना को पीछे हटकर सन्धि करनी पड़ी। कहते हैं कि राजा बाज़बहादुर चन्द साबली-बंगारस्यूं से कई विष्ट व बंगारी रावत परिवारों को अपने साथ लेते

गये और उन्हें तिमली व भरसोली आदि गांवों की सयाणाचारी प्रदान की। कहा जाता है कि उन्हीं दिनों कुछ असवाल ठाकुर और डंगरियाल परिवार भी कुमाऊँ जाकर बस गये थे। उस युग में ऐसे विश्वासघातों का गढ़वाल व कुमाऊँ दोनों के इतिहास में बड़ा भाग रहा।

महाराज मेदिनीशाह अपनी इस पराजय को नहीं भूले और युद्ध की तैयारियां करते रहे। उनके ऐसे रंग-ढंग को देखकर राजा बाज़बहादुर चन्द के पुत्र राजा उद्योतचन्द ने सन् १६७८ ई० में बधाण के इलाके पर हमला किया, लेकिन उन्हें अपने प्रमुख कर्मचारी श्री मैसी साहु की मृत्यु देखनी पड़ी। सन् १६७९ ई० में उन्होंने गणाई के रास्ते लोहबा पर हमला किया और चांदपुर के इलाके को भी लूटा। अब महाराज मेदिनीशाह ने नीतिज्ञता से काम लिया और डोटी के रैका-राजा से पारस्परिक सहायता की सन्धि की। इस समझौते के अनुसार सन् १६८० ई० में डोटी-नरेश ने पूर्व की तरफ से कुमाऊँ पर आक्रमण करके चम्पावतगढ़ पर अधिकार कर लिया; इधर पश्चिम दिशा से गढ़वाल-नरेश भी दूनागिरि और द्वाराहाट तक पहुँच गये। इस प्रकार पूरे दो वर्ष तक युद्ध होता रहा, लेकिन अन्त में गढ़वाल-नरेश को कुमाऊँ की सीमा से अपनी फौजें पीछे हटा लेनी पड़ीं।

गढ़वाल-कुमाऊँ के ऐसे शत्रुतापूर्ण वातावरण में महाराज फतेहशाह को सन् १६८४ ई० में राज्याधिकार मिला और फिर अनवरत इन्हें युद्ध में व्यस्त रहना पड़ा। प्रारम्भ में कुछ वर्ष इन्हें अपना ध्यान अन्य कार्यों की ओर देने का अवसर मिला और उसी बीच ये सिरमौर, पांवटा, सहारनपुर और दापा तक हो आये थे। लेकिन जब सन १६९८ ई० में राजा ज्ञानचन्द कुमाऊँ की गद्दी पर बैठे, उसके बाद इन्हें भी अपनी पूर्वी सीमा

की ओर ध्यान देने के लिए मजबूर होना पड़ा।

उन दिनों कुमाऊँ-नरेशों ने गढ़वाल पर आक्रमण करना अपना सर्वप्रथम तथा सर्वप्रमुख कर्तव्य समझ लिया था। सन् १६९८ ई० में उन्होंने पिंडर घाटी पर धावा किया और थराली तक का इलाक़ा तहस-नहस कर दिया। अगले वर्ष उन्होंने रामगंगा को पार किया और मल्ला सलाण पर्गने की साबली, खाटली और सैंधार पट्टियों में लूट-पाट की। सन् १७०१ ई० में गढ़वाली सेना ने भी आगे बढ़कर गिवाड़ और चौकोट के इलाक़े को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। सन् १७०३ ई० में कुमाउनी सेना ने मेहलचौरी से कुछ ऊपर तक कुछ सफलता प्राप्त की। सन् १७०७ ई० में काफी तैयारी के बाद कुमाउनी सेना आगे बढ़ी; विचला चौकोट के जूनियागढ़ पर कुछ वर्षों पहिले गढ़वाली सेना ने कब्जा किया था—अब कुमाउनी सेना ने उसे फिर हस्तगत कर लिया; इतना ही नहीं, पनुवाखाल और दिवालीखाल के रास्ते आगे बढ़कर उसने पुराने चांदपुरगढ़ को भी भूमिसात कर दिया!

उन दिनों वास्तव में सीमाप्रान्तीय इलाकों में अराजकता का अन्धकार छाया हुआ था। प्रायः प्रतिवर्ष दोनों ओर की सेनायें तैयार होतीं और शत्रु-पक्ष के इलाके में लूट-पाट मचातीं। परिणाम-स्वरूप सीमा के दोनों ओर की पट्टियां बरबाद हो गयीं। बेचारे किसानों को यह विश्वास ही नहीं होता था कि जिस फ़सल को वे बो रहे हैं उसे वे काट भी सकेंगे या नहीं। उस समय की उस दुर्दशा का वर्णन—"गढ़वाल कटक, कुमाऊँ सटक; कुमाऊँ कटक, गढ़वाल सटक" उक्ति में मिलता है, अर्थात् गरीब ग्रामीण जनता जब देखती कि गढ़वाली सेना आ रही है तो प्राण-रक्षा के लिए कुमाऊँ के इलाके में भाग जाती, लेकिन जब वह देखती कि उधर से कुमाऊँ की सेना भी चली आ रही है तो फिर गढ़वाल के इलाके की ओर भाग पड़ती! कहीं भी बेचारों को शांति व

सुरक्षा न मिलती !! ऐसा था वह लोमहर्षक समय !!!

सन् १७०८ में राजा ज्ञानचन्द के पुत्र राजा जगतचन्द कुमाऊँ की गद्दी पर बैठे और उन्होंने भी अपने पूर्वजों की तरह गढ़वाल पर आक्रमण करना अपना प्रथम कर्तव्य समझा। गद्दी पर बैठते ही उन्होंने लोहबा में लूटपाट की और पनुवाखाल के ऊपर लोहबागढ़ में अपनी एक फौजी चौकी स्थापित की। सन् १७०९ में उन्होंने दो सेनायें बधाण व लोहबा के रास्ते भेजीं और दोनों को पिंडर घाटी के सिमली स्थान में एकत्र करके सीधे श्रीनगर की ओर धावा बोल दिया। महाराज फतेहशाह ने उस समय लड़ने की सामर्थ्य नहीं देखी; इसलिए अपने विश्वासपात्र दीवान श्री शंकर डोभाल और अपने दक्ष फौजदार श्री पुरिया नैथाणी को श्रीनगर का प्रबन्ध सिपुर्द करके अपने आप राज-परिवार के साथ देहरादून चले गये। इधर राजा जगतचन्द ने श्रीनगर पर अधिकार किया और उनकी सेना ने खूब लूट-पाट मचाई, लेकिन अन्त में श्री पुरिया नैथाणी के समझाने-बुझाने पर उन्होंने श्रीनगर एक ब्राह्मण को दान में दे दिया तथा लूट-पाट का सामान अपने साथियों में बांटकर अल्मोड़ा वापिस चले गये। उधर कुमाऊँ की सेना गढ़वाल की सीमा से बाहर हुई, इधर महाराज फतेहशाह ने देहरादून से आकर फिर राज-कार्य को संभाला और युद्ध की तैयारी शुरू कर दी। इन्होंने शीघ्र ही सारी स्थिति संभाली और कुमाऊँ के अन्दर तक के कुछ इलाके फिर प्राप्त कर लिये। इसका प्रमाण यह है कि मि० एटकिनसन के अनुसार सन् १७१० में इन्होंने बधाण सीमा के अपने सेना-पति को यह आदेश दिया था कि कुमाऊँ की पट्टी कत्यूर में बैजनाथ के नजदीक गरसार गांव को इन्होने श्री बद्रीनाथ मन्दिर के लिए चढ़ा दिया है, इसलिए उस गांव के लोग गढ़वाली या कुमावनी सेनाओं द्वारा न सतायें जायं; वह आदेश-पत्र ब्रिटिश

शासन के प्रारम्भ पर इनकी अदालत में पेश किया गया था; और तदनुसार वह गरसार गांव अभी तक श्री बद्रीनाथ का गूंठ गांव है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि महाराज फतेहशाह का प्रायः सारा शासन-काल युद्ध करने में ही व्यतीत हुआ; और उसमें से कम से कम पूरे १२ वर्ष पूर्वी सीमा की ओर लगे थे। और सन् १७०६ के अतिरिक्त, जब कि विरोधी परिस्थितियों के कारण इन्हें कुमाऊँनरेश की दया पर श्रीनगर को छोड़कर देहरादून चले जाना पड़ा था, शेष सारे शासन-काल में इन्होंने योग्यता-पूर्वक गढ़वाल की पूर्वी सीमा की रक्षा की; और अन्त में उधर कुछ दूरी तक अपना अधिकार-क्षेत्र भी बढ़ा लिया था। लेकिन इन युद्ध-विवरणों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है उनके शासन-काल का एक और पहलू, जिसका कि अब वर्णन किया जाता है।

इनका साहित्य व कला-प्रेम

एक अन्य धर्मावलम्बी गुरु रामराय को आश्रय व सहायता देकर इन्होंने अपनी धार्मिक उदारता का परिचय दिया था। उसके साथ ही अपने साहित्य व कला-प्रेम के कारण इन्होंने अनेक साहित्यिकों और कला-विशारदों को अपने दरबार में प्रश्रय दिय था। इनके ही प्रोत्साहन के कारण उन दिनों गढ़वाल में साहित्य व कला की खूब चर्चा रहा करती थी। एक उक्ति के अनुसार इनके दरबार में सम्राट वीर विक्रमादित्य और मुग़ल सम्राट अकबर महान् की तरह नव-रत्न थे— श्री सुरेशानन्द बड़थ्वाल, श्री रेवतराम धस्माणा, श्री रुद्रिदत्त किमोठी, श्री हरिदत्त नौटियाल, श्री वासवानन्द बहुगुणा, श्री शशिधर डंगवाल, श्री सहदेव चन्दोला, श्री कीर्तिराम कैंथोला और श्री हरिदत्त सती थपल्याल; ये सब व्यक्ति अपने-अपने विषयों के विद्वान् थे।

इनके दर्बार में श्री रामचन्द्र कंडियाल नाम के भी एक कवि थे। उन्होंने "फतेहशाह यशोवर्णन" नाम की एक संस्कृत पुस्तिका सम्वत् १७४२ वि० अर्थात् सन् १६८५ ई० में लिखी थी। उसमें २४ पृष्ठ थे और १०८ पदों में महाराज की प्रशंसा की गई थी। उसमें प्राकृत भाषा के कुछ पद हैं और शब्द-विन्यास अतीव सुहावना है। उसकी एक हस्तलिखित प्रति श्री योगेन्द्रकृष्ण दौर्गादत्ति शास्त्री के पास है।

उन्होंने कलाकारों को प्रश्रय दिया था—इसका प्रमाण बरेली के रेवेन्यू ऑफिसर श्री गिरिजाकिशोर जोशी के चित्र-संग्रह से मिलता है। श्री सुरेन्द्रदत्त त्रिपाठी 'वसुधारा' में लिखते हैं कि "दो चित्र गढ़वाल-नरेश फतेहशाह (१६८४-१७१६) के भी जोशी जी के संग्रह में हैं। ये दोनों बहुत रोचक हैं। उनमें से एक में राजा एक फटे-पुराने चीथड़ों वाले वृद्ध पुरुष पर बाण चला रहे हैं। यह वृद्ध पुरुष दारिद्र्य का प्रतीक है, अतः चित्र का भाव यह है कि राजा अपने राज्य में दारिद्रय को नहीं रहने देता। चित्र में आकाश की ओर पक्षधारी एक बालक-रूपी देवता (ऐंजल) भी चित्रित हुआ है, जो सुनहरे प्रकाश से राजा को वरदान सा देता है। चित्र के दूसरे किनारे पर आकाश में पूर्व की ओर से सूर्योदय भी दिखाया गया है। किरणें स्वर्णिल रंग की हैं। इस चित्र से राज्य की सम्पन्नता और राजा का ऐश्वर्य ध्वनित होता है। चित्र-लेखन की यह शैली (मोटिफ़) जहांगीर के चित्रों में भी मिलती है। श्री ना० चि० मेहता जी के अनुसार इस शैली की उत्पत्ति योरुपीय कला से हुई है।

"राजा फतेहशाह के दूसरे चित्र में राजा एक जंगल में बैठे हैं। साथ में सैनिक व सेवक भी हैं। दो सिंह और एक बकरी एक ही घाट पर पानी पी रहे हैं। इस चित्र से राजा का प्रताप दर्शित हुआ है और राज्य के अन्तर्गत निर्द्वंदता और शांति की

व्यंजना की गई है।

"ये दोनों चित्र विषय की दृष्टि से मुग़ल प्रभाव से युक्त हैं। यह सम्भव हो सकता है कि औरंगजेब के समय में दिल्ली से गढ़वाल आने वाले मोलाराम के पूर्वजों द्वारा ही इस पद्धति का जन्म हुआ हो।"

साहित्य के अतिरिक्त महाराज फतेहशाह संगीत के भी बहुत प्रेमी थे। वे 'प्रीतमशाह' के नाम से भी प्रसिद्ध थे। मेरे एक मित्र श्री रामशरण शर्मा, एम० एस-सी०, के अनुसार बिजनौर व सहारनपुर आदि ज़िलों के ग्रामों में इनके नाम की कई होलियां अभी तक प्रचलित हैं। ये होली-सम्बन्धी गीत किसी "उमंग" कवि द्वारा रचे गये थे; ये गीत उच्च कोटि के हैं और कला-पारखियों द्वारा प्रशंसित हुए हैं। अनुमानतः ये "उमंग" कवि महाराज फतेहशाह (प्रीतमशाह) के आश्रित थे और महाराज ने उन्हें बहुत प्रोत्साहन दिया था।

अपनी इस साहित्याभिरुचि तथा कला-प्रेम के कारण महाराज फतेहशाह की ख्याति उन दिनों भारतवर्ष में दूर-दूर तक फैल गई थी और अनेक साहित्यिक व कला-प्रेमी इनके दर्बार में आया करते थे। उनमें से बहुत से तो श्री बद्रीनाथ धाम की यात्रा के लिए यहां आते और वापिसी में लौटती बार इनके दर्बार में कुछ समय तक निवास करते। इसके अतिरिक्त अनेक विद्वान और गुणी लोग विशेष रूप से इनके यहां आये थे। उनमें से कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं।

एक "रतन" कवि उन दिनों यहां आये थे और उन्होंने इनकी प्रशंसा में "फतेह-प्रकाश" व "फतेह-भूषण" नामक स्वतंत्र काव्यों को लिखा था। श्री शंभु प्रसाद बहुगुणा के अनुसार ये प्रसिद्ध कवि 'रत्नाकर' त्रिपाठी प्रतीत होते हैं।

श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा ने अपनी "विराट हृदय" पुस्तक में

एक स्थान पर लिखा है—"गोकुलनाथ जगन्नाथ मिश्र के रचे संस्कृत ग्रंथ जो आज सेंटपीटर्सवर्ग लाइब्रेरी में हैं इस बात को बतलाते हैं कि इन मैथिल कवियों ने श्रीनगर-गढ़वाल के राजा फतेहशाह के दर्बार की शोभा बढ़ाई थी और अनेक संस्कृत ग्रंथ वहां रह कर रचे थे।"

सन् १६६८ ई० में "मदन" नाम के एक कवि-भूषण और ज्योतिपालंकार श्रीनगर आये। वे एक उच्च कोटि के ज्योतिषी थे और भारतवर्ष भर के प्रख्यात ज्योतिषियों को शास्त्रार्थ में हरा चुके थे। वे कुछ समय तक श्रीनगर-दर्बार में रहे और इनके नव-रत्नों के साथ शास्त्रार्थ किया। जाते समय, एक उक्ति के अनुसार, उन्होंने कहा कि "यहां के नवरत्नों में मुझसे भी श्रेष्ठ ज्योतिषी हैं!"

महाकवि 'भूषण' के भाई कवि मतिराम इनके दर्बार में कुछ समय तक रहे थे—इसके यथेष्ट प्रमाण मौजूद हैं। वे इनकी गुण-ग्राहकता पर इतने मुग्ध हुए थे कि उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "छंद-सार-पिंगल" इन्हीं को समर्पित की थी। साथ ही उन्होंने अपना 'रस-राज' ग्रंथ श्री मोलाराम के पिता श्री मंगतराम को समर्पित किया था; वे इनके दर्बार में कलाकार थे। उस ग्रंथ के आधार पर उन्होंने व श्री मोलाराम ने कई चित्र बनाये थे।

महाकवि भूषण भी इनके दर्बार में पधारे थे। उन्होंने अपने काव्य "शिवराज-भूषण" और अपनी फुटकर कविताओं में इस बात के अनेक प्रमाण दिये हैं। उन कविताओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक-दो बार यहां अवश्य आये थे। "शिवराज-भूषण" में वे लिखते हैं—

"श्रीनगर नयपाल जुमिला के छितिपाल,
भेजत रिसाल चौर, गढ़, कही बाज की।
मेवार ढुँढार मारवाड़ और बुन्देलखंड,
झारखंड बाँधौ धनी चाकरी इलाज की॥"

इस कवित्त से यह मालूम होता है कि उनका श्रीनगर से परिचय था। उसी काव्य की एक और कविता इस प्रकार है—

"मोरंग जाहु कि जाहु कुमाऊँ,
सिरीनगरै कि कवित्त बनाये;
बाँधव जाहु कि जाहु अमेरि कि,
जोधपुरै कि चितौर ही धाए।
जाहु कुतुब्ब कि एदिल पै कि,
दिलीसहु पै किन जाहु बोलाए;
भूषन गाय फिरै महि में बनि,
है चितचाह सिवाहि रिझाये॥"

इस कविता की प्रथम पंक्ति से सिद्ध होता है कि उन्होंने 'सिरीनगर' के दर्बार में आकर कवितायें लिखीं और यहां के महाराज को सुनाईं, गढ़वाल की घरेलू बोलचाल की भाषा में अब तक भी श्रीनगर को 'सिरनगर' कहा जाता है। लेकिन अपनी एक फुटकर कविता में तो महाकवि भूषण ने 'गढ़वार (गढ़वाल) को सातवें आसमान पर चढ़ा दिया था—

"ध्रुवलोक लोक हू ते ऊपर रहैगो भारो,
भानु ते प्रभानि की विधान आनि आनैगो।
सरित सरिस सुरसरी तैं करैगो सहि,
हरि तैं अधिक अधिपति ताहि मानैगो॥
उरध-पराध तें गनती गनैगो गुनि,
वेद तें प्रमान सों प्रमान कछू आनैगो।
सुजस तें भल्यो सुख भूषण भनैगो बाढ़ि,
गढ़वार राज पर राज जो बखानैगो।"

अर्थात् अगर कोई गढ़वाल राज्य से बढ़कर राज्य का वर्णन करना चाहे, तो उसे ध्रुवलोक से भी बढ़कर भारी लोक ढूँढ़ना पड़ेगा, सूर्य से भी अधिक किरणों का घर (गृह) ढूँढ़ना पड़ेगा,

गंगा से भी अच्छी नदी ढूँढ़नी पड़ेगी, स्वर्ग-पाताल में छानबीन करके, वेदों से प्रमाण ढूँढ़ कर, विष्णु से भी अच्छा राजा जब मिले, तब उससे 'गढ़वार' (गढ़वाल) के राजा की तुलना की जा सकती है !

ऐसी अतुलनीय प्रशंसा करने का मूल कारण महाराज फतेह-शाह की अपरिमित गुण-ग्राहकता ही हो सकती है। कहते हैं कि एक बार महाकवि भूषण ने इन शब्दों में इनकी प्रशंसा की थी— "ए देखौ छतापाता, ए देखौ बदरीबिशाल, ए दिल्ली के ढाल, ए दिल्ली के ढाहनवाल !" महाराज ने उनको यथेष्ट पुरस्कार देना चाहा, लेकिन उन्होंने स्वीकार नहीं किया और कहा—"भूषण को अब इसकी भूख नहीं है; वह तो यह देखने के लिए आया है कि शिवराज का यश यहां तक फैला है कि नहीं ?" वास्तव में महा-कवि भूषण की हार्दिक इच्छा थी कि शिवाजी के नेतृत्व में भारत-वर्ष के सब हिंदू नरेश मुग़ल-साम्राज्य का ध्वंस करके हिंदू-राष्ट्र की स्थापना करें; और इसलिए वे ऐसे ही नरेशों के पास जाते थे, जिनसे उन्हें अपने उद्देश्य में कुछ सफलता मिलने की आशा रहती थी।

उपरोक्त तथ्यों के विपरीत हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखक मिश्रबन्धुओं आदि ने काश्मीर व बुन्देलखंड में श्रीनगर की कल्पना की है। अतः विद्वान साहित्यिक सज्जनों को सब बातों का बारीकी से अध्ययन करके तथ्यातथ्य का निरूपण करना चाहिये; अन्यथा अभी तक हिंदी के इतिहासकारों ने तो इस दिशा में गढ़-वाल के साथ ऐतिहासिक व साहित्यिक अन्याय ही किया है !

× × ×

ऐसे प्रतापी, उदार व साहित्य-कला-प्रेमी महाराज फतेहशाह का ५१ वर्ष की आयु में, ३१ वर्ष तक कुशलतापूर्वक शासन करने के बाद, सन् १७१५ ई० में देहावसान हुआ।

(५) श्री पुरिया नैथाणी

(निधन-तिथि—अप्रैल, सन् १७६० ई०)

गढ़वाल के 'नाना फड़नबीस' श्री पूर्णमल उर्फ पुरिया नैथाणी का जन्म शुक्लपक्ष पूर्णमासी, भाद्रपद सम्वत् १७०५ वि० (अगस्त सन् १६४८ ई०) के दिन नैथाणा गांव के श्री गांडु नैथाणी के घर हुआ था। बड़ी उम्र में संतान होने के कारण पिता बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने ज्योतिषियों से गणना कराई तो सबने कहा—"बालक बहुत होनहार प्रतीत होता है, यह एक महान् व्यक्ति और विजयी योद्धा होगा।" लेकिन उस गरीब को कैसे विश्वास होता? उन्होंने तत्कालीन महाराज पृथ्वीशाह के परिचित मंत्री श्री डोभाल को वह जन्मपत्री दिखलाई; उन्होंने भी खूब प्रशंसा की और सलाह दी कि बालक की 'छट' का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाय, लेकिन इनके पास धन कहां था? सौभाग्य से किन्हीं गढ़वाल-नरेश से दान में मिला हुआ उनके पास एक पञ्चकल्याणी घोड़ा था; अकस्मात उसी समय कोई ग्राहक आ गया और उसकी बिक्री से उन्हें ५००) मिल गये। उस धन से उन्होंने धूमधाम के साथ छट का उत्सव मनाया।

जन्मपत्री को देखकर ज्योतिष में पारंगत श्री डोभाल मंत्री को इस बालक की भावी महानता का आभास मिल चुका था। वे पुत्रहीन थे। एक दिन दौरे में नैथाणा की तरफ गये और श्री गांडु से प्रार्थना की कि वे उन्हें इस बालक को गोद लेने दें, लेकिन ये क्यों मानने लगे थे? आखिर उन्होंने प्रस्ताव रखा कि इस बालक को वे अपनी भावी कन्या व्याह देंगे; यह बात इन्होंने स्वीकार कर ली। उस दिन से श्री डोभाल मंत्री नियमित रूप से मासिक सहायता भेजने लगे और बालक का पालन-पोषण भली-भांति होने लगा।

जब इनकी अवस्था ७ वर्ष की हुई, तब श्री डोभाल मंत्री ने इन्हें अपने पास श्रीनगर बुला लिया और राज्यगुरु के साथ इनकी शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया; उन्होंने इन्हें राजकुमारों के साथ अपनी पाठशाला में भर्ती किया और नियमानुकूल शिक्षा देने लगे। इनकी मेधा व स्मरण-शक्ति पहिले से ही तीव्र थी, इसलिए वर्ण-बोध से प्रारम्भ करके इन्हों ने हिंदी, संस्कृत, भूगोल व इतिहास की शिक्षा पाई। जब उनमें पारगंत हो गये तो धर्मशास्त्र का अध्ययन शुरू हुआ। वहीं इनका उपनयन-संस्कार हुआ और वहीं इन्होंने छहों शास्त्र, अट्ठारहों पुराण तथा यंत्र-मंत्रों में भी दक्षता प्राप्त की। अपनी असाधारण बुद्धि के कारण ये कुछ ही वर्षों में अच्छे विद्वान हो गये।

कुल-गुरु प्रत्येक विद्यार्थी की मनोवृत्ति का गहराई से अध्ययन किया करते थे और जिस विद्यार्थी का रुख जिस ओर पाते थे उसे वैसी ही शिक्षा दिया करते थे। उन्होंने देखा कि इनकी रुचि राजसी विद्याओं की ओर भी है, इसलिए उन्होंने इन्हें अस्त्र-चालन, घुड़-सवारी और तैरने आदि की कलायें भी सिखलाईं। साथ ही मनु-स्मृति व पाराशर-स्मृति आदि राजनैतिक ग्रंथों का भी अध्ययन कराया। इनके अतिरिक्त वहां इन्हें राजकुमारों की संगति भी प्राप्त थी, इसलिए उनके साथ रह कर ये व्यावहारिक राजनीति की भी बहुत सी बातें सीख गये थे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि उन दिनों सिर्फ क्षत्रिय बालकों, विशेषकर राजवंश के युवकों को, ही उस प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। लेकिन श्री डोभाल मंत्री ने इनकी भावी महानता और राज्यगुरु ने इनकी स्वाभाविक रुचि का विचार करके इनके लिए विशेष तौर पर उस तरह की शिक्षा का प्रबन्ध किया था। भगवान ने असाधारण प्रतिभा दी थी, अतः उस पूरे दस वर्ष के अध्ययन-काल में इन्होंने प्रत्येक दिशा में पटुता प्राप्त कर ली।

इस प्रकार सत्रह वर्ष की उम्र में ये राज्यगुरु की पाठशाला से निकले और श्री डोभाल मन्त्री के परिवार में रहने लगे। वहां इनका कोई विशेष कार्य तो था नहीं, इसलिये इन्होंने एक खिलाड़ी, हंसोड़ और उपद्रवी नवयुवक की जिन्दगी बिताना शुरू की। राजधानी की व्यायाम-शालाओं में इनका विशेष भाग रहता था; इस सम्बन्ध में इन्होंने तत्कालीन महाराज मेदिनीशाह तथा उनके कर्मचारियों से अनेक पारितोषिक प्राप्त किये। व्यायाम के अतिरिक्त इनके कार्य रहते थे—फल-फूल तोड़ना, पतंग उड़ाना, छतों से कूदना, पेड़ उखाड़ना व भैंसों को पकड़ कर पटक देना आदि-आदि। इस प्रकार अनवरत उपद्रव इनकी जीवन-चर्या थी। राजधानी भर में इनके व इनके साथी उपद्रवी नवयुवकों के कारण कुहराम मचा रहता था, लेकिन मन्त्री का बालक समझ कर लोग उलाहना देने तक से डरते थे। भालू, बाघ व शेर का शिकार करना इनके लिये एक साधारण बात थी। ये हर बात में औरों से तेज़ थे; बड़े-बड़े पत्थरों को उठा कर फेंक देना इनका साधारण कार्य था। इनके पंवाड़े में इस सम्बन्ध की कई बातों का उल्लेख है; उनमें से यहां पर केवल दो घटनाओं का उल्लेख किया जाता है—

इन्होंने उपद्रवी बालकों का एक दल बना लिया था और उस दल का एक खास प्रोग्राम रहता था—लोगों के घरों में घुस कर दूध, दही और मक्खन की चोरी करना और सब चट कर जाना। एक दिन श्री दीनानंद नाम के एक अहलकार के घर इनका दल प्रविष्ट हुआ; अभी चोरी का काम जारी था कि ये फिसल कर छांछ के एक बड़े बर्तन में गिर पड़े, जिससे इनके कपड़े खराब हो गये। साथियों ने इन्हें पकड़ कर बर्तन से बाहर निकाला और इन्हें छिपाने की कोशिश की, लेकिन छिपते कैसे? कपड़े जो बिगड़ गये थे। निदान यह बात श्री डोभाल मंत्री के कानों में पहुँचाई गई; उन्होंने इन्हें बुलाया; ये निडर होकर उनके सामने गये। मन्त्री ने इन्हें

फटकार कर कहा—"श्री दीनानन्द अहलकार के घर ऐसी छोटी चोरी क्यों की ? 'आज गिजे काकरी, भोल बाखरी !" इन्होंने सरलता व दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—"मैं क्या करता ? 'फतड़म पोड्यो पुरिया छांचो का परया उंद !" इनकी हाजिरजवाबी पर सब लोग खुश हो गये; मंत्री जी ने इन्हें खूब शाबाशी दी और एक घोड़ा भी इनके लिये खरीद दिया।

राज-सेवा का प्रारम्भ

दूसरी कहानी इस प्रकार है कि उन दिनों प्रति वर्ष बैलों की एक नुमायश हुआ करती थी; उसमें शराब पिलाकर नये-नये जवान बछड़ों की लड़ाई हो रही थी; राजधानी तथा पास-पड़ोस के गांवों की जनता सहस्रों की संख्या में तमाशा देख रही थी। महाराज मेदिनीशाह भी विराजमान थे कि अकस्मात् एक बछड़ा पागल हो कर महाराज की ओर लपका और वह उनपर वार करने ही वाला था कि श्री पुरिया फौरन बिजली की तरह कूदकर वहां पहुँच गये और उस पागल बछड़े के सींग पकड़ कर उसे लोहे की जंजीर से बांध दिया ! इनकी इस अद्भुत वीरता पर सबको आश्चर्यमिश्रित हर्ष हुआ; महाराज भी बहुत प्रसन्न हुए और इन्हें खूब पुरस्कार दिये।

श्री डोभाल मन्त्री ने उपयुक्त अवसर समझ कर श्री गोंडु नैथाणी से परामर्श किया और मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी सन् १६६६ ई० को बड़ी धूमधाम के साथ अपनी एकमात्र कन्या का विवाह इनके साथ कर दिया। उस समय इनकी अवस्था १८ वर्ष की थी। इस विवाह के बाद मन्त्री जी की सिफ़ारिश और इनकी योग्यता के कारण महाराज मेदिनीशाह ने इन्हें अपनी अश्वशाला का अध्यक्ष नियुक्त किया और उस दिन से इनका राजनैतिक जीवन प्रारम्भ हुआ।

अश्वशाला के अध्यक्ष-पद पर नियुक्त हो जाने के बाद इन्होंने विभिन्न देशों के घोड़ों को प्रति दिन नई-नई शिक्षायें देने का क्रम शुरू किया। उनमें से एक श्यामकल्याण घोड़ा भी था; उसपर महाराज का बहुत स्नेह था, क्योंकि वह कई बार उनकी प्राण-रक्षा कर चुका था तथा अन्य प्रकार से यश प्राप्त कर चुका था। उस घोड़े को इन्होंने विशेष प्रकार की कसरतें सिखलाईं और वह भी इनसे खूब हिल-मिल गया। सौभाग्यवश अपने उन नये करतबों को दिखाने शीघ्र ही इन्हें अवसर भी मिल गया।

सन् १६६७ ई० के अक्तूबर मास में विजयादशमी का पवित्र त्यौहार आया। उस दिन हर वर्ष घोड़ों के नये-नये खेल दिखाए जाते थे तथा और भी कई प्रकार के उत्सव हुआ करते थे। उस बार के उत्सव में विशेषता यह थी कि दिल्ली-दर्बार का एलची (राजदूत) भी श्रीनगर आया हुआ था और वह भी उस उत्सव में मौजूद था। उस दिन राजमहल के सामने वाले विस्तृत मैदान में गढ़वाली नर-नारियों का विशाल जन-समूह एकत्र था; महाराज मेदिनीशाह भी अपने समस्त दर्बारियोंके साथ विराजमान थे; दिल्ली का एलची भी बैठा हुआ था। जब राजकीय अश्वशाला के सब घुड़सवार अपने करतब व खेल दिखा चुके, तब वह एलची उन्हें देखकर आश्चर्य-चकित रह गया, लेकिन मजाक़ उड़ाने की भावना से उसने कहा—"महाराज, हमारे यहां के घोड़े बहुत ऊँचाई तक लांघ जाते हैं। क्या कोई घुड़सवार उस सामने वाली छोटी हवेली के ऊपर घोड़ा कुदा कर पार हो सकता है ?" महाराज 'असम्भव' कहने ही वाले थे कि श्री पुरिया आगे बढ़ आये और नम्रता व दृढ़ता के साथ बोले—"महाराज, अश्व-सवारी के फौजदार को तो यह साधारण सी बात है !" ऐलची ने कहा—"अगर ऐसा है तो दिखलाओ।" इनके चेहरे पर पहिले तो एक कालिमा-सी छा गई, लेकिन फिर अपने आत्म-विश्वास और अपनी इष्टदेवी का

स्मरण करके ये अपने श्यामकल्याण घोड़े पर सवार हो गये। तमाशबीनों में से किसी ने चिल्लाया—"पागल है!" लेकिन इनके लिये तो गढ़वाल का मान दिल्ली की नज़रों में अक्षुण्ण रखना अनिवार्य था। जैसे ही इन्होंने घोड़ा दौड़ाया, सबकी नज़र इनकी ओर गई; सबके चेहरों पर घबराहट थी। पर उसी क्षण घोड़े को कुदा कर ये साफ़ हवेली के पार हो चुके थे! मकान की दूसरी तरफ हाथी के गोबर का ढेर पड़ा हुआ था, इस कारण इन्हें जरा भी चोट नहीं आई और ये घोड़ा दौड़ाते हुए वापिस महाराज के सामने आ गये। चारों ओर से सहस्रों लोगों का समूह उमड़ पड़ा और सब ओर इनकी सराहना होने लगी। स्वयं दिल्ली के एलची ने कहा—"महाराज, श्री पुरिया गढ़वाल ही नहीं, हमारे चक्रवर्ती मुग़ल सम्राट के लिये भी अभिमान की वस्तु हैं! धन्य है गढ़देश जिसने ऐसा वीर पैदा किया!" घुड़सवारी के इस अद्भुत करतब के कारण महाराज ने तत्काल ही इन्हें अपनी घुड़सवार सेना का सेनापति नियुक्त किया।

इस प्रकार इनकी ख्याति उस कम उम्र में ही गढ़वाल के कोने-कोने में पहुँच गई। पर उसी बीच इनकी पत्नी बीमार पड़ी। स्थानीय चतुरतम वैद्यों से इलाज कराया गया; दिल्ली के राजवैद्यों तक से दवाइयां मंगाई गईं, लेकिन सब बेकार हुईं; और एक वर्ष का ही दाम्पत्य जीवन बिता कर इन्हें विधुर होना पड़ा। इस आकस्मिक दुर्घटना से मंत्री जी को बहुत दुख हुआ। उन्हें अपनी एकमात्र कन्या के लिए खेद नहीं था; उन्हें इस बात का खेद था कि उस पुत्री की मृत्यु के कारण इनसे सम्बन्ध छूट जाने की आशंका थी। उन्होंने कोशिश की कि ये उनके ही परिवार की एक दूसरी कन्या से विवाह करलें; पर इन्होंने अस्वीकार कर दिया और अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा की।

दिल्ली की प्रथम यात्रा

अगले ही वर्ष इन्हें दिल्ली जाने का अवसर मिला। सम्राट औरंगजेब के दर्बार में कोई उत्सव था; सम्भवतया उनकी बहिन रोशनआरा का विवाहोत्सव था। उन्होंने महाराज मेदिनीशाह को निमंत्रित किया और स्वयं आने का अनुरोध किया। लेकिन उन्हीं दिनों कुमांउनी सेना ने गढ़वाल की पूर्वी सीमा पर हमला कर दिया था, इसलिए उन्हें गढ़वाल रह कर शत्रु का सामना करना अनिवार्य हो गया। अतः यह समस्या पेश हुई कि दिल्ली किसे भेजा जाय ? सब दर्बारियों ने उन्हें यही सलाह दी कि सभा-चतुर, सुयोग्य व राजनीति-पटु श्री पुरिया नैथाणी को ही दिल्ली भेजा जाय, अतः वह भार इन पर डाला गया। महाराज के नवरत्नों ने विजयादशमी का शुभ दिन इनके प्रस्थान के लिए नियत किया और उस दिन अक्तूबर, सन् १६६८ ई० में महाराज व दर्बारियों का शुभाशीर्वाद लेकर ये श्रीनगर से दिल्ली की ओर चल दिये।

फ़ौजी जामा पहिने ये दिल्ली की ओर जा रहे थे कि अद्वाणी और कांसखेत के बीच 'धनपुर-पाखा' में इन्हें एक कुमारी चन्दोला कन्या मिली। वह अपनी सहेलियों के साथ अपनी माता की उपासना के लिए फूल, 'कुणजा', 'दुबला' आदि लेने के लिए वहाँ आई हुई थी। वह पास ही के किसी गांव की रहने वाली थी और उसके पिता सन् १६२५ में महाराज महीपतिशाह के पांच मंत्रियों में से एक रह चुके थे। यद्यपि इन्होंने आजीवन अविवाहित रहने की ठान रखी थी; लेकिन आखिर यौवन ही ठहरा—प्रथम दर्शन में ही दोनों एक दूसरे पर आसक्त हो गये; तथा गंधर्व-विवाह करने के बाद ही ये उस स्थान से आगे बढ़े।

अपना हृदय तो ये धनपुर-पाखा में ही दे आये थे, तथापि दिल्ली पहुँच कर इन्होंने बहुत योग्यता के साथ अपने कर्तव्य का

पालन किया और गढ़वाल राज्य की प्रतिष्ठा का सिक्का बिठाया। दिल्ली रहते हुए इन्होंने एक और महत्वपूर्ण कार्य किया। टिहरी राज्य-संग्रह में मार्गशीर्ष, सम्बत् १७२५ वि० का एक कागज सुरक्षित है। उससे मालूम होता है कि किसी सैय्यद मुसलमान ने कोटद्वार-भाबर की ज़मीन पर क़ब्ज़ा कर लिया था। श्री पुरिया ने बादशाही दर्बार में दलीलें देकर वह ज़मीन छुड़वा ली और उस पर गढ़वाल राज्य का अधिकार माना गया। इन कार्यों के लिए महाराज ने प्रसन्न होकर इन्हें २००० बीघे जमीन बख्शीश में दी और आज्ञा दी कि इनके व इनके बंशजों के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा न डाली जाय।

श्रीनगर वापस लौटने के बाद इन्होंने उस चन्दोला कन्या के अभिभावकों के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट की और वे भी राज़ी हो गये। आख़िर एक शुभ मुहूर्त को इनका उस कन्या के साथ बिधिपूर्वक विवाह हो गया। उस सुशील व सुयोग्य पत्नी के कारण इनका दाम्पत्य जीवन बहुत सुख से बीता। जिस स्थान पर पहिली बार इन्होंने उस कन्या को देखा था, उस स्थान पर इन्होंने श्री लक्ष्मीनारायण के मंदिर का निर्माण कराया और एक धर्मशाला भी बनवाई। जब तक ये जीवित रहे तब तक वहां ग़रीब मुसाफिरों को खाना-पीना मुफ्त मिलता था और घोड़े-खच्चरों को भी दाना-घास दिया जाता था। वह स्थान कांसखेत से पौड़ी की ओर लगभग आध मील पर है और अभी तक 'पुरिया' नाम से प्रसिद्ध है।

दिल्ली की दूसरी महत्वपूर्ण यात्रा

उपलब्ध सामग्री में सन् १६६८ से सन् १६७६ तक इनके विषय में कोई विवरण नहीं मिलता; लेकिन निस्सन्देह ये श्रीनगर दर्बार के एक प्रतिष्ठित अधिकारी रहे होंगे। लेकिन सन् १६७६

ई० में इन्होंने जिस अभूतपूर्व राजनीतिज्ञता का परिचय दिया वह इस प्रकार है—

सम्राट औरंगजेब यद्यपि एक योग्य शासक था, तथापि उसके अन्दर धर्मान्धता कूट-कूट कर भरी हुई थी। उसने सन् १६६५ में भारतवर्ष के किन्हीं-किन्हीं इलाक़ों के हिंदुओं पर जज़िया कर लगाया; सन् १६६६ में हिन्दुओं के मन्दिर तोड़ने का हुक्म दिया; और आख़िर सन् १६७६ में तो उसने भारतवर्ष भर के प्रत्येक हिंदू पर जज़िया लगाने का हुक्म जारी कर दिया। हिन्दू प्रजा पर इसका बहुत बुरा असर पड़ा; विशेषकर गढ़वाल की जनता तो भूखों मरने लगी; क्योंकि यहां की प्रजा से भी वह अन्यायपूर्ण कर वसूल करके दिल्ली भेजा जाने लगा। यह विपत्ति कैसे दूर की जाय—इस समस्या पर विचार करने के लिए महाराज मेदिनीशाह ने अपने दर्बार की एक विशेष बैठक बुलाई और उसके समक्ष यह सवाल पेश किया। अन्त में यह निश्चय हुआ कि इस राज्य की ओर से श्री पुरिया नैथाणी दिल्ली भेजे जायं, और गढ़वाल को जज़िया कर से मुक्त कराने की कोशिश करें। इनका निर्वाचन इसलिए किया गया था, क्योंकि ये एक-दो बार पहिले भी दिल्ली हो आये थे और अरबी-फ़ारसी भाषायें जानते थे।

इस प्रकार सन् १६८० में ये दिल्ली पहुंचे; मुग़ल सम्राट को सवा लाख रुपए की भेंट चढ़ाई और महाराज का पत्र दिया। श्री मोलाराम के शब्दों में—

"दिल्ली दाखल पुरिया भयो।
उन हूं सब बिधि नीकों कह्यो॥"

इन्होंने सम्राट के समक्ष गढ़वाल की ग़रीबी का वर्णन किया; लेकिन उनकी समझ में पहाड़ों की बनावट ही नहीं आई और कहा कि "हमने तो सोने-चांदी के पहाड़ सुने थे!" इन्होंने फ़ौरन एक करेला जेब से निकाल कर पहाड़ों की ऊँचाई-नीचाई का स्पष्टीकरण

किया और समझाया कि वहां सोना बिल्कुल नहीं होता। इस विवरण पर सम्राट को विश्वास हो गया और आज्ञा दे दी कि श्रीनगर राज्य से किसी क़िस्म का जज़िया न लिया जाय ! इतना ही नहीं, श्री मोलाराम के शब्दों में—

"सम्राट पुरिया सुनि के मुसकाये,
हाथी घोरा ताहि दिलाये;
नाना वस्त्र-शस्त्र पहिराये,
सहस्त्र रुपया रोक दिलाये ।।"

उसी शाम शाही भोज हुआ; उसमें मुग़ल दर्बार के सर्दारों के सिवाय अनेक हिन्दू राजा और राजदूत भी सम्मिलित हुए। इनको भी उसमें विशेष सम्मान दिया गया। जब भोज समाप्त हो चुका तो श्री पुरिया नैथाणी ने अपने सामने वाले सोने-चांदी के सब बर्तन फेंक दिये ! सम्राट तक जब इस बात की ख़बर पहुँची तो उन्होंने इन्हें बुलाकर कारण पछा। इन्होंने उत्तर दिया—"हमारा मुल्क बहुत पवित्र है; वहां के लोग एक बार जिस बर्तन पर भोजन करते हैं, उसे फेंक देते हैं।" यह उत्तर सुनकर सम्राट ने कहा— "तुम तो अपना मुल्क ग़रीब बताते थे, फिर यह क्यों ? जब तुम लोगों के यहा खूब धन-दौलत होगी, तभी तो ऐसा करते होगे।" यह कह कर उन्होंने फौरन इनको प्राणदण्ड का हुक्म दे दिया और कहा—

"जो तुमहू अपनी हुरमत चाहो ।
गढ़-कंचन का विस्तृत हाल सुनाओ ।।"

श्री पुरिया नैथाणी ने अपना प्रत्युत्पन्नमतित्व नहीं खोया था; ये तो उस परिस्थिति के लिये तैयार ही थे। इन्होंने झट उत्तर दिया—"हमारे गढ़वाल में सालु-मालु ठठेरे रोज बर्तन बना देते हैं, इसलिए बर्तनों की कमी नहीं पड़ती।" इस पर सम्राट को आश्चर्य हुआ और पूछा—"यह कैसे मुमकिन हो सकता है ? क्या

इसमें कुछ राज़ है ?" इन्होंने कहा—"जी हां, यही तो खुदा की खलकत है ! भगवान ने हमें मालू के पत्ते दे रखे हैं; उन्हीं पत्तों को सीकों से जोड़कर हम लोग उन पर खाना खाते हैं । वे ही पत्ते मालू और वे ही सींकें सालू हैं ।" उस दावत में लगभग १५०० प्रतिष्ठित व्यक्ति मौजूद थे; वे सब इनकी हाज़िरजवाबी देखकर प्रसन्न हुए और सम्राट ने भी खुश होकर इनका प्राणदण्ड क्षमा कर दिया और घोषणा की कि अगले दिन इन्हें विशेष पुरष्कार दिया जायेगा ।

दूसरे दिन एक विशेष दर्बार लगा । ठीक दो बजे 'श्रीनगरिया जुन्नारदार' (जनेऊवाला ब्राह्मण) को विशेष पुरस्कार दिया गया । उस अवसर को उपयुक्त जानकर श्री पुरिया नैथाणी ने सम्राट के समक्ष हिन्दू धर्म को बचाने की मार्मिक अपील की । इनके विद्वत्ता-पूर्ण और प्रभावशाली भाषण का तत्व यह था कि हिन्दू और मुसलिम दो सहोदर भाई हैं; वे एक गाड़ी के दो पहिये हैं; एक के बिना दूसरा जीवित नहीं रह सकता । धर्म का वास्तविक साम्राज्य स्थापित करने के लिए इन दोनों भाइयों में एकता होना अनिवार्य है । इन्होंने यह भी कहा कि अत्याचार के बल पर हिन्दू धर्म को समाप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि राम और कृष्ण के चरित्र हिन्दुओं के हृदयों में सदा के लिए अंकित हो गये हैं; हिन्दुओं को अपनी ओर प्रेम व शांति से ही मिलाया जा सकता है ।

इसी आशय का एक पत्र चित्तौड़गढ़ के राणा राजसिंह ने उन्हीं दिनों सम्राट के पास भेजा था । उस विराट सभा में उपस्थित सब हिन्दू राजाओं और राजदूतों ने भी एक स्वर से इस मांग का समर्थन किया । सम्राट औरंगजेब भी अन्दर ही अन्दर अपनी धर्मान्धतापूर्ण नीति की निष्फलता को समझ चुके थे । अतः उन्होंने फ़र्मान जारी कर दिया कि भविष्य में राजपूताना और पर्वतीय इलाकों में हिन्दुओं का न कोई मन्दिर तोड़ा जाये और न

किसी प्रकार उनके धर्म में हस्तक्षेप ही किया जाय; और न जज़िया ही लिया जाय ! ऐसा महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक कार्य सम्पादित करके श्री पुरिया नैथाणी श्रीनगर लौट आये, जहां इनका समारोह-पर्वक स्वागत किया गया।

श्रीनगर की चतुरतापूर्ण रक्षा

सन १६८० ई० में इस प्रकार दिल्ली में कूटनैतिक सफलता प्राप्त करने के बाद ये श्रीनगर दर्बार में अत्यन्त विश्वासपात्र और प्रतिष्ठित राजकर्मचारी के रूप में कार्य करने लगे। तदुपरान्त सन् १६८४ ई० में महाराज मेदिनीशाह के देहान्त के बाद उनके सुपुत्र महाराज फतेहशाह गद्दी पर बैठे। उनकी दिग्विजय में श्री पुरिया नैथाणी ने प्रधान सेनापति के रूप में महत्वपूर्ण भाग लिया। एक प्रकार से ये उनके दाहिने हाथ रहे। उसी सिलसिले में इन्हें राज्य की पूर्वी सीमा पर कुमाउनी सेना के आक्रमणों से गढ़वाल की रक्षा करने के लिए अनवरत संग्राम करना पड़ा।

लेकिन सन् १७०६ में कुमाऊँ के राजा जगतचन्द एक बड़ी सेना लेकर श्रीनगर की ओर बढ़ आये। कुमाउनी सेना इतनी फ़ुर्ती से आगे बढ़ी कि श्रीनगर की रक्षा का समुचित प्रबन्ध नहीं किया जा सका; क्योंकि अधिकांश सेना सीमा की चौकियों पर ही नियुक्त थी और राजधानी में बहुत कम सेना थी। इसलिए श्री पुरिया ने नीतिज्ञता से काम लिया; इन्होंने महाराज को परामर्श दिया कि वे फ़िलहाल देहरादून चले जायें और उस बीच जैसे भी होगा ये राजधानी व राज्य को बचाने की कोशिश करेंगे। उस सलाह के अनुसार महाराज तो राज-परिवार के साथ देहरादून चले गये और इन्होंने तत्कालीन मन्त्री श्री शंकर डोभाल के सहयोग से राजधानी की रक्षा का भार संभाला।

जब कुमाउनी सेना श्रीनगर पहुँची तो इन्होंने नीतिज्ञतापर्वक

उसका तनिक भी विरोध नहीं किया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी वाक्पटुता द्वारा राजा जगतचन्द को खूब प्रभावित किया और उन्हें समझाया कि कुमाऊँ व गढ़वाल पर्वतीय प्रान्तों में सर्वप्रमुख राज्य हैं; इनमें से एक का भी समाप्त होना भयंकर होगा। इस वाक्चातुर्य और नीतिज्ञता से प्रभावित होकर राजा जगतचन्द ने श्रीनगर एक ब्राह्मण को दान में दे दिया। एक उक्ति के अनुसार, वे ब्राह्मण स्वयं श्री पुरिया नैथाणी थे। खैर, वास्तविक तथ्य चाहे जो कुछ भी हो; लेकिन राजधानी में लूट-पाट करके कुमाउनी सेना वापिस चली गई। उधर वह गढ़वाल की सीमा से पार हुई और इधर इन्होंने महाराज को वापिस बुला लिया और फ़ौरन पूर्वी सीमा की नाकेबन्दियां मज़बूत कर दीं। इतना ही नहीं, गढ़-वाली सेना ने सन् १७१० में सीमा से आगे बढ़कर कुमाऊँ के कुछ सीमावर्ती गांवों पर भी क़ब्जा कर लिया। कुमाऊँ-नरेश को यह समाचार मिला, लेकिन वे कुछ नहीं कर पाये, क्योंकि इनकी बुद्धि-मत्ता से गढ़वाली सेना पूर्णतया सुसज्जित कर दी गई थी और सीमा-प्रांतीय गढ़ों में यथेष्ट युद्ध-सामग्री पहुँचा दी गई थी।

कठैत-उपद्रव में प्रशंसनीय कार्य

सन १७१५ ई० में महाराज फतेहशाह का देहावसान हुआ और उनके ज्येष्ठ पुत्र महाराज दलीपशाह गद्दी पर बैठे। वे अभी केवल ६ मास ही राज्य कर पाये थे कि अकस्मात उनका भी देहांत हो गया। उनकी मृत्यु के समय कोई 'टीका' (उत्तराधिकारी राज-कुमार) नहीं था, लेकिन रानी गर्भवती थीं। इस समस्या को लेकर मन्त्रियों में गम्भीर मतभेद पैदा हो गया और गृह-युद्ध की संभा-वना होने लगी। ऐसी विकट परिस्थिति देखकर राज्य के शुभ-चिन्तकों ने इनके पास सन्देश भेजा; ये उन दिनों राज-सेवा से निवृत्त होकर नैथाणा में विश्राम करने लगे थे; लेकिन ये तत्काल ही

श्रीनगर पहुँचे और इन्होंने बीच में पड़कर यह समझौता कराया कि जब तक राज्याधिकारी का जन्म होता है तब तक स्वर्गीय महाराज दलीपशाह के छोटे भाई उपेन्द्रशाह राज-कार्य चलावें; यदि रानी के लड़की हो तो आगे भी वे ही राज्य करते रहें; और यदि पुत्र उत्पन्न हो तो उसे ही राजतिलक किया जाय। इस समझौते के अनुसार महाराज उपेन्द्रशाह ने आठ महीने तक राज्य किया और तब महाराज प्रदीपशाह का जन्म हुआ। नवजात राजकुमार का उसी समय राजतिलक कर दिया गया।

उन दिनों दर्बारियों में पारस्परिक वैमनस्य और लालच की मात्रा बहुत बढ़ गई थी। उनमें से कुछ की तो यहां तक इच्छा थी कि सुकुमार शिशु की हत्या करके राजसिंहासन प्राप्त किया जाय। उन्होंने राजा की देखभाल के लिये दो कठैत नौकर रख दिये और उन्हें समझा दिया कि मौक़ा पाकर उस शिशु को क़त्ल कर देना। राजमाता के कानों में इस षड़यन्त्र की भनक पड़ गई और उन्होंने रातोंरात नैथाणा से श्री पुरिया नैथाणी को बुलाकर सब बातें बतलाईं और अनुरोध किया कि "किसी सुरक्षित स्थान में ले जाकर शिशु-राजा की रक्षा कीजिये।" उस कार्य की कठिनाइयों पर कुछ भी ध्यान न देकर इन्होंने वह ज़िम्मेदारी स्वीकार कर ली। राजमाता ने छलछलाये नेत्रों और धड़कते हृदय से अपने शिशु को इनके सिपुर्द किया और भगवान से प्रार्थना की कि उस शिशु राजा को फिर किसी दिन सुरक्षित उनके पास पहुँचा देवें!

श्री पुरिया शिशु प्रदीपशाह को अपने गांव नैथाणा ले आये और वहां उनके पालन-पोषण व रक्षा की यथोचित व्यवस्था कर दी। शिशु-राजा का एक हाथी के बच्चे से बड़ा प्रेम था; चलते समय राजमाता ने साथ खेलने के लिये उसे भी भेज दिया था। सिद्ध सत्यनाथ ने सैकड़ों वर्ष पहिले कालभैरव का एक यन्त्र गढ़वाल राज्य के आदि पुरुष भौनापाल (कनकपाल) की माता को दिया

था; उस यंत्र को सब महाराज पहिनते चले आये थे। राजमाता ने वह यंत्र राजकुमार की भुजा पर बांध दिया था। इन्होंने उस यंत्र के उपलक्ष्य में कालभैरव का एक मंदिर नैथाणा में स्थापित किया तथा गुरु सत्यनाथ की गद्दी के एक चेले को नित्य पूजा के लिये देवलगढ़ से अपने यहां लाये। वह पुराना मंदिर अभी मौजूद है। नैथाणा में महाराज प्रदीपशाह दो वर्ष तक रहे थे। पलस्तरों से जकड़ी हुई ईंटों के एक मकान के टुकड़े वहां पिछले कुछ वर्षों तक दिखाई देते थे। उस हाथी के बच्चे को बांधने का जहां पर प्रबंध किया गया था, वह जगह अभी तक 'हाथीथान' के नाम से प्रख्यात है; उस स्थान पर हाथी को बांधने के लिये एक खूंटा था; वह सन् १६२८ तक मौजूद था। उस स्थान पर अब एक मकान बना दिया गया है।

उधर उन दो वर्षों के बीच राजधानी में ऐसी अंधाधुन्ध मची रही कि क्या कहा जाय? मंत्रियों में दलबंदियां थीं; किसी का किसी पर विश्वास नहीं था; चारों ओर कुहराम मचा हुआ था। ऐसी गड़बड़ी के अवसर पर, एक पंवाड़े के अनुसार, दशौली से आकर कठैत सरदारों ने राजधानी पर धावा बोल दिया। श्री पुरिया ने कठैतों को बहिन, जो श्री भीमसिंह वर्त्वाल की पत्नी थी, के *मार्फ़त कठैतों के पास संदेशा भिजवाया कि यदि* अपना भला चाहते हो तो लौट जाओ। लेकिन एक भाई कठैत ने उलटा खैपड़ा उस पर ऐसा मारा कि बहिन वहीं ख़त्म हो गई! उसके बाद कंडारी गुसांइयों के भानजे पांचों कठैत अपना दल लेकर राजधानी में पहुँच गये। उन्होंने सबसे पहिले श्री शंकर डोभाल मन्त्री की खोज की और पूजा करते समय उन्हें मार डाला। फिर उन्होंने श्री गजे-सिंह भंडारी वज़ीर का क़त्ल किया। तदुपरांत नाबालिग़ महा-राज की तलाश की, लेकिन वे तो नैथाणा में सुरक्षित थे। उनके उस आतंक से मन्त्री-दल उनसे मिल गया और उन्होंने बाक़ायदा

शासन करना शुरू कर दिया। उन्होंने 'स्यूंदी-कर,' 'भैंस-कर', 'गज-कर' आदि कई नये 'कर' लगा कर प्रजा को बहुत पीड़ित किया।

कुछ समय तक इस प्रकार राजधानी में लूटपाट मचाने के बाद पांचों कठैत भाई अपने इलाक़े की ओर वापिस चले। अकस्मात् सुकृता के 'सैण' में उनकी श्री पुरिया से मुलाक़ात हो गई। वे इन्हें मारना चाहते थे, इसलिये उन्होंने कहा कि "तुम्हीं ने हमें नाबालिग़ राजा की नौकरी से निकलवाया; इसलिये अब तुम्हारी ख़ैर नहीं!" ये उस समय अकेले थे; इसलिये व्यर्थ झगड़ा न बढ़ाकर इन्होंने कूटनीति से काम लिया और यह प्रकट किया कि मानों राजधानी की मारकाट से इन्हें खुशी हो रही हो! कठैतों ने कहा कि—"अगर तुम्हें खुशी है तो हमारे साथ पकौड़े खा लो।" (क्योंकि गढ़वाली रिवाज के अनुसार अपने रिश्तेदार श्री शंकर डोभाल के मृत्यु-शोक में ये पकोड़े नहीं खा सकते थे!) इन्होंने पकौड़े खाना स्वीकार कर लिया और कठैतों के रसोइये से मिलकर ऐसी तरकीब निकाली कि उनका इन पर विश्वास हो गया और उन्होंने इन्हें छोड़ दिया।

अब इन्होंने अपनी कूटनीति और आगे बढ़ाई। इन्होंने कठैतों की मां से बातचीत करते समय यह ज़िक्र छेड़ दिया कि "इन सब भाइयों में सबसे छोटा भाई सर्वथा योग्य है; अतः उसी को राजा होना चाहिये।" बस फिर क्या था? माता ने भी यही रुख़ ले लिया और इस प्रश्न को लेकर भाइयों में मतभेद पैदा हो गया; यहां तक कि तलवारें लेकर वे एक-दूसरे पर टूट पड़े और पारस्परिक आघातों से ज़ख्मी होने के कारण वे पांचों कठैत भाई उस स्थान पर सदा के लिए सो गये, जिसे आजकल पंचभयाखाल कहा जाता है। यह स्थान पैदल-सड़क पर रुद्रप्रयाग से चार मील दूर श्रीनगर की एक ओर एक निर्जन 'धार' पर है; वहां पर उनके स्मारक-स्वरूप

एक 'चौंरी' अभी तक मौजूद है।

इस कठैत-उपद्रव के बारे में एक और पंवाड़ा इस आशय का है कि राजमाता ने श्री सादरसिंह कठैत को रांईगढ़ (रंवाई) का थानेदार नियुक्त किया। वहां के लोगों ने ११ वर्ष से लगान नहीं दिया था; और अब तो उन्होंने ऐलान कर दिया कि जब महाराज बालिग़ होंगे तभी वे लगान देंगे ! इतना ही नहीं, यह कह कर कि "सिरनगर मां निरमोही धरती निर्दया नगरी छ', उन्होंने 'ढंडक' (सत्याग्रह) शुरू कर दिया। श्री सादर सिंह कठैत ने वहां के एक प्रभावशाली जोगी सुर्तनाथ को अपनी ओर मिला लिया और उसकी सहायता से 'मामला' (लगान) वसूल किया, और बड़ी शानोशौकत के साथ राजधानी को वापिस आया। उस सफलता के कारण उसका दिमाग़ इस क़दर चढ़ गया कि ११ वर्ष के बक़ाया लगान के बदले उसने वहां से २२ वर्ष का हिसाब वसूल किया, दो हिस्से दर्बारी खज़ाने में पहुँचाये और एक हिस्सा अपने लिये रख लिया !

श्री सादरसिंह कठैत की इस अप्रत्याशित उन्नति से ईर्षा हो जाने के कारण दर्बारी लोग उसके पतन की तरकीबें सोचने लगे। उन्होंने उसके पुत्र श्री खड़गसिंह कठैत को बहकाया कि वह सर्कारी नौकरी कर ले। श्री गजेसिंह भंडारी वज़ीर की सिफारिश पर उसे 'मुण्डकरा फौंदार' नियुक्त किया गया ताकि जिस आदमी ने स्वर्गीय महाराज के लिये अपना सिर न मुंडाया हो उससे 'मुण्ड-कर' वसूल किया जाय। यह एक इशारा मात्र था। अन्य कर्मचारियों को भी बन आई। श्री गजेसिंह भंडारी वज़ीर ने 'स्यूंदी-सुपो-कर' लगाया; अर्थात जो औरत अपनी 'स्यूंद' (मांग) निकालती थी, उस पर एक 'सुपा' अर्थात आठ पाथा चावलों का कर लगाया गया। श्री बोजू उन्याल ने 'चुलु-करो' लगाया, अर्थात प्रत्येक चूल्हे पर एक 'कल्दार' (रुपया) कर लगा दिया गया। श्री ागू सौंट्याल ने 'गज-करो' लगाया, अर्थात जिस व्यक्ति का

मकान जितने गज़ लम्बा हो, उससे उतने ही 'कल्दार' लिये जाने लगे। श्री भीमसिंह बर्त्वाल ने 'हड़-कर' लगाया, अर्थात मुर्दा फूकने की जगह के वास्ते ५) फ़ी मुर्दा वसूल किया जाने लगा। श्री उद्धबु-बगड्वाल ने 'सौणी-सेर' लगाया, अर्थात् प्रत्येक भैंसके पीछे एक सेर घी वसूल किया जाने लगा। पाप का घड़ा जल्दी भराने के लिये श्री पुरिया नैथाणी को दूर की सूझी और इन्होंने 'बांजा' (बेकार) पनघटों पर 'भागु' (अन्न के रूप में कर) लगा दिया। निदान प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी। उस समय की दुर्दशा का वर्णन उस पंवाड़े के निम्न शब्दों में मिलता है—

"गढ़वाल रैयत प्रजा हाय त्राइ दीणे मचाई—
सात भाइयों की एक जनाने—स्यूंदी-सुपा की डैर।
सात मऽश्रों को एक हल-बैल—हल-करा की डैर।
सात मऽश्रो को एक ही चुलो—चुल-करा की डैर।
सात मऽश्रों को एक हि भैंस—सौणी सेर की डैर॥"

इतना ही नहीं, श्री खड़गसिंह कठैत ने बारह कर वसूल किये, अपनी बिरादरी में बांट दिये और दर्बारी खज़ाने में एक ही कर पहुँचाया! मुसद्दियों ने उसे बहकाया कि "तुम तो बहुत योग्य हो; तुम स्वयं वज़ीर क्यों नहीं बन जाते?" बस फिर क्या था? उसके दिमाग़ में भी यह बात समा गई। एक दिन ब्रह्म मुहूर्त में स्नान का समय था; 'शीतला की रेती' पर श्री गजेसिंह भंडारी गंगा-स्नान के लिये गये हुए थे; खड़गसिंह चुपाचाप वहां पहुँच गया और तलवार के एक ही वार से उसने उनका काम तमाम कर दिया।

बस, अब पाप का घड़ा पूरा भर गया था; सब राजकर्मचारियों ने राजमाता के समक्ष अपील की। इधर विचक्षण श्री पुरिया कठैतों के कोठे पर गये और वहां खड़गसिंह कठैत के छोटे भाई भगोत-सिंह कठैत की पत्नी 'चावम्या बौराण' से, जिसे वे धर्म-बहिन

कहा करते थे, पता लगा लिया कि खड़गसिंह ने ही वज़ीर को मारा है। यही नहीं, अपनी वाक-पटुता द्वारा इन्होंने स्वयं खड़ग-सिंह से ही कबूल करा लिया कि उसने ही वज़ीर को मारा है। इतना काम पूरा करके ये दर्बार में आये और सारा क़िस्सा 'जियाजी' (राजमाता) को सुनाया। उन्होंने हुक्म दिया कि वज़ीर के हत्यारे को प्राणदण्ड दिया जाय !

राजाज्ञा पाते ही श्री पुरिया नैथाणी ने सारे राज्य में पर्चे भेजे और बँगी, चौकी (चौकीघाटा), लोहबा, बधाण अर्थात सब दिशाओं से प्रजा के दल के दल हथियारों सहित राजधानी में एकत्र हो गये। राजमाता की आज्ञा पाते ही उन्होंने स्व० श्री गजेसिंह भंडारी के भाई श्री मदनसिंह भण्डारी को वज़ीर छांटा; और फिर कठैतों पर हमला बोल दिया। पांचों भाई कठैत जब चारों ओर से घिर गये तो उन्होंने आपस में परामर्श किया, और सब सर्कारी सामान—यथा सोने के बर्तन, सोने के ज़ेवर, सोने की बिल्ली, चांदी की 'मुरैठी' (चटाई) आदि—दर्बार में भेज दिये। फिर भी राजमाता ने कहला भेजा कि "अगर प्रजा चाहे तो वही तुम्हें प्राण-दान दे सकती है।" उधर कठैतों के मित्र सात भाई चौहानों ने कठैतों से कहा कि—"तुम युद्ध करो; हम तुम्हारी मदद करेंगे।" इस पर कठैत बन्धुओं ने अपने परिवार के ३६ व्यक्ति खुद मार दिये तथा रण-सज्जा से सुसज्जित होकर अपने कोठे से निकल पड़े। घमासान युद्ध मच गया; कठैत लोग बड़ी वीरता से लड़े; उन्होंने नागु सौंट्याल को मार डाला तथा अन्य कई व्यक्तियों को तलवार के घाट उतारा। जब और राज कर्मचारी मुकाबले पर नहीं दिखाई दिये, तब वे अपने मूल इलाके–दशौली–की ओर चल दिये। भट्टी-सेरा से आगे कठिन चढ़ाई चढ़ कर जो पहुँचे तो मदनसिंह भंडारी व भीमसिंह वर्त्वाल अपने सैनिकों समेत मिल गये। और पांचों कठैत भाई वहीं पंचभयाखाल की उस 'धार' पर मार डाले गये !

इस प्रकार नीतिज्ञतापूर्वक उस कठैत-उपद्रव को शांत कराके श्री पुरिया नैथाणी श्रीनगर वापिस आये और राजभक्त मन्त्रियों से मिलकर वहां दुबारा स्थायी शांति स्थापित की। श्री शंकर डोमाल मन्त्री की स्मृति में इन्होंने 'शंकर-मठ' का निर्माण कराया, जो अभी तक विद्यमान है। फिर राजमाता से परामर्श करके ये नैथाणा से बालक प्रदीपशाह को श्रीनगर ले आये और उन्हें गद्दी पर बिठा कर, राजमाता के विशेष अनुरोध पर, उनकी ओर से शासन-कार्य चलाने लगे। इसी लिये श्री मोलाराम ने लिखा है—

"प्रदीपसाह बालक भये राजा।
पूरणमल करै राज को काजा॥"

जीवन का अन्तिम युद्ध

ऊपर सन १७१८ ई० तक का विवरण आ गया है। उसके बाद अगले ३० वर्षों तक अर्थात् सन् १७४८ ई० तक श्री पुरिया नैथाणी के विषय में किसी घटना का पता नहीं लगता। तथापि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जब तक महाराज प्रदीपशाह स्वयं राज-कार्य संभालने के योग्य नहीं हुए होंगे तब तक ये उन्हें सहायता व परामर्श देते रहे होंगे और फिर पूर्ण वृद्धावस्था में अवकाश ग्रहण करके नैथाणा ग्राम में विश्राम करने लगे होंगे; क्योंकि सन् १७४८ में जब महाराज प्रदीपशाह को इनकी फिर आवश्यकता हुई तब उन्होंने विशेष दूत भेज कर इन्हें अपने घर से बुलाया था। वह घटना इस प्रकार है :—

राजा कल्याण चन्द के राज्य-काल से ही कुमाऊँ दर्बार में पारस्परिक वैमनस्य शुरू हो गया था; लेकिन जब सन् १७४७ ई० में उनके पुत्र राजा दीपचन्द गद्दी पर बैठे, तब वह और भी बढ़ गया। कुमाऊँ की राजनीति में उन दिनों महरा और फर्त्याल नाम के दो बलिष्ठ दल बन गये और शक्ति छीनने के लिये वे

आपस में लड़ने लगे। श्री जयकृष्ण जोशी स्वयं एक महरा थे, लेकिन कतिपय फर्त्यालों से मिलकर वे महाराज प्रदीपशाह के पास श्रीनगर चले आये; और उन्हें बहकाने लगे कि चूँकि इस समय कुमाऊँ में मतभेद है, इसलिये चढ़ाई कर दी जाय! महाराज ने बिना सोचे-समझे बचन तो दे दिया, लेकिन हमला करें तो कैसे करें? इस समस्या को हल करने के लिये उन्हें राज्य के वयोवृद्ध सेवक श्री पुरिया नैथाणी की याद आई; और इन्हें बुला भेजा।

इनकी आयु उस समय पूरे १०० वर्ष की हो चुकी थी; लेकिन फिर भी इनका शरीर बलिष्ठ और हृदय साहसपूर्ण था। महाराज प्रदीपशाह ने इनसे सब बातें कहीं और कहा कि "आप ने दिल्ली में वीरता दिखाई है; रोहिल्लों के साथ प्रलय मचाया है; कांगड़ियों व सिरमौरियों के विरुद्ध वीरता प्रदर्शित की है; नाबालिगी में मेरी रक्षा की है; अब इस नई समस्या को हल करने में मेरी सहायता कीजिये।"

इन्हों ने महाराज को समझाया—"आप व्यर्थ श्री जयकृष्ण जोशी के बहकाने में मत आइये। वे तो स्वयं वहां के मंत्री बनना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त बिना कारण युद्ध करना पापपूर्ण बतलाया गया है। फिर यह समय भी युद्ध के लिये उपयुक्त नहीं है। फिर आप को स्वयं याद होगा कि जब सन् १७४३ ई० में बरेली के सूबेदार अली मुहम्मद खां ने कुमाऊँ को रौंद डाला था, तब स्वयं आप वहां के राजा कल्याणचन्द की मदद के लिये गये थे। वहां आपने ऐसी योग्यता से कार्य किया था कि अली-मुहम्मद खां ने सवा लाख रुपये लेकर कुमाऊँ का राज फिर कल्याणचन्द के सिपुर्द कर दिया था; इसलिये 'दियो दान किमि लीजिये?' की उक्ति के अनुसार कुमाऊँ पर चढ़ाई करना न्यायोचित नहीं।"

लेकिन महाराज को तो धुन लग गई थी। उन्होंने एक न मानी और कहा—"राजा देवीचंद ने अपनी मूर्खताओं और कम-

ज़ोरियों के कारण अपने आप को अपने पिता के अयोग्य सिद्ध कर दिया है, अतः उसे सज़ा देना मेरा कर्तव्य है।" निदान ये भी तैयार हो गये और युद्ध की तैयारियां शुरू कर दीं। इनका नाम सारे राज्य में प्रसिद्ध था ही, इसलिये कुछ ही दिनों में एक बड़ी सेना तैयार हो गई। महाराज प्रदीपशाह ने स्वयं युद्ध में जाने की इच्छा प्रकट की, लेकिन इन्होंने समझाया कि—"आप यहीं राजधानी में रहिये; अगर कोई विशेष समस्या उपस्थित हो जायेगी तो मैं आपको खबर कर दूँगा।" अतः 'फरसा, फरसी, बटपर, जबर, पटैला, तीर, तुपक, म्यान, कमान' आदि सब शस्त्रों से सुसज्जित होकर तथा श्री जयकृष्ण जोशी आदि को साथ लेकर ये राजधानी से चले और कुमाऊँ की सीमा के अन्दर जूनियागढ़ के पास डेरा डाल दिया। उधर कुमाउनी सेना भी श्री शिवदेव मंत्री की अध्यक्षता में आगई और उसने भी पास ही पड़ाव डाल दिया।

श्री शिवदेव एक गहरे कूटनीतिज्ञ थे; उन्होंने श्री जयकृष्ण जोशी के साथियों को अपनी ओर मिला लिया। साथ ही अनेक गढ़वाली सर्दारों के पास यह संदेशा पहुँचाया कि—"बिना कारण यह अधार्मिक युद्ध क्यों लड़ रहे हो?" इस कारण वे भी कुछ ढीले पड़ गये। सिर्फ एक यही सेनापति अटल रहे; अतः कुमाऊँ-नरेश ने इनके सिर के लिये एक बड़े पारितोषिक और जागीर की घोषणा कर दी! जब ऐसी परस्थिति देखी तो इन्होंने विशेष दूत भेज कर महाराज प्रदीपशाह को बुला लिया। लेकिन जब तक कि महाराज पहुँचें, कुमाउनी सेना ने अचानक इनके कैम्प पर धावा कर दिया। ये अपने कैम्प में बैठे हुए अपने साथियों से परामर्श कर रहे थे कि चारों ओर से मारकाट मच गई। ये बिना ज़िरह-बख्तर पहिने बाहर निकल आये और युद्ध करने लगे। लेकिन आख़िर कहां तक बस चलता? इनके शरीर पर पन्द्रह घाव लगे

और ये बेसुध होकर भूमि पर गिर पड़े।

अभी मारकाट मची ही हुई थी कि महाराज प्रदीपशाह कुछ सैनिकों के साथ वहां पहुँच गये। उन्हें देखकर गढ़वाली सैनिक उत्साह से लड़ने लगे। लेकिन वहां तो आपसी विरोध मौजूद था, इसलिये अधिक देरी तक मुक़ाबला नहीं किया जा सकता था। महाराज ने यह परिस्थिति देखकर अपनी सेना पीछे हटा ली। वे स्वयं रणक्षेत्र में जाकर घायल श्री पुरिया नैथाणी को उठा लाये तथा स्वयं अपने हाथों से उनके घाव धोये और मरहम-पट्टी की। जब ये होश में आये तो उन्होंने कहा—"पुरिया जी, वास्तव में मैंने भूल की; आप ही सही रास्ते पर थे; लेकिन अब कोई तद-बीर बतलाइये।" इन्होंने सलाह दी कि राजा दीपचन्द को व्यक्तिगत पत्र लिखकर सन्धि कर ली जाय। वैसा ही किया गया और इस आशय की सन्धि हो गई कि दोनों राज्य पूर्ववत अपनी-अपनी सीमाओं में रहें। इसके साथ ही श्री जयकृष्ण जोशी गिरफ़्तार करके कुमाऊँ-नरेश के पास भेज दिये गये।

इस प्रकार सन्धि हो जाने पर महाराज प्रदीपशाह इन्हें सेना-सहित श्रीनगर ले आये। वहां पहुँच कर उन्होंने एक विशाल दर्बार किया; उसमें उन्होंने किसी की वीरता और किसी की कृतघ्ना का वर्णन किया। श्री मोलाराम के शब्दों में उनके भाव इस प्रकार थे—

"ऐसे खसिया दुज हैं गढ़ के।
जानत हैं घर ही में लड़ के॥
पर काज बिगाड़त हैं अपनो।
सिर पाप चढ़ावत हैं अड़ि कै॥
यहि तैं यो गढ़वाल गयो।
कटि आपस माहिं मरैं लड़ि कै॥

उन्होंने श्री पुरिया को ताम्रपत्र दिया और लंगूर पट्टी के कई

गांव जागीर में दिये। इनकी सलाह पर उन्होंने मृत वीरों की माताओं व पत्नियों आदि को दर्बार में बुलाया; उनके चरण छू कर उन्हें पेंशन प्रदान की तथा उनके बच्चों की परवरिश और विद्याध्ययन का प्रबन्ध कर दिया; सारे नगर में उन वीर माताओं और पत्नियों का नगर-कीर्तन हुआ और स्थान-स्थान पर उनकी आरती उतारी गई। उस लड़ाई के बाद महाराज प्रदीपशाह प्रायः उत्साह-रहित हो गये और सावधानी व शान्तिप्रियता से साथ राज-कार्य चलाने लगे।

कुछ महीनों तक घायल पड़े रहने के बाद श्री पुरिया नैथाणी के घाव ठीक हो गये, और एक दिन इन्होंने महाराज से अपनी अन्तिम इच्छा प्रकट की। इन्होंने कहा—"गढ़वाल-कुमाऊँ का युद्ध प्रायः प्रति दिन की समस्या हो गई है; और सीमान्त की लड़ाइयों के लिये रसद व युद्ध-सामग्री पहुँचाने में विकट कठिनाइयां झेलनी पड़ती हैं। इसलिये सर्वोत्तम उपाय यह है कि पूर्वी सीमांत पर एक मज़बूत क़िला बनाया जाय।" महाराज ने यह सुझाव स्वीकार कर लिया। इन्होंने द्वाराहाट से आठ मील दूर नैऋत्य कोण में रामगंगा नदी के बायें किनारे पर एक उपयुक्त स्थान छांटा। उस स्थान पर किले का निर्माण करने के लिये श्रीनगर से चतुर शिल्पी ले जाये गये। लगभग दो वर्ष में वह क़िला तैयार हुआ। उसमें ५०० सैनिकों के लिये हर समय युद्ध-सामग्री तैयार रहती थी; वह अगर चारों ओर से घिर भी जाय, तो भी वहां एकत्रित युद्ध-सामग्री से लगभग ८ महीनों तक युद्ध चालू रखा जा सकता था। उसका निर्माण इस तरह से किया गया था कि शत्रु उसका भेद नहीं जान सकता था। उसमें जाने के लिये सोपान की तरह एक ही रास्ता था; और युद्ध के समय वह भी बन्द किया जा सकता था। पूर्वी सीमान्त पर ऐसा सुदृढ़ गढ़ बन जाने से फिर उसके बाद कभी भी कुमाऊँ-नरेश को गढ़वाल की

ओर रुख करने का साहस नहीं हुआ। यहां तक कि महाराज ललितशाह के समय में तो उनके द्वितीय पुत्र राजा प्रद्युम्नचंद के नाम से अल्मोड़े की गद्दी पर बैठे और उन्होंने वहां सन् १७७६ से सन् १७८६ तक सात वर्ष राज्य भी किया। वह क़िला बाद को गोरखों द्वारा नष्ट कर दिया गया था; और अब उसके केवल भग्नावशेष ही उस स्थान पर मौजूद हैं। उस क़िले के अन्दर एक मन्दिर भी बनाया गया था, जो "नैथाणी देवी" के नामसे प्रसिद्ध है, और गढ़वाल-कुमाऊँ के लोग समान रूप से अभी तक उसकी पूजा किया करते हैं। महाराज प्रदीपशाह ने उसका नाम "नैथाणा गढ़" रखा था; उसके प्रवेश-द्वार पर उन्होंने यह अंकित करवाया था—"श्री पुरिया नैथाणी का सच्चा स्मारक तो मेरे हृदय में अंकित है; लेकिन सांसारिक कीर्ति की दृष्टि से यह क़िला उनकी राजभक्ति और वीरता का स्मृतिकारक घोषित किया जाता है।"

× × ×

सन् १७४८ में जूनियागढ़ का युद्ध हुआ था और सन् १७५० में नैथाणा गढ़ बनवाकर इन्होंने राज-सेवा से अन्तिम रूप में अवकाश ग्रहण किया। वैसे तो पहिले से ही इनका ध्यान आत्म-चिंतन की ओर था, लेकिन अब तो पूरा समय ही ये उस ओर लगाने लगे; इन्होंने अच्छा योगाभ्यास भी कर लिया था। कहते हैं कि अद्वाणी के जंगल में इन्हें एक बार अचानक एक योगी के रूप में राजा भर्तृहरि के दर्शन मिल गये; तब से ये पूर्ण विरक्त रहने लगे। सन् १७६० ई० में हरिद्वार-कुम्भ का मेला जुड़ा; ये भी उसमें सम्मिलित हुए और फिर वहां से घर नहीं लौटे। कुछ लोगों का अनुमान है कि महाराज भर्तृहरि की तरह ये अभी तक जीवित हैं और भ्रमण करते रहते हैं! लेकिन अधिक विश्वस-नीय यह प्रतीत होता है कि मेले के अन्तिम दिन सन्यासियों और

वैरागियों में भयंकर उपद्रव हो गया; उसमें लगभग १८०० व्यक्ति मारे गये थे; सम्भवतया ये भी उसी झमेले में आ गये और वहीं इनका देहावसान हो गया !!*

---

(६) श्री मोलाराम

(निधन-तिथि—सन् १८३३ ई०)

गढ़वाली-चित्रांकन-शैली के सर्वप्रमुख आचार्य, कुशल राज-नीतिज्ञ, सुन्दर कवि व इतिहास-लेखक तथा सफल मनस्तत्ववेत्ता श्री मोलाराम ने विभिन्न दिशाओं में अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया था। इनकी रचनाओं ने गढ़वाल की कला व साहित्य को अमर कर दिया है। अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा उन्नी-सवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के गढ़वाल पर जो राजनैतिक अन्धकार छाया हुआ था, उसके बावजूद इन्होंने कला, साहित्य और ज्ञान की मशाल को प्रज्वलित रखा; और इस कारण इन्होंने स्वयं अपने आप ही को नहीं, बल्कि इस प्रदेश को भी, अमरत्व प्रदान कर दिया है। केवल पर्वतीय प्रदेशों के कलाकारों में ही नहीं, वरञ्च भारतवर्ष भर के सर्वप्रमुख कलाकारों में इनकी गणना की जाने लगी है; यहां तक कि इनका यश इस देश की सीमाओं का अतिक्रमण करके यूरोप तथा अमेरिका आदि उन्नत देशों तक भी पहुँच चुका है।

इनको सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय श्री मुकन्दीलाल, बी० ए० (औक्सन), बार-एट-लौ, को है। सन् १९०८ में जब वे बनारस हिंदू कौलेज के छात्र थे, उन्हें अपने गुरु स्वर्गीय डा० आनन्द के० कुमारस्वामी से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ; वे

---

* इस जीवन-परिचय की अधिकांश सामग्री मुझे स्व० श्री रामप्रसाद नैथाणी के काग़ज़ों से प्राप्त हुई है।

भारतवर्ष के उच्चतम कला-पारखियों में से एक थे; उनके प्रोत्साहन पर श्री मुकन्दीलाल ने इनके चित्रों तथा कला के सम्बन्ध में सामग्री एकत्र करना प्रारम्भ किया। सन् १६०६ में उन्होंने इनके कुछ चित्र डा० कुमारस्वामी को दिखाये; उनमें से छै चित्र उन्होंने खरीद लिए और वे अब अमेरिका के बोस्टन म्यूज़ियम की शोभा बढ़ा रहे हैं। सन् १६१० ई० में श्री मुकन्दीलाल ने प्रयाग की प्रदर्शिनी में इनके कुछ चित्र प्रदर्शित किये और तब अधिकाधिक लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। उन्हीं दिनों कलकत्ते के प्रसिद्ध अंग्रेज़ी मासिक पत्र "माडर्न रिव्यू" के दो अंकों में श्री मुकन्दीलाल ने इनके विषय में लेख प्रकाशित कराये तथा दो रङ्गीन चित्र भी छपवाए। उसी वर्ष बंगाल के प्रसिद्ध कलाकार श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के बड़े भाई श्री गगनेन्द्रनाथ ठाकुर ने इनके वंशधर श्री बालकराम साह से इनके कुछ चित्र खरीद लिये; वे अब अहमदाबाद के "श्री कस्तूरभाई लालभाई संग्रह" में मौजूद हैं।

उसके बाद तो सारे देश का ध्यान इनकी ओर बड़े जोरों से आकर्षित हुआ। डा० के० आनन्द कुमारस्वामी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "राजपूत कला" (राजपूत आर्ट) में इन्हें "गढ़वाल-शैली" का निर्माता घोषित किया। उनके बाद श्री जे० सी० फ्रेंच ने अपनी पुस्तक "हिमालयन आर्ट" में इनकी चित्रकला का उलेल्ख किया। फिर श्री अजित घोष ने "राजपूत चित्रकला की पहाड़ी शैली" विषय पर अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण में इनका वर्णन किया। श्री एन० सी० मेहता ने अपनी पुस्तक "भारतीय चित्रकला का अध्ययन" (स्टडीज़ इन इण्डियन पेंटिंग) में तथा अपने अन्य लेखों में इनका उल्लेख किया।

इधर श्री मुकन्दीलाल तो विगत लगभग ४५ वर्षों से श्री मोलाराम पर अध्ययन करते तथा लिखते चले आये हैं। "मौडर्न रिव्यू" के अतिरिक्त उन्होंने "विशाल भारत", "सरस्वती" और

"रूपम" आदि प्रतिष्ठित पत्रों में लेख लिखे हैं। प्रयाग की "हिंदुस्तानी" पत्रिका में सन् १६३२ से सन् १६४२ तक उनकी एक लेखमाला "चित्रकार मोलाराम की चित्रकला और कविता" शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। सन् १६४६-५० में अंग्रेजी की प्रसिद्ध पत्रिका "रूप-लेखा" में उनकी एक लेखमाला "चित्रकला की गढ़वाल शैली" (गढ़वाल स्कूल ऑफ़ पेण्टिंग) प्रकाशित हुई थी। उसी लेखमाला में उन्होंने घोषित किया कि वे शीघ्र ही "मोलाराम और उनकी कला का अध्ययन" (हिस्ट्री ऑफ़ मोलाराम एण्ड हिज़ आर्ट) पुस्तक प्रकाशित करने वाले हैं; साथ ही उन्होंने "चित्रकला की गढ़वाल शैली का इतिहास" (हिस्ट्री ऑफ़ दि गढ़वाल स्कूल ऑफ़ पेण्टिंग) भी तैयार की है।

श्री मुकन्दीलाल का कहना है कि वे स्वयं श्रीनगर के मूल निवासी हैं; और इसीलिए उन्हें बचपन से ही श्री मोलाराम के वंशधरों से मिलने-जुलने और उनके चित्रों को देखने का अवसर प्राप्त हुआ था। उसके बाद से उनकी खोज लगातार जारी है तथा श्रीनगर की प्रत्येक यात्रा में उन्हें नई-नई सामग्री मिल जाती है। मुख्यतया उन्हीं के नवीनतम लेखों के आधार पर यह जीवन-परिचय दिया जा रहा है।

जीवन की मुख्य घटनायें

मुग़ल-सम्राट शाहजहां के दर्बार में श्री बनवारीदास उर्फ़ श्री बिशनदास नाम के एक प्रसिद्ध चित्रकार थे। उनके पुत्र श्री शामदास शाहज़ादा दाराशिकोह के साथ रहा करते थे। शाहजहां की मृत्यु के बाद जब राजसिंहासन के लिए झगड़ा पैदा हुआ तो दाराशिकोह के पुत्र शाहज़ादा सुलेमान शिकोह को गढ़वाल राज्य की शरण लेनी पड़ी। मई, सन् १६५८ में वे श्रीनगर आये और महाराज पृथ्वीपतिशाह के दर्बार में शरणार्थी बनकर रहने लगे। चित्र-

कार श्री शामदास अपने पुत्र श्री हरदास सहित उन्हीं के साथ श्रीनगर आए थे। लगभग एक वर्ष सात मास तक गढ़वाल-राज्य की शरण में रहने के बाद शाहजादा सुलेमान शिकोह, किसी षड़-यन्त्र के कारण, सम्राट औरङ्गजेब के पास पहुँचा दिए गये; लेकिन महाराज के अनुरोध पर श्री शामदास अपने पुत्र सहित यहीं रह गए और श्रीनगर-दर्बार की छत्रछाया में अपनी कला-साधना करने लगे। श्री मोलाराम ने स्वयं अपने पिता श्री मंगतराम से ये शब्द कहलाए हैं—

"कहै मंगतराम विचार यहै,
मोलाराम, सलाह यह है;
दिल्ली आदि निवास है, तुँवर हमारी जात,
आये हैं गढ़वाल महि, सलेम साह के सात।"

"हीरानन्द हमारे पिता, सुत हरदास के ओ जग माही,
स्याम सिंह दास भये तिनके, पिता सो आये गढ़वाल के ताहीं।
पांचवीं पुश्त में सो तुम, आगे की आगे हो बढ़े ही बढ़ाई,
कहै मंगतराम विचारत है तुम मोलाराम सुनौ मै याही॥"

अपने पूर्वजों के श्रीनगर रुक जाने के सम्बन्ध में श्री मोलाराम लिखते हैं—

"श्यामदास अरु हरदास ही,
पिता पुत्र दोउ राखे पास ही।
तुंवर जान दीवान हि जाने,
राखे हित सों अत मनमाने।
तब सों हम गढ़ में रहाये,
हमरे पुरखा या बिद आये;
तिनके वंश जनम हम धारा,
मोलाराम है नाम हमारा॥"

इस प्रकार दिल्ली के चित्रकार श्री शामदास से पांचवीं पीढ़ी

में श्री मंगतराम के सुपुत्र के रूप में सन् १७४० ई० के लगभग श्रीनगर में इनका जन्म हुआ। ये सात भाई थे; लेकिन अन्य किसी के बारे में कोई विवरण नहीं मिलता। इनकी माता का नाम रामदेवी था। अपनी एक पुस्तक में उनसे राम-भक्ति सीखने का इन्होंने उल्लेख किया है। श्री मोलाराम में चित्रकला के बीज पैतृक गुणों के रूप में विद्यमान थे। इनके परिवार का वास्तविक व्यवसाय स्वर्णकारी था। तथ्य यह है कि प्रायः सभी हिन्दू चित्रकार, विशेषकर राजपूत शैली के चित्रकार, पेशे से स्वर्णकार ही थे; लेकिन साथ ही कला-साधना भी किया करते थे। इन्होंने भी अपने पिता व पितामह से स्वर्णकारी के साथ-साथ चित्रकला सीखी; लेकिन बाद में अपना पूरा समय इसी ओर देने लगे; और इस दिशा में इन्होंने आश्चर्यजनक उन्नति करके दिखलाई।

ये गढ़वाल के चार महाराजाओं के शासन-काल में कार्य करते रहे—(१) महाराज प्रदीपशाह (सन् १७१७ से सन् १७७२ तक); (२) महाराज ललितशाह (सन् १७७२ से सन् १७८० तक); (३) महाराज जयकृतशाह (सन् १७८० से सन् १७८५ तक); और (४) महाराज प्रद्युम्नशाह (सन् १७८५ से सन् १८०४ तक)। इसमें कोई संदेह नहीं कि उपरोक्त सब महाराजाओं ने इन्हें यथेष्ट प्रोत्साहन प्रदान किया और एक निश्चित धन-राशि तथा गांवों की मालगुज़ारी भी इनके नाम बांधकर इन्हें आर्थिक चिंताओं से मुक्त कर दिया। इतना ही नहीं, ये उनके दर्बार के एक अत्यन्त विश्वासपात्र अधिकारी थे। चित्रकार के अतिरिक्त ये एक कवि और दार्शनिक भी थे तथा राजनीति-कला में भी पटु थे; इसी कारण सब लोग इनका आदर और सम्मान करते थे।

केवल गढ़वाल-राज्य में ही इनका सम्मान नहीं था; बल्कि पूर्व में कांतिपुर (नैपाल) से लेकर पश्चिम में कांगड़ा तक सब पर्वतीय राज्यों में इनकी प्रसिद्धि पहुंच गई थी। इस बात के प्रमाण मिले

हैं कि ये कुछ दिनों तक कांगड़ा के राजा संसारचन्द (सन १७६३-१८२३) के दर्बार में भी रहे और वहां कई चित्रकारों का मार्ग-दर्शन किया। उन राज्यों में जाकर इन्हें कभी-कभी अपनी प्रतिभा दिखाने का अवसर भी मिलता रहता था; विशेषकर कांगड़ा, सिरमौर, गुलेर और मंडी आदि पश्चिमी हिमालय के रजवाड़ों में इनका काफ़ी प्रभाव था। इसका एक ज्वलंत उदाहरण इस प्रकार है—

महाराज जयकृत शाह के राज्य-काल में देहरादून इलाक़े के फौजदार घमंडसिंह ने विद्रोह कर दिया और राजधानी श्रीनगर की ओर बढ़ने लगा। जब गढ़वाल-राज्य की सेनायें उस विद्रोह को नहीं दबा सकीं, तो महाराज स्वयं इनकी चित्र-शाला में गए और अनुरोध किया कि सिरमौर जाकर वहां के राजा जगतप्रकाश से सैनिक सहायता प्राप्त करें। इन्होंने स्वयं न जाकर एक चित्र खींचा और उस पर एक कविता लिखकर श्री धनीराम नाम के एक संदेशवाहक द्वारा सिरमौर भेजा; उस चित्र व कविता का ठीक प्रभाव पड़ा और सिरमौरी सेना की सहायता से वह विद्रोह शांत कर दिया गया। वह कविता इस प्रकार थी—

"महाराज अति दुखित भयो।
चित्रसाल महि हमको कह्यो॥
मोलाराम काम तजि जाओ।
चित्रसाल नाहक हि बनाओ॥
चित्रसाल लिखि तुम क्या पायो।
हमको दुष्टन आइ दबायो॥
तब हम कीन्यो इहइ सवैय्या।
लागे तीर नहिं लागे रुपैय्या॥

"जगत प्रकास तुम भानु सम, तम कियो हमहु ग्रास,
ग्राह गह्यो ज्यों गज हि कौं, घमंडसिंह दियो त्रास।
कीच के बीच में हाथी फंसे, तब हाथी को हाथ दे हाथी निकासे॥"

"इहइ छंद हम दियो बनाई।
चित्र सहित लिखि दियो पठाई ॥"

इस प्रकार प्रसिद्धि-पूर्वक श्रीनगर-दर्बार में ये अपनी कला-साधना कर रहे थे कि सन १८०३ ई० का राजनैतिक भूकम्प आ गया; उसके फलस्वरूप श्रीनगर से गढ़वाल-राज्य सदा के लिये समाप्त हो गया और उसके स्थान पर कुछ वर्षों के लिये गोर्खा-शासन स्थापित हो गया। महाराज प्रद्युम्नशाह तो राज-परिवार को लेकर देहरादून चले गये; लेकिन ये अपनी चित्रशाला को लेकर कैसे व कहां जाते ? इसलिये श्रीनगर में रुक कर इन्होंने अपने भाग्य की परीक्षा करना उचित समझा।

लेकिन इनकी चित्र-कला की प्रसिद्धि तो पहिले ही नैपाल तक पहुँची हुई थी। इसलिए गोर्खा-सेना के सर्दार तथा गवर्नर श्री हस्तिदल चौतरिया ने इनका यथेष्ट सम्मान किया और इनकी आर्थिक सहायता पूर्ववत् जारी रखी। चित्रकला के अतिरिक्त वह इनके राजनैतिक ज्ञान से भी परिचित था; उसने इनकी चित्रकला की प्रशंसा करने के साथ-साथ इनसे यह भी अनुरोध किया कि ये गढ़वाल राज्य की उत्पत्ति और विस्तार का विवरण सुनाने की भी कृपा करें; उसी अवसर पर इन्होंने छंदबद्ध "श्रीनगर राज्य का इतिहास" गोरखा-गवर्नर को सुनाया। उसे सुनकर वह और भी प्रसन्न हुआ; तथा इन्हें चित्रकला के लिए सब सुविधायें प्रदान कर दीं; इसलिए ये और भी प्रसन्नता के साथ श्रीनगर में ही रह गये।

यद्यपि श्री मोलाराम गोरखा-दर्बार की कृपा पर आश्रित थे, तथापि इन्होंने अपनी स्वाधीन भावना नहीं छोड़ी; और आवश्यकता पड़ने पर स्पष्ट बात कहने से नहीं चूके। एक ऐसा अवसर शीघ्र ही आ गया। गोरखा-सर्दार गढ़वाल से आगे बढ़कर शिमला पर्वतों के कांगड़ा राज्य तक भी विजय प्राप्त करना चाहते थे

चूँकि ये उन सब राज्यों से भलीभांति परिचित थे, इसलिए श्री हस्तिदल ने इनसे वहां का विस्तारपूर्वक विवरण पूछा और वहां का नक़्शा भी बनवाया। इन्होंने कहा—"अगर कांगड़ा आदि को जीत कर आधीन करना चाहते हो तो नीति से काम लेना, प्रजा से धींगाधींगी न करना; वृत्तियां व जागीरें क़ायम रखना; न्यायपूर्ण ढंग से दंड देना और किसी को भला-बुरा न कहना।" गोरखा-गवर्नर ने कहा—"हमें तो नैपाल के राजा का हुक्म है कि पश्चिम की ओर बढ़ते चले जाओ, और फिर दिल्ली का तख्त जीतकर हिन्दू राज्य की स्थापना करो!"

"तुमरे मुख मंह सरसुति जो है।
तुम जो कहो सोई कछु होवै॥
तुम कवि हो हम कौं वर दीजै।
फते होय यह किरपा कीजै॥"

लेकिन इन्होंने, मानों अपनी दिव्य दृष्टि से भविष्य के अन्तराल के रहस्य को उद्घाटित करते हुए, कहा—"सत्य बात यह है कि तुम सतलज तक जा सकोगे; लेकिन फिर ११-१२ वर्ष ही वहां रह कर तुम रणजीतसिंह द्वारा निकाल दिये जाओगे; फिर गढ़वाल व कुमाऊँ से भी तुम्हें हाथ धोना पड़ेगा, और अन्त में फिरंगी का राज सारे भारतवर्ष में फैल जायेगा!"

इस एक घटना से मालूम होता है कि श्री मोलाराम ने तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति का गहरा अध्ययन किया था। इन्हें विश्वास हो गया था कि जब भारतवर्ष के राजा पारस्परिक द्वेष के कारण आपस में लड़ रहे हैं और दिल्ली की केन्द्रीय शक्ति समाप्त हो गई है, तब पश्चिम के चतुर कूटनीतिज्ञ अंग्रेज़ों के लिए भारतवर्ष के साम्राज्य को हथियाने का मार्ग साफ़ हो गया है। इसी तथ्य को समझ कर इन्होंने गोरखा-सर्दार को सलाह दी कि "क्यों व्यर्थ ख़ून-खच्चर करते हो, तुम्हारे लिए सर्वोत्तम बात यह है कि

तुम फिरंगियों से संधि कर लो।" लेकिन विजय के मद में चूर गोर्खा-सरदार इस प्रकार की राय को कैसे मान सकता था? उसने इनकी बात पर विश्वास नहीं किया और अकड़ कर कहा कि वे तो पश्चिम की ओर बढ़ते ही चले जायेंगे। इस पर इन्होंने निर्भीकतापूर्वक निम्न-लिखित पद कहे, जिनसे इनकी स्वाधीन भावना का परिचय मिलता है; साथ ही यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने समय के गढ़वाल-नरेशों को भी ये सन्मार्ग पर चलने की सलाह दिया करते थे, लेकिन किसी ने इनकी सलाह पर ध्यान नहीं दिया—

"समझै जो समझाया नाहीं।
पाछे पछतावै मन माहीं॥
हंसै लोक सब हांसी होवै।
बिनसै काज राज सब रोवै॥
प्रदीप साह जू ने नाहिं मानी।
लग्यो रोग तन महिं पैछानी॥
ललितशाह लालची भये।
सिगरो गढ़ लुंठन करि गये॥
पड़ी न पूरी फौज रखाई।
चढ़ी जिधर कौं भजि कै आई॥
ताके क्लेश प्राण धन गयो।
सुजस कछू जग में नहिं भयो॥
संतति को वह पापहि लाग्यो।
जैकृतिसाह जो गढ़ सों भाग्यो॥
राज खोय प्रद्युम्नहि लीन्यो।
ताके पाप पराक्रम कीन्यो॥
प्रद्युम्न प्राक्रम दुहूँ लड़ाये।
तिन पै काजी तुमहू आये॥

तुम हूं बूझी मसलत हमकौं।
जथा बुद्धि दीनी हम तुमकौं॥
हमरे मित्र फिरंगी नाहीं।
हमरो बैर न तुमरे माहीं॥
हमरो सिंह तहां न पठायो।
हमने तुमकौं नाहिं बुलायो॥
हम तुमकौं अटकावत नाहीं।
जित मन आवै जाव तहां ही॥"

इस प्रकार यह सिद्ध है कि ये एक ऊँची श्रेणी के विद्वान और राजनीतिज्ञ थे और एक निष्पक्ष दार्शनिक व तत्ववेत्ता की तरह अपने समय की राज्य-शक्तियों को सन्मार्ग बतलाते रहते थे। इनकी स्पष्टवादिता का महत्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि वह "गोर्ख्याणी" का ज़माना था और गोर्खा-सर्दारों के विरुद्ध एक साधारण सी बात कहना भी जान पर खेलने के बराबर खतरनाक था। तथापि उपयुक्त अवसरों पर ये सत्य बात कहने से नहीं चूके और गोर्खा-सर्दार ने भी इनकी विद्वत्ता और प्रतिष्ठा देखकर इनसे कुछ नहीं कहा, और अपने पूर्व-निश्चित कार्य-क्रम के अनुसार पश्चिम-विजय का कार्य जारी रखा। लेकिन अन्त में परिणाम वही हुआ जो इन्होंने अपनी भविष्यवाणी में कहा था।

गोर्खा-साम्राज्य ने शिमला के पर्वती राज्यों तक शीघ्र अपनी सीमाएँ बढ़ा लीं; लेकिन उसके बाद ही उसे भारत में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई ब्रिटिश शक्ति का मुक़ाबला करना पड़ा। और अन्त में सन् १८१५ ई० में, केवल १२ वर्ष तक यहां रह कर, गढ़वाल तथा अन्य पड़ोसी पर्वतीय राज्यों से हाथ धोकर, उसे अपनी प्रारम्भिक स्थिति ही स्वीकार करनी पड़ी।

खैर, अब आये अंग्रेज़। उन्होंने देहरादून, मसूरी व चकराता का इलाक़ा हथियाने के सिवाय अलकनन्दा से पूर्व का गढ़वाल भी

अपने सीधे अधिकार में ले लिया और तत्कालीन गढ़वाल-नरेश महाराज सुदर्शनशाह को अलकनन्दा से पश्चिम का कुछ भाग दे दिया। अतः वे टिहरी में अपनी नई राजधानी बना कर वहीं रहने लगे। फलस्वरूप श्री मोलाराम के सम्मुख फिर एक जटिल प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि ये श्रीनगर में ही रहें, या अपने गुण-ग्राहक महाराजाओं के तत्कालीन उत्तराधिकारी के साथ टिहरी जाकर नये सिरे से अपना जीवन प्रारंभ करें। इनकी उम्र उस समय लगभग ७५ वर्ष की हो चुकी थी, और अपनी चित्रशाला को उठा कर कहीं अन्यत्र ले जाना इनके लिए प्रायः असम्भव था; इसलिए सोच-विचार करने के बाद इन्होंने श्रीनगर में ही रहने का निश्चय किया तथा मृत्यु-पर्यन्त वहीं रहे।

इन्होंने अपने लम्बे जीवन-काल में कई युग देखे थे। प्रथम युग गढ़वाल-नरेशों की छत्रछाया में सन् १८०३ तक बिताया था; वह इनकी कला-साधना की पराकाष्ठा का युग था; इसके अतिरिक्त समस्त पर्वतीय राज्यों में इनकी पहुँच थी और सब नरेश इनका आदर व सम्मान करते थे; इनके अधिकांश चित्र उसी प्रथम युग के हैं। इनके जीवन का द्वितीय युग गोरखा-शासन-काल में बीता; ऐसा प्रतीत होता है कि गोर्खा-सर्दारों द्वारा इनकी आर्थिक सहायता जारी रखने के कारण ये कला-साधना जारी रख सके, उस युग में इन्होंने एक काव्य "श्रीनगर राज्य का इतिहास" के रूप में तैयार किया, तथा गोर्खा-गवर्नर को सुनाया। तृतीय युग इनका अंग्रेजों के आगमन के बाद सन् १८१५ से मृत्यु-पर्यन्त (सन १८३३ ई० तक) माना जा सकता है।

जीवन के इस अन्तिम चरण में, ऐसा अनुमान है कि, इन्हें आर्थिक निश्चिन्तता नहीं रही, क्योंकि यह कहा जाता है कि अंग्रेज-शासकों के समक्ष इन्होंने पुराने गढ़वाल-नरेशों द्वारा दिये गये आर्थिक अनुदान तथा बाद में गोर्खा-गवर्नर द्वारा तत्सम्बन्धी

पुष्टि-पत्र प्रस्तुत किये, तथा अन्तिम अधिकारी तक प्रयत्न किया, लेकिन इन्हें सफलता नहीं मिली, अर्थात् इनके आर्थिक अनुदान बन्द हो गये। उधर टिहरी जाने से एक बार इनकार कर देने के कारण ये फिर उधर प्रयाण करने का विचार भी नहीं कर सकते थे। अतः अपनी पहिले की कमाई तथा वर्तमान साधनों का उपयोग करके अपने पूर्वजों के स्थान श्रीनगर में ही किसी प्रकार इन्होंने अन्तिम अट्ठारह वर्ष बिताये; यद्यपि श्रीनगर की दुर्दशा और अपनी आर्थिक चिन्ताओं के कारण इन्हें नजीबाबाद, लखनऊ, कान्तिपुर, लाहौर, कांगड़ा, जयपुर आदि की यात्रा करनी पड़ी थी।

वृद्धावस्था तथा आर्थिक चिन्ता—इन दो कारणों ने स्वभावतया इनमें अध्यात्म-भावना को प्रबल किया। इसीलिये इन्होंने उस युग में अध्यात्म तथा मनस्तत्व-सम्बन्धी काव्यों की रचना की। साथ ही इन्होंने अपनी चित्रकला के लिये 'दशावतार' व देवी शक्ति के विभिन्न स्वरूप यथा 'अष्ट दुर्गा' व ग्रह आदि धार्मिक विषय छाँटे। इसके अतिरिक्त ये नये कलाकारों को शिक्षा देते रहे। उदाहरण-स्वरूप महाराज सुदर्शनशाह के चाचा, कुंवर प्रीतमशाह, इनके शिष्य थे और चित्रकला सीखने के लिये टिहरी से ३० मील पैदल चलकर इनके पास श्रीनगर आया करते थे। उनके शब्द ये हैं—

"टिहरी से तिरत रहें गुरुद्वारे सिर नगर।
आवत जात हि पग थके दियो कवि नहिं सगर॥"

इस प्रकार अन्तिम क्षण तक कला-साधना करते हुए तथा अपनी कला का प्रचार व प्रसार करते हुये इन्होंने श्रीनगर में सन् १८३३ ई० में इह-लीला संवरण की !!!

इनके चित्र तथा चित्र-कला

डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के शब्दों में—"मध्यकाल की

सांस्कृतिक सुषुप्ति के युग में पहाड़ी कलाकार ही कला के भारतीय-पन को जागरित रख सके हैं। काश्मीर से लेकर गढ़वाल तक के प्रदेश में कला की एक लहर चलती रही है, जो भारतीयता के लिये प्रसिद्ध है।···प्रतिच्छवि की यथार्थता और भाव की आदर्शता—ये दोनों पहाड़ी शैली की विशेषतायें हैं। पहाड़ी चित्रकार भावुक होते हैं; उनके बनाये चित्र दर्शकों के हृदय में रस का उद्रेक करते हैं। उनकी कृतियां बड़ी अर्थभरी और सजीव होती हैं; उनकी रेखा-रेखा में जीवन का स्पन्दन होता है और उन में उस प्रतिभा के दर्शन होते हैं, जो प्रति पल नवोन्मेष प्राप्त करने वाली रमणीयता का उत्पादन करती है। उनके विषयों का क्षेत्र विस्तृत है। मानव जाति के सभी भावों को चित्रित करने में उन्होंने सफलता पाई है। गढ़वाल ने भी इस पहाड़ी कला की सफलता में योग दिया है।"

तथ्य यह है कि गढ़वाल ने पहाड़ी-चित्रकला के विकास में योग ही नहीं दिया, बल्कि श्री मोलाराम के नेतृत्व में उसे पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया था; क्योंकि ये ही उसके सर्वश्रेष्ठ तथा प्रतिनिधि कलाकार थे। इन्होंने अपनी प्रतिभा का चमत्कार यहां तक दिखाया कि पहाड़ी चित्रकला में "गढ़वाल शैली" का एक विशेष स्थान बन गया है।

इनके चित्रों के विषय बहुत विस्तृत हैं—नायिका-भेद; ऋतुओं और प्रकृति के विषय; 'दशावतार,' 'अष्टदुर्गा', और 'ग्रह' आदि पौराणिक विषय; तथा दाम्पत्य-जीवन और तत्कालीन राज-परिवार के जीवन पर इन्होंने चित्र बनाये थे। जिन बारीकियों को कवि लोग अपनी साहित्यिक रचनाओं में नहीं दिखा पाये, उनको इन्होंने रेखाओं और रंगों के द्वारा प्रदर्शित किया है। चूँकि ये स्वयं एक कवि थे, इसलिये कई साहित्यिक शब्द-चित्र इनके चित्रों में बड़े आकर्षक ढंग से जीवित हो उठे हैं।

इनके चित्रों की कतिपय विशेषतायें इस प्रकार हैं—ये रंगों के मिश्रण में बहुत कुशल थे, विशेषकर सुनहरे और हरे रंग के मिश्रण में। उन दिनों एक-चक्षु-चित्र बनाने की प्रणाली प्रचलित थी; इसलिये इन्होंने भी सभी चित्र एक-चक्षु बनाये। इनके चित्रों में हिमालय की छटा और गढ़वाली वृक्षों व पशु-पक्षियों की शोभा भी स्पष्ट दिखाई देती है; प्रायः प्रत्येक चित्र में इन्होंने श्रीनगर के दोनों ओर के 'नर' व 'नारायण' पर्वत तथा बीच में बहती हुई अलकनन्दा की धारा दिखाई है; साथ ही गढ़वाल में सर्वत्र फूलने वाले 'मनोरा' वृक्ष को भी चित्रित किया है। प्रारम्भ में लगभग ३० वर्ष की आयु तक ये मुग़ल शैली में चित्र बनाते थे; बाद में इन्होंने पहाड़ी शैली को अपनाया और उसमें आचार्यत्व प्राप्त किया। महिलाओं के शरीर-शौष्ठव तथा उनकी वेष-भूषा का इन्होंने विस्तार-पूर्वक बारीकी के साथ चित्रण किया है। लगभग दो सौ वर्ष बीत जाने पर भी इनके चित्रों की चमक व स्पष्टता अभी तक पूर्ववत है। इनके तथा गढ़वाल-शैली के अन्य कलाकारों के चित्रों में एक विशेपता यह भी है कि उच्च वंश की महिलाओं तथा भद्र पुरुषों के माथे पर इन्होंने आड़ा अर्धचन्द्राकार चंदन-टीका अंकित किया है; गोल छोटा या ऊपर से नीचे को नहीं, वरंच बायें से दायें अर्द्धचंद्राकार टीका; इस चिन्ह से इनके चित्र इनका नाम न होने पर भी पहिचाने जा सकते हैं।

पहाड़ी तथा गढ़वाल-शैलियों के अन्य चित्रकारों से एक अधिक विशेषता इनमें यह है कि इन्होंने प्रायः प्रत्येक चित्र पर अपना नाम व तिथि अंकित कर दी है तथा सुन्दर कवितायें लिखकर उन्हें चमका दिया है। कुछ उदाहरण यहां पर दिये जाते हैं, जिनसे इनकी काव्य-प्रतिभा के साथ-साथ इनकी आदर्श भावना का भी पता लगता है कि ये निर्भीकता के साथ स्वयं अपनी आत्मा की संतुष्टि के लिये कला-साधना करते थे; किसी रईस या राजा को

लुभाकर रुपया कमाने के लिये नहीं। इन्हें तो केवल एक ही कामना थी कि गुण-ग्राहक इनके गुणों को पहिचानें।

सन् १७७५ ई० में बनाये गये एक चित्र का शीर्षक है—"मोर प्रिया"; क्योंकि उसमें अपने प्रिय मोर के साथ खेलती हुई एक नवयौवना को चित्रित किया गया है। उसके ऊपर यह कविता अंकित है—

"कहां हजार कहां लाख हैं, अरब खरब धन ग्राम !
समझै मोलाराम तो, सरब सुदेह इनाम ॥
सम्वत १८३२ फागुन १ सुदी"

सन् १७६६ में तैयार किये गये एक चित्र में इन्होंने श्रीनगर के रनिवास का चित्र अंकित किया है। उसका शीर्षक श्री मुकुन्दी-लाल ने "रानियों को सान्त्वना देना" (कनसोलिंग दि क्वीन्स) रखा है। यह चित्र कुछ अपूर्ण है; लेकिन इसके पृष्ठ भाग पर श्री मोलाराम ने ये शब्द अंकित किये हैं—

"झूठे सिरदार कारबार चोबदार खड़े,
झूठे लेखवार कलम कागद रोशनाई है।
झूठे सब हरफ एक सांच न छटांक जामे,
झूठे ही छाप मुलक मलाक की दुहाई है।
झूठे अत नैन बैन. झूठे सब लेन देन,
झूठे धरम करम औ करार आजमाई है।
कहत मौलाराम गुनी लोकन कौं कठिन भाई,
झूठे सौं ना काम जिनि की सांच की कमाई है॥
१८२६ का फागुन १५"

सन् १७७१ का इनका एक चित्र "मस्तानी' शीर्षक का है; उस सुन्दर चित्र के शीर्ष भाग में यह कविता अंकित है—

"मस्तानी चाल मस्त शराबी बैठो अपने खाने में,
सुने राग झुकि झांकि रही सखि प्याला दे दस्ताने में।

पिवत भर भर फिर फिर मांगत है तरातर दाने में
कवि पिवत मौलाराम मुसव्वर खैंची यह तस्वीर रिझाने में ॥
सम्वत १८२८ साल चैत गते १६"

इनके सर्वोत्तम चित्रों में से एक "महादेव-पार्वती" शीर्षक का है। यह चित्र डा० आनन्द के० कुमारस्वामी ने सन् १९०६ में श्री मुकंदीलाल की मार्फत इनके वंशधर श्री बालकराम साह से खरीदा था; और अब यह बोस्टन म्यूज़ियम में है; उन्होंने इसे अपनी "राजपूत चित्रकला" पुस्तक में प्रकाशित किया था। इस चित्र में मनोहारी भूमितले तथा बन-सौन्दर्य का अनुपम चित्रण किया गया है।

इनका एक और उत्कृष्ट चित्र "कृष्ण का राधा से मिलन" (कृष्ण विज़िटिंग राधा) है। यह पहिले टिहरी के कुंवर विचित्र शाह के संग्रह में था; उनके पुत्र राव वीरेंद्र सिंह से बाद में यह श्री मुकुन्दीलाल को प्राप्त हुआ; और अब उनके संग्रह में है। इसमें कलाकार ने अपने रंगों का पूरा उपयोग किया है; श्री मोला-राम की कला व शैली की सम्पूर्णता इस चित्र में दिखाई पड़ती है। अन्य बातों के अतिरिक्त इसमें गढ़वाल के सामान्य निवासियों के मकानों की स्थापत्य-कला की झांकी भी दिखाई देती है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण यह चित्र लन्दन-प्रदर्शिनी (सन् १९४७-४८) और दिल्ली की अखिल भारतीय कला प्रदर्शिनी (सन् १९४८-४९) में भी प्रदर्शित किया गया था।

महाराज टिहरी-गढ़वाल के संग्रह में श्री मोलाराम का एक अत्यन्त उत्कृष्ट चित्र है; उसका शीर्षक "बासक शय्या नायिका" है। उस चित्र के ऊपरी भाग में कवि-चित्रकार ने स्वयं इस प्रकार शब्द-चित्र खींचा है—

दोहा—"बन ठंन आय सहेट मैं बैठे अत सकुचाय।
ज्यों पतंग पिंजरा हि मैं, बासक सज्जा जाय।।"

कवित्त—"फूले जल कमल कहीं, लतिका लिपटाय रही,
सघन कुंज पुंज मैं, सुगन्ध गन्ध भोगती।
करत हैं कलोल हि जहं, पत्ती पशु ठौर ठौर,
चौंकि चौंकि चितवैं चहुं वोर नैन तोकती॥
अत रूप की उजारी, विमल दीप की सिखा-सी दिपैं,
छीपैं ना छीपायो गात ज्यों ज्यों वह रोकती।
कहत कवि मौलाराम, नील सारी सिर वोढ़,
प्यारी अँग कौं दुराय नन्दलाल कौं विलोकती॥"

श्री मोलाराम का एक और उत्तम कोटि का चित्र श्री मुकन्दीलाल के संग्रह में है। उसका शीर्षक है "अभिसारिका नायिका"। चित्रकला की पहाड़ी शैली का एक सर्वोत्तम चित्र होने के कारण वह लन्दन-प्रदर्शिनी (सन १६४७-४८) में प्रदर्शित किया गया था। इस चित्र में एक अभिसारिका नायिका को एक अंधेरी, तूफ़ानी व बादलमय रात में अपने प्रियतम के पास जाते हुए चित्रित किया गया है; इस श्रेणी का इससे सुन्दर चित्र पाना असम्भव है। इसी शीर्षक से इनका एक और चित्र महाराज टिहरी-गढ़वाल के संग्रह में है; उसके शीर्षभाग में श्री मोलाराम ने यह शब्द लिखे हैं—

दोहा—"बिन दूती सन्देश ज्यों, प्रीतम के गृह जाय।
वह कामा अभिसारिका, कवि जन देहि बताय॥"

सवैय्या—"घोर घनघोर चहुं ओर नीर घोर शब्द भारी,
भय-कारी निज देह ना दिखात है।
मूसल जलधार यहां परत है फुवार,
अरु झिल्ली झनकार अत दामिनि जंभात है॥
लिपट्यो पग नाग पत फटात है कंटक मैं,
सुझत नाहिं तोहि, भूम भूषन गिरात है।
कहत मोलाराम खड़ी भूतन की वैन,
अरी जोगन कै भोगन तू निसंख चली जात है।

सम्वत १८६७ भाद्रपद प्रविष्ट १५"

श्री मुकन्दीलाल के संग्रह में इनका एक और उत्कृष्ट कोटि का चित्र "उत्कंठिता नायिका" है। इस चित्र में कलाकार ने एक आकर्षक रमणी की ही रचना नहीं की है, बल्कि सुन्दर भूषण, वृक्ष और फूलों का भी चित्रण किया है। इसी शीर्षक से इनका एक और चित्र महाराज टिहरी-गढ़वाल के संग्रह में है, जिसके शीर्षस्थान पर निम्नलिखित कविता लिख कर इन्होंने उसमें प्राण भर दिये हैं :—

दोहा—"उत्कण्ठा ताको कहैं, सोधे अपनो प्रान।
किह कारन आये नहीं, प्रिय संकेत-स्थान॥

सवैय्या—"कै धौं मम प्रीत प्रतीत लहै,
कै धौं कछु कहुं सौं क्रोध भरे।
कै धौं व्रत बासर आजि भयो,
कै धौं अपने गृह काज करैं।
कवि मोलाराम घटैं रातैं घनश्याम,
कै धौं वह देह विराम परे॥

दोहा—"मथन करे मन आपना, सुन समाध लगाय।
कै धौं जोगन जोग को, बन में टाड़ी आय॥

सम्वत १८६७ सावन मासे कृष्ण पक्षे आदित्य वासरे शुभम"

ऊपर श्री मोलाराम के थोड़े से चित्रों का उल्लेख किया गया है; वैसे उनकी संख्या सैकड़ों में है। इनकी इसी कला-साधना के कारण कला-पारखियों ने इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता श्री यदुनाथ सर्कार ने लिखा है—"मोलाराम कांगड़ा-शैली के प्रमुख चित्रकार हुए हैं, जो कि १८वीं शताब्दी में गढ़वाल के पर्वतों में हुए थे। उनके रंग बहुत सुन्दर हैं; उनके पशु-पक्षी और वृक्ष-लता इत्यादि में एक अद्भुत कोमलता और सरसता है।" श्री सर्कार ने "कांगड़ा-शैली" का उल्लेख इसलिये किया, क्योंकि उस समय तक एक अलग "गढ़वाल-शैली" का पता नहीं लग पाया

था । उनके बाद सबसे पहिले डा० आनंद के० कुमारस्वामी ने सन १६१६ ई० में "राजपूत चित्रकला" पुस्तक में पहाड़ी शैली से अलग "गढ़वाल शैली" की घोषणा की तथा श्री मोलाराम को उस शैली का आचार्य घोषित किया।

उनके बाद सन् १६३० में श्री जे० सी० फ्रेंच गढ़वाल आये; लैंसडौन में वे श्री मुकन्दीलाल से मिले और उनका संग्रह देखा; उसके बाद वे श्रीनगर भी गये और श्री मोलाराम के वंशधरों से मिले तथा उनके संग्रह का भी अवलोकन किया। अगले वर्ष सन १६३१ ई० में उन्होंने "हिमालयन आर्ट" नाम की पुस्तक प्रकाशित की, और उसमें श्री मोलाराम व अन्य गढ़वाली कलाकारों का विशद वर्णन किया । उन्होंने लिखा है—"यद्यपि मोलाराम अपने समकालीनों से बहुत ऊँचे व बड़े चित्रकार नहीं थे, तथापि वे पहाड़ी चित्रकला के आदर्श चित्रकार हैं। उनके जीवन में हिमालय (पहाड़ी) चित्रकला के उत्थान और पतन की गाथा मिलती है।"

बंगाल के कला-पारखी श्री अजित घोष ने लिखा है कि—"श्री मोलाराम के कार्य की प्रशंसा किये बिना राजपूत चित्रकला पर कोई भी निबंध पूर्ण नहीं कहा जा सकता। गढ़वाली चित्रकारों में वे सब से महान थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि गढ़वाल शैली में सबसे सुन्दर और अधिक व्यक्तित्वपूर्ण कार्य का प्रतिनिधित्व श्री मोलाराम करते हैं।"

बंगाल के ही एक और प्रसिद्ध कला-पारखी प्रोफेसर ओ० सी० गांगुली ने अपने एक लिखित भाषण में कहा था—"गढ़वाल के मोलाराम के नेतृत्व में कांगड़ा शैली के चित्रकारों ने भारतीय चित्रकला के समूचे इतिहास में सुन्दरतम अध्याय जोड़ा है। वे एक सूर्यप्रकाशित दिवस की अन्तिम किरणों का प्रतिनिधित्व करते हैं, और प्राचीन भारतीय कला के प्रकाशमान सूर्यास्त के चारों ओर जो बादल मंडरा रहे थे उन्हें इन्होंने अपनी रहस्यवादी और आध्या-

त्मिकतापूर्ण भावनाओं से रंगीन बनाया है।"

समकालीन तथा उत्तराधिकारी चित्रकार

श्री मोलाराम स्वयं एक उच्च कोटि के चित्रकार ही नहीं थे, बल्कि इनके आचार्यत्व के कारण दूर-दूर से भारतवर्ष व विशेषकर पर्वतीय इलाकों के कला-प्रेमी लोग इनके पास आया करते थे। इसीलिये इन्होंने श्रीनगर में एक सुन्दर "चित्रशाला" (स्टूडियो) स्थापित की थी। बाहर से आने वालों में दो व्यक्तियों का विशेष रूप से उल्लेख मिलता है। एक थे श्री फ़र्दाक़ बाकर अली; उन्होंने इनके चित्रों को देखकर यह कविता बनाई थी—

"फ़रदाक बाकर अली दर जहाने इस्म,
मुसव्वर ने तसवीर खैंची रस्म,
वज़न सबने इन चुनी रंग आब
खिर्दमन्द विसियार तुम दर जहां
कर्ते हो खूबी सबहिं सौं मियाँ
सखी मर्द आलम में कहते तुम्हें।"

और अन्त में यह कहा कि—

"रहें हम हमेशाई तुम्हारे ही संग।
करैं मसक तस्वीर रंगीन रंग॥"

इसका तात्पर्य है कि श्री बाकर अली ने इनसे रंगीन तस्वीर बनाने का 'मसक' (मश्क=अभ्यास) किया था। उनके अतिरिक्त श्री मणिराम वैरागी नाम के एक कला-प्रेमी विद्वान पहिले सन् १७७५ में और फिर सन् १८१८ में श्रीनगर आये थे। उन्होंने अपनी पहिली मुलाक़ात के अवसर पर इनकी चित्रशाला में आकर इनसे कहा था—

"किरति सुनि तुम्हारी कवि आये हैं मुसव्वरों पास,
कानन की सुनी बात सांचैई ठहराइये।

कहो मौलाराम खलक सारी सरनाम हो,
तुम पै गुन जेतो मौ को आंख दिखाइये ।।"

फिर जब सन् १८१८ में उन्होंने श्रीनगर की उजाड़ दशा देखी तो कहा था—

"संवत ठारा सै बारा के शाल मैं आये, श्रीनगर गुल्ज़ार रह्यो ।
अठारा पांच पिचत्तर मैं जितहिं क्ति, शहर उजार भयो ॥
नृप मन्त्री दीष्ट परै न कोई, गुनि सज्जन लोक विना हि रह्यो ।
मनिराम वैरागी पूछत है, किह कारण श्रीनग्र गयो ।।"

इसी जीवन-विवरण के पिछले अंश में कंवर प्रीतमशाह का उल्लेख किया जा चुका है, जो टिहरी में राजधानी हो जाने के बाद भी इनके पास श्रीनगर चित्रकला सीखने आया करते थे । यह निश्चित है कि उन्होंने इनसे चित्रकला सीखी; लेकिन स्वयं उनके द्वारा बनाये हुए किसी चित्र का अभी तक निश्चित रूप से पता नहीं लगा है ।

उनके अतिरिक्त श्री मोलाराम के दो और गढ़वाली शिष्य थे—चैतू और माणकू । एक अनुमान के अनुसार वे इनके ही भाइयों में से थे, यद्यपि इसका प्रमाण नहीं मिला है । लेकिन यह निश्चित है कि वे श्री मोलाराम के समकालीन शिष्य थे, और टिहरी में राजधानी बन जाने के बाद सम्भवतया महाराज सुदर्शनशाह की संरक्षता में वहां चले गये थे । उनके संग्रह में इनके कई चित्र हैं, तथा कई चित्र अन्य स्थानों में भी पहुँच गये हैं । भारतीय कला-जगत को इनसे परिचित कराने का मुख्य श्रेय श्री एन० सी० मेहता को है, जिन्होंने इनके दो चित्र अपनी पुस्तक "भारतीय चित्रकला का अध्ययन" (स्टडीज़ इन इण्डियन पेंटिंग) पुस्तक में प्रकाशित किये ।

श्री माणकू के एक चित्र का शीर्षक "कृष्ण और गोपों की आंख-मिचौनी" (कृष्ण एण्ड गोप'स हाइड एण्ड सीक गेम) है; यह चित्र

टिहरी-नरेश के संग्रह में है। इसके पीछे "मानक-की-लिखी" अंकित है। इनका एक और चित्र "कृष्ण और राधा" शीर्षक से है; उसके शीर्षस्थान पर इन्होंने यह पद लिखा है—

"मुनि-वसु-गिरि सोमाय संवते विक्रम वदे,
गुण गणिता गरिष्टा मालिनी बृत्त चृत्ता।
व्यास्च्छेद-अजा-भक्त माणकू चित्रकर्ता,
ललिता लिपि विचित्रम गीत गोविंद चित्रम॥"

इस पद से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने इस चित्र की रचना सम्वत् १८८७ वि० (अर्थात सन् १८३० ई०) में की थी; तथा उन्होंने सुप्रसिद्ध संस्कृत काव्य "गीत गोविन्द" की कोमल कान्त पदावली के भाव अपने चित्रों में अंकित करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने सम्भवतया महाकवि बिहारी की "सतसई" के आधार पर भी कुछ चित्र तैयार किये थे। पर्वतीय प्रदेश के निवासी होने के कारण प्रकृति की ओर उनका स्वाभाविक आकर्षण था और उसे चित्रित करने में उन्होंने यथेष्ट सफलता प्राप्त की थी।

श्री चैतू का नाम विशुद्ध पर्वतीय है। उनके एक चित्र का शीर्षक "यादव-महिला-हरण" (रेप ऑफ़ दि यादव वीम्यन) है। उस चित्र में श्री मोलाराम द्वारा प्रतिपादित गढ़वाल-शैली का पूरा आभास मिलता है। उनके एक अन्य चित्र का शीर्षक है—"कृष्ण की एक गोपी से कर-वसूली" (कृष्ण टेक्स टोल फ्रॉम ए गोपी); इस चित्र में कृष्ण रास्ते से गुज़रती हुई एक गोपी से दही का अपना 'कर' वसूल करते हुए दिखाये गए हैं। श्री एन० सी० मेहता ने अपने एक लेख में इस चित्र की खूब प्रशंसा की है।

स्वयं श्री मोलाराम के पारिवारिक जनों ने भी इनसे यह कला सीखी थी; लेकिन वे अधिक प्रगति नहीं कर पाये। इसका मुख्य कारण राजाश्रय तथा गुण-ग्राहकता का अभाव था, जिसके कारण वे सरकारी नौकरियों पर लग गये या स्वर्णकारी का अपना पैतृक

धन्धा करने लगे। इनके बड़े पुत्र श्री ज्वालाराम (सन् १७८८-१८४८) कुमाऊँ व गढ़वाल के सबसे प्रथम अंग्रेज कमिश्नर सर हेनरी रैमज़े के दफ़्तर में क्लर्क थे और बाद को उनके रीडर के पद तक पहुँच गए थे। उन्होंने अपने मेधावी पिता से प्रेरणा पाकर कुछ कला-सेवा की और कई स्केच, ड्राइङ्ग, नक़्शे व चित्र भी तैयार किये। श्री मुकन्दीलाल को उनकी एक स्केच-पुस्तिका प्राप्त हुई है; उसमें ६३ पृष्ठ हैं और उस पर तिथि व हस्ताक्षर भी अंकित हैं; उस पुस्तिका में लाइन-ड्राइङ्ग के कुछ अच्छे नमूने हैं। उस पर १५ फर्वरी, सन १८३४ की तारीख़ अंकित है तथा एक पृष्ठ पर फारसी में ये शब्द लिखे हैं—"वाक़ै बतारीख़ पांच दहम माह फर्वरी सन अट्ठारह सौ चौंतीस—मुक़ाम हवलबाग़ बराये ख़ातिर बचुवा ज़र-गर नविस्त बदस्तख़त ज्वालाराम मुसव्वर।" श्री जे० सी० फ्रेंच ने अपनी "हिमालयन आर्ट" पुस्तक में भी इनके एक-दो चित्र दिये हैं, लेकिन उनसे कला की गिरती हुई दशा का स्पष्ट आभास मिलता है।

श्री मोलाराम के छोटे पुत्र श्री शिवराम (सन १७९०-१८५५ ई०) ने भी चित्रकला की ओर कुछ ध्यान दिया, लेकिन युवावस्था में ही उनका दिमाग़ कुछ बिगड़ गया और वे आगे प्रगति नहीं कर पाये। सम्भवतया उन्हीं का नाम श्री आत्माराम भी था। उनके दो चित्र "शिव-पार्वती" और "राधा-कृष्ण" बरेली के श्री गिरिजा-कुमार जोशी के संग्रह में हैं, लेकिन वे दोनों साधारण कोटि के हैं। श्री मोलाराम के एक पौत्र श्री तेजराम (सन १८३३-१९०४ ई०) से स्वयं श्री मुकन्दीलाल ने अपने विद्यार्थी-जीवन में मुलाक़ात की थी। उनके पुत्र, अर्थात आचार्य के प्रपौत्र, श्री बालकराम (जन्म—सन १८६७ ई०) अभी तक जीवित हैं। उनके एक और प्रपौत्र श्री तुलसीराम (जन्म—सन १८८८ ई०) भी अभी तक जीवित हैं। लेकिन इन सब ने केवल अपने महान पूर्वज के चित्र सुरक्षित रखे

हैं तथा उदारतापूर्वक उनमें से अनेक चित्रों को कला-पारखियों तक पहुँचाया है; इसके अतिरिक्त इनमें से किसी ने भी कला-साधना नहीं की। वर्तमान पीढ़ी में श्री मोलाराम के नवयुवक वंशधर श्री बैजनाथ तोमर ने अवश्य लखनऊ आर्ट्स एण्ड क्राफ़्ट्स स्कूल में आधुनिक भारतीय चित्रकला की शिक्षा पाई है, लेकिन उन्होंने भी कला-साधना के क्षेत्र में कोई नया क़दम नहीं उठाया है। इस प्रकार श्री ज्वालाराम के द्वारा कुछ चित्र-कला के होने के सिवाय इनके वंशधरों ने अब अपनी जीवन-दिशा ही बदल दी है!

कवि तथा इतिहास-लेखक के रूप में

अब तक केवल एक चित्रकार के रूप में ही श्री मोलाराम की जीवनी पर विचार किया गया है। लेकिन इसके अतिरिक्त ये एक अच्छे कवि व इतिहास-लेखक भी थे। इनकी कविताओं का संग्रह कुछ ही वर्ष पहिले इनके वंशजों से श्री मुकन्दीलाल को प्राप्त हुआ था, और उन्होंने 'हिन्दुस्तानी' में प्रकाशित "चित्रकार कवि श्री मोलाराम की चित्रकला और कविता" शीर्षक अपनी लेखमाला में उसका उपयोग किया है। उस संग्रह से ज्ञात होता है कि कविता में इनकी काफी गति थी; यद्यपि काव्य-कला की दृष्टि से उनका अधिक महत्व नहीं है, तथापि अन्य दृष्टियों से उनका बड़ा महत्व है। ये केवल हिन्दी में ही कविताएँ नहीं लिखते थे, बल्कि संस्कृत व फ़ारसी में भी इन्होंने कई कविताएँ लिखी थीं।

इनकी कविताओं को तीन भागों में बांटा जा सकता है--सर्वप्रथम इनकी वे कवितायें हैं जो इन्होंने अपने चित्रों पर लिखी हैं। इन कविताओं में इन्होंने अपनी कला के आदर्श तथा अपने चित्रों के विषय आदि की व्याख्या की है। इस श्रेणी के कुछ उदाहरण इनकी चित्रकला का विवरण देते समय दिये जा चुके हैं।

दूसरी श्रेणी में इनकी वे कवितायें हैं, जिनमें इन्होंने गढ़वाल

राज्य के इतिहास तथा समकालीन परिस्थिति पर प्रकाश डाला है। ये विशुद्ध वर्णनात्मक हैं। इस दिशा में इनका सबसे बड़ा काव्य-ग्रन्थ "श्रीनगर राज्य का इतिहास" है; यह काव्य इन्होंने गोरखा-गवर्नर श्री हस्तिदल चौतरिया के अनुरोध पर सन् १८०३ ई० में लिखा था। उस काव्य से भी कुछ उदाहरण इस निबन्ध में दिये जा चुके हैं। लेकिन काव्य-कला से अधिक इनके काव्य का महत्व इतिहास के विद्यार्थियों के लिए है।

श्री मोलाराम ने इस 'इतिहास' में यह बताया है कि धारा नगरी से आये हुए एक राजकुमार भौना (भवन) पाल के द्वारा गढ़वाल राज्य की स्थापना हुई; उन्हें एक सत्यनाथ योगी के दर्शन हुए। भौनापाल की माता ने योगी को ५२ रोटियां खिलाईं, इसलिए उन्होंने आशीर्वाद दिया कि "५२ पुश्त तक तुम्हारा राज खूब फूले-फलेगा।" इस उक्ति के अनुसार भौनापाल से अभयपाल व कर्णपाल आदि होते हुए श्यामशाह तक गढ़वाल के ५२ राजा हुए और तब तक यहां का राज्य अपनी ख्याति और प्रभुत्व की पराकाष्ठा पर रहा; लेकिन फिर—

"पाछे होन लगी गढ़ हानि।
पूर्ण भई जोगेश्वर बानि॥"

इसलिए श्री मोलाराम ने महाराज श्यामशाह से पहिले के राजाओं का वर्णन नहीं दिया है—यहां तक कि पराक्रमी महाराज अजयपाल और महाराज बलभद्रशाह का भी ज़िक्र नहीं किया है। लेकिन उनसे आगे के प्रत्येक महाराज का विस्तृत वर्णन दिया है और उनके समय की मुख्य-मुख्य घटनायें दी हैं।

इस सम्बन्ध में श्री मोलाराम ने राजाओं की जो सूची दी है, यद्यपि वह टिहरी-राज्य-वंशावली तथा श्री हरिकृष्ण रतूड़ी की सूचियों से नहीं मिलती, तथापि उसकी सत्यता का प्रमाण उस सूची से मिलता है जो मि० एटकिनसन को अल्मोड़ा में मिली

थी; उस सूची की जांच-पड़ताल उन्होंने ब्रिटिश राज्य का प्रारम्भ होने के समय प्राप्त हुई जागीरों व दानपत्रों आदि से कर ली थी। लेकिन एक दृष्टि से श्री मोलाराम का 'इतिहास' मि० एटकिनसन के 'इतिहास' से भी अधिक महत्वपूर्ण है—दोनों ने जैसा सुना, वैसा लिख दिया, क्योंकि लिपिवद्ध विवरण तो पहिले से कोई था नहीं—लेकिन जहां मि० एटकिनसन ने कुमाऊँ के राजाओं के विस्तृत इतिहास के साथ-साथ प्रसंगवश गढ़वाल के राजाओं का उल्लेख मात्र कर दिया है, वहां श्री मोलाराम ने मुख्य रूप से गढ़वालों का ही 'इतिहास' लिखने की कोशिश की है।

तथ्य यह है कि यद्यपि श्री मोलाराम के 'इतिहास' में कहीं-कहीं पर अत्युक्ति आदि दोष आ गये हैं, तथापि उसके द्वारा कई नई बातों पर प्रकाश पड़ता है। उदाहरण-स्वरूप, इस पुस्तक में श्री पुरिया नैथाणी का जो जीवन-वृतान्त दिया गया है उसका मूल आधार यही 'इतिहास' है; इनके कुछ पद भी स्थान-स्थान पर उसमें उद्धृत किये गये हैं; यह बिल्कुल नई सामग्री है; अतः अब समय आ गया है कि गढ़वाल के सम्बन्ध में जितनी भी सामग्री उपलब्ध है, उसकी छानबीन करके गढ़वाल का एक तथ्यपूर्ण क्रमबद्ध इतिहास तैयार किया जाय।

तीसरी श्रेणी में इनकी वे कवितायें हैं, जिनमें इन्होंने आध्यात्म-विद्या पर प्रकाश डाला है और "मन्मथ-पंथ" नाम के एक नये पन्थ की सृष्टि की है। साधना-पन्थ के मनोविज्ञान की दृष्टि से इनकी इन कविताओं का इसलिये विशेष महत्व है। इन्होंने अपनी माता से राम-भक्ति का पाठ पढ़ा था। फिर शिव की उपासना और संत-मत की योग-रीति भी इन्होंने सीखी। चंडिका व राज-राजेश्वरी के ये अनन्य उपासक थे। इन्होंने इस सम्बन्ध में अपने गुरु श्री रायसिंह से दीक्षा ग्रहण की थी। उदीयमान कवि तथा साहित्यिक श्री बुद्धिवल्लभ थपल्याल ने इस दिशा में अध्ययन

करके मेरे अनुरोध पर जो विवरण मेरे पास भेजा है, वह इस प्रकार है—

"श्री मोलाराम के सात हस्तलिखित काव्य-ग्रंथ अब तक प्राप्त हो चुके हैं। इनमें सब से बड़ा ग्रंथ 'मन्मथ-सागर' है। इसकी पृष्ठ-संख्या २०० से अधिक है। अन्त के कुछ पृष्ठ फट गये हैं। शेष पुस्तकों के नाम मालूम नहीं किये जा सके, क्योंकि सब के आदि और अन्त के पृष्ठ फटे हुए हैं और पृष्ठों के शीर्षभाग में पुस्तक का नाम नहीं दिया हुआ है। सभी पुस्तकों के पृष्ठों के मध्य भाग चित्रों के लिये खाली छोड़े हुए हैं। केवल दो पुस्तकों के कुछ पृष्ठों पर ही चित्र बन पाये हैं। पुस्तकें सुर्खी और काली रोशनाई से लिखी गई हैं।

"श्री मोलाराम ने अपने सभी ग्रन्थों में अपने को संत और साधु लिखा है। उन पर संत मत, सिद्धों और नाथों का बहुत प्रभाव पड़ा है। स्थान-स्थान पर नौ नाथ और चौरासी सिद्धों का ज़िक्र आया है। 'मन्मथ-सागर' और एक दूसरे ग्रंथ में समकालीन राजनीति पर भी कुछ-कुछ प्रकाश डाला गया है।

"वे एक मत के प्रवर्तक थे और अपने मत का नाम उन्होंने 'मन्मथ-मत' या 'मन्मथ-पंथ' रखा है। इसी पंथ के प्रतिपादन में सभी ग्रंथों की रचना की गई है। इस पंथ की अधिष्ठात्री देवी जगदम्बा है। प्रच्छन्न रूप में उन पर शाक्त मत का भी प्रभाव पड़ा है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि जगदम्बा या आदि शक्ति ने अपने प्रभाव से शिव को अपने पति के रूप में उत्पन्न किया। इस प्रकार की कई जटिल उलटबंदियां और रूपक इनके ग्रन्थों में मिलते हैं। संत और नाथ मत में ऐसे रूपकों की प्रथा एक सामान्य बात थी। रूपक-शैली का भी—जो कि पौराणिक विश्वासों के आधार पर चलती है—इनके ग्रन्थों में उन्मुक्त प्रयोग किया गया है। जगदम्बा, ज्ञान, क्रोध आदि के

साथ कवि के संभाषण कई बार हुए हैं। जगदम्बा ने श्री मोलाराम को मन्मथ-पन्थ के प्रचार के लिये ही उत्पन्न किया है। मन्मथ-पंथ में श्लेप भी है और योगपूरक रूपक भी। कवि का विश्वास है कि इस पंथ के प्रचार से अपवर्ग की प्राप्ति और आततताइयों का विनाश होता है।

"स्थान-स्थान पर कवि ने अपनी निस्पृहता और निर्भीकता का परिचय दिया है। अपनी कला और अपनी अधिष्ठात्री देवी जगदम्बा के अतिरिक्त उन्हें किसी की परवाह नहीं है। जगदम्बा-स्तवन में उन्होंने स्थान-स्थान पर विनय और प्रणति के करुण उद्‌गार प्रकट किये हैं।"

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने भी इनकी कविता पर अपने 'उत्तराखण्ड में संत-मत तथा सन्त-साहित्य' शीर्षक निबन्ध में प्रकाश डाला है। यह निबन्ध 'योग-प्रवाह' में प्रकाशित हो चुका है। उसके अन्त में उन्होंने लिखा है कि—"इतना तो स्पष्ट हो गया है कि मोलाराम का यह मन्मथ-पंथ मनस्तत्व और दर्शन के उच्च सिद्धांतों पर टिका हुआ एक शुद्ध साधना मार्ग है। इसमें प्राचीन-परम्परा से आती हुई उन बातों का मोलाराम ने सिद्धांत रूप से सम्वत १८५० के लगभग उल्लेख किया था, जिनको मनस्तत्व के क्षेत्र में बड़े-बड़े विद्वान समझ रहे हैं कि हम ही पहले-पहल आविष्कार कर रहे हैं।"

उपरोक्त कारणों से ही स्वयं श्री मोलाराम ने लिखा है—

"मनमथ को पंथ ऐसो, इमृत को सार जैसो,
जानत हैं सोई सन्त, ब्रह्म को बिलासा है॥"

अपनी कार्य- प्रणाली व रीति के सम्बन्ध में इन्होंने एक स्थान पर लिखा है—

"साधन को साध कहैं, सन्तन कों सन्त कहैं,
सिद्धन को सिद्ध कहैं, झूठे हम नाहीं हैं,

सूरन कौं सूर कहैं, कायर सौं दूर रहैं,
प्रेमिन के प्यारे हम, अमूढ़न के नाहीं हैं।
मनमथ कै पन्थ चलैं, सन्तन के संग मिलैं,
ज्ञानिन के चेले हम, निंदक के नाहीं हैं,
कहत मौलाराम, पलक सारी मैं श्राम रहैं,
जैसन को तैसे हम, मृतक हम नाहीं है।"

× × × ×

यह बड़े दुख की बात है कि गढ़वाल के सर्वश्रेष्ठ कलाकार तथा भारतीय कला-नभ के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र श्री मोलाराम की कृतियां यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। महाराज टिहरी-गढ़वाल के पास सबसे अधिक संख्या है; श्री मुकन्दीलाल का संग्रह बहुत विश्वसनीय है; श्री मोलाराम के प्रपौत्र श्री बालकराम साह के पास अभी तक एक बड़ी संख्या में इनके चित्र मौजूद हैं। इनके अतिरिक्त बोस्टन म्यूज़ियम; भारत कला-भवन, बनारस; कस्तूरभाई लालभाई संग्रह, अहमदाबाद; श्री अजित घोष; श्री एन० सी० मेहता; श्री जे० सी० फ्रेंच; श्री ई० सी० डिकिनसन; श्री मानुक, पटना; राव वीरेंद्रसिंह, टिहरी; स्वर्गीय श्री चक्रधर जुयाल; श्री सतीशचंद्र काला; तथा कलकत्ता, इलाहाबाद, लखनऊ व दिल्ली के कला-भवनों में इनके व इनके शिष्यों के चित्र संग्रहीत हैं। गढ़वाल में रहे सर्कारी कर्मचारियों के पास भी इनके कुछ चित्र हैं; उदाहरणस्वरूप अलमोड़ा के श्री बद्रीदत्त जोशी गढ़वाल में बहुत वर्षों तक डिप्टी-कलेक्टर रहे; उनके द्वारा संग्रहीत कुछ चित्र उनके पौत्र श्री गिरिजा-किशोर जोशी, डिप्टी कलेक्टर, बरेली के पास मौजूद हैं। सिरमौर, बसोली, मण्डी व नैपाल आदि पर्वतीय राज्यों में भी इनके चित्र होने की सम्भावना है।

क्या ही अच्छा हो कि यह सब सामग्री एकत्र करके वृहत्तर गढ़वाल के किसी केंद्र-स्थान में एक संग्रहालय की स्थापना की जाय;

इससे न केवल श्री मोलाराम की स्मृति ही चिरस्थायी होगी, बल्कि गढ़वाल की ललित-कलाओं को भी विकसित होने का अच्छा अवसर मिलेगा। यद्यपि श्री मोलाराम की कला उनके बाद प्राय: समाप्त हो गई, तथापि अब कुछ गढ़वाली युवक उस आदर्श भावपूर्ण कला की ओर बढ़ रहे हैं, जिसे बंगाल के आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में अजंता की पुरातन उत्कृष्ट चित्रकला से प्रेरणा प्राप्त हुई है। अपने इन उदीयमान कलाकारों को भी इससे प्रोत्साहन मिल सकता है। आशा है कि शीघ्र इस ओर कोई ठोस क़दम उठाकर इस योजना को साकार-स्वरूप प्रदान किया जा सकेगा।

---

(७) महाराज सुदर्शनशाह

(निधन-तिथि—७ जून, सन् १८५९ ई०)

जिन्होंने गढ़वाल-राज्य की जीवन-सन्ध्या देखी और अर्द्धरात्रि के अनुभव भी प्राप्त किये, तथा फिर अन्त में जिन्हें उसके एक भाग पर ही सही, पर फिर भी अपने खोए हुए वैभव को किसी अंश में प्राप्त करने का सौभाग्य मिला—ऐसे महाराज सुदर्शनशाह के प्रपितामह महाराज प्रदीपशाह ने सन् १७७२ ई० तक राज्य किया था। उनके बाद महाराज ललितशाह १६ गते मार्गशीर्ष, सम्वत् १८२६ वि० (सन् १७७२ ई०) के दिन सिंहासन पर बैठे और उन्होंने २८ गते श्रावण, सम्वत १८३७ वि० (सन् १७८० ई०) तक लगभग आठ वर्ष शासन किया। उनके चार पुत्र थे और उनकी इच्छा थी कि वे चारों पुत्रों को चार पृथक-पृथक राज्यों का अधिकारी बनायें।

बड़े राजकुमार जयकृतशाह के लिये श्रीनगर की गद्दी थी ही; अन्य राजकुमारों के लिये उन्हें चिंता हुई और अकस्मात एक सुअवसर उन्हें मिल ही गया। कुमाऊँ में उन दिनों भयंकर पारस्परिक मतभेद था; महरा और फर्त्याल दलों के लोग एक दूसरे के खून के

प्यासे हो गये थे। वहां के राजा दीपचन्द को सन् १७७७ में उनके चचेरे भाई मोहनसिंह ने उनके मन्त्री श्री जयकृष्ण जोशी सहित मार कर राजगद्दी प्राप्त कर ली; तथा अनेक बेगुनाहों को मौत के घाट उतारा। महाराज ललितशाह को यह अच्छा अवसर प्रतीत हुआ। उन्होंने डोटी के राजा को तैयार किया और स्वयं सेना लेकर कुमाऊँ की ओर बढ़े। सन् १७७९ में बग्वाली-पोखर के युद्ध में कुमाउनी सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गई और मोहनसिंह मैदानों की तरफ़ भाग गया। अतः इन्होंने अपने द्वितीय पुत्र को राजा प्रद्युम्नचन्द के नाम से अल्मोड़े की गद्दी पर बैठाया और उनकी सहायता के लिये श्री जयकृष्ण जोशी के भाई, कुमाऊँ की राजनीति के 'चाणक्य', श्री हर्षदेव जोशी को मन्त्री नियुक्त किया। इस महत्वपूर्ण कार्य के बाद महाराज ललितशाह श्रीनगर की ओर लौट ही रहे थे कि रास्ते में बीमार पड़ गये और दुलड़ी नामक स्थान में उनका देहान्त हो गया। उनके स्थान पर उनके ज्येष्ठ पुत्र महाराज जयकृतशाह श्रीनगर की गद्दी पर बैठे।

इन प्रकार श्रीनगर में महाराज जयकृतशाह और अल्मोड़ा में राजा प्रद्युम्नचन्द राज्य कर रहे थे; लेकिन दोनों एक-दूसरे के विरुद्ध थे। महाराज जयकृतशाह चाहते थे कि अपने भाई के बदले दुबारा मोहनसिंह को अल्मोड़े का राजा बनायें; यह हालचाल देख कर राजा प्रद्युम्नचन्द ने भी तीसरे भाई पराक्रमशाह को उकसाया कि वे श्रीनगर की गद्दी पर क़ब्ज़ा कर लें। ऐसी परिस्थिति देखकर कुमाऊँ के कूटनीतिज्ञ श्री हर्षदेव जोशी एक सेना लेकर श्रीनगर की ओर बढ़े और महाराज जयकृतशाह से मिलकर समझौता कराने की कोशिश करनी चाही; लेकिन क़मुलाात ही नहीं हो पाई और दोनों सेनाओं में युद्ध हो गया। गढ़वाली सेना नेतृत्वहीन था, इसलिये भाग खड़ी हुई। कुमाउनी सेना ने ख़ूब लूटपाट की; यहाँ तक कि देवलगढ़ के मन्दिरों को भी लूटा; उस लूटपाट को अभी तक

"जोश्याणी" कहा जाता है। उस घटना के बाद महाराज जयकृतशाह बीमार पड़ गये; और सन १७८५ में, केवल पांच वर्ष राज्य करने के बाद, देवप्रयाग में उनका देहान्त हो गया।

उनके कोई सन्तान नहीं थी; इसके अतिरिक्त राजा प्रद्युम्नचंद कुमाऊँ की राजतीति से खिन्न हो चुके थे; इसलिये, यद्यपि वे पहिले राजकुमार पराक्रमशाह को प्रोत्साहित कर चुके थे, तथापि उन्होंने अपने पूर्वजों के सिंहासन को ही प्राप्त करना उचित समझा। इसलिये वे श्रीनगर आगये और महाराज प्रद्युम्नशाह के नाम से शासन करने लगे। कुमाऊँ को वे मन्त्री श्री हर्षदेव जोशी के सिपुर्द कर आये थे। राजकुमार पराक्रमशाह ने गढ़वाल का राजा बनने की कोशिश की; लेकिन आम जनता उनके साथ नहीं थी; अतः समझौते के तौर पर उन्हें कुमाऊँ का राज दिया गया, लेकिन वे वहां भी नहीं निभा सके। आख़िर सन १७८६ में मोहनसिंह ने फिर कुमाऊँ पर अधिकार कर लिया और बेचारे पराक्रमशाह वापिस श्रीनगर आ गये। राजकुमार पराक्रमशाह के शक्तिहीन प्रयत्नों की कथा वास्तव में दुखपूर्ण है, तथा गढ़वाल राज्य के भावी पतन की सूचिका है।

महाराज प्रद्युम्नशाह ने सन् १७८५ से सन १८०४ तक शासन किया; लेकिन तथ्य यह है कि वे कभी भी योग्यता व साहस के साथ शासन नहीं कर पाये। दर्बारियों का पारस्परिक वैमनस्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था; स्वयं राजकुमार पराक्रमशाह अभी तक अपने भाग्य से सन्तुष्ट नहीं थे और हमेशा षड़यन्त्र रचने की कोशिश करते रहते थे। ऐसी ही परिस्थितियों में महाराज प्रद्युम्नशाह की कुमाऊँ वाली पत्नी से सन १७९० में राजकुमार सुदर्शनशाह का जन्म हुआ।

गोरखों का पहिला आक्रमण

इनका जन्म क्या हुआ कि पहिले दिन से ही गढ़वाल-राज्य की संध्या का आभास मिलने लगा; क्योंकि उससे कुछ ही समय पहिले पूर्व की ओर नैपाल के पर्वतीय प्रदेश में एक ऐसी शक्ति का जन्म हो चुका था, जिसने शीघ्र ही गढ़वाल और कुमाऊँ दोनों राज्यों को समाप्त कर दिया ! सन १७६० ई० में गोरखा लोग आगे बढ़े और उन्होंने सम्पूर्ण कुमाऊँ राज्य अपने अधिकार में कर लिया। उस विजय से प्रसन्न होकर वे सन १७६१ ई० में एक बड़ी सेना लेकर गढ़वाल की ओर बढ़े; उन्होंने कुछ इलाकों पर अधिकार भी कर लिया; लेकिन लंगूर गढ़ के प्रबल मोर्चे पर वे रोक दिये गये ! पूरे एक वर्ष तक उस गढ़ के चारों ओर घेरा पड़ा रहा, लेकिन वह सर न हो पाया; उस इलाके के असवाल ठाकुरों और नरवाणी रावतों ने बड़ी वीरता से उसकी रक्षा की । आखिर गोरखा लोग एक नई सेना लेकर अन्तिम प्रयत्न करने ही वाले थे कि चीनी लोगों द्वारा नैपाल पर हमला होने की खबर काठमाण्डू से आई; अतः घेरा उठाकर वे कुमाऊँ की तरफ वापिस चले गये ।

यद्यपि उस बार चीनी-आक्रमण के कारण गोरखा-सेना को वापिस होना पड़ा था, तथापि महाराज प्रद्युम्नशाह अपनी कमज़ोरियों को ताड़ गये थे और गोरखा सैनिक-संगठन ने उन्हें प्रभावित कर दिया था; इसलिये उन्होंने नैपाल-सर्कार से सन्धि कर ली। उनकी इच्छा थी कि वार्षिक कर देकर गोरखों को रामगंगा नदी के पूर्व में ही रखा जाय । उनकी ओर से एक वकील (राजदूत) भी नैपाल दर्बार में भी भेजा गया, ताकि दोनों देशों के बीच समझौते की शर्तों का ठीक-ठीक पालन होता रहे। लेकिन उन्होंने जिस भलमनसाहत का उस समय प्रदर्शन किया वही उनके विरुद्ध सिद्ध हुई; और कुछ वर्षों के बाद गढ़वाल-राज्य को और भी भयंकरता के

साथ गोरखा-शक्ति का मुक़ाबला करना पड़ा !!

कुछ इतिहास-लेखकों के अनुसार इस वार्षिक कर का परिमाण २५०००) नियत किया गया था। लेकिन कैप्टेन एफ० वी० रेपर के अनुसार, जो सन् १८०८ में गंगा नदी के उद्गम स्थान का पता लगाने के बहाने गढ़वाल के अन्दर गोरखा-शक्ति का अध्ययन करने के लिये आये थे, यह कर पहिले ३०००) नियत किया गया था और बाद को तरह-तरह के कारण बतला कर ६०००) कर दिया गया था। कुछ लेखकों का अनुमान है कि वह १२०००) वार्षिक था। जो कुछ भी हो, लेकिन यह निश्चित है कि हज़ारों रुपये प्रति वर्ष कर के रूप में नैपाल-दर्बार को भेजे जाते थे। उस कर के अतिरिक्त नैपाल-राज्य का जो राजदूत श्रीनगर में रहता था, उसका तथा उसके साथियों का खर्चा गढ़वाल-राज्य को ही बर्दाश्त करना पड़ता था। उस पर तुर्रा यह था कि बड़े-बड़े नैपाली सर्दार श्री बद्रीनाथ की यात्रा करने के बहाने श्रीनगर के रास्ते गुज़रते, कई दिनों तक यहीं पड़े रहते और अपने-अपने पदों के अनुरूप भेंट पाने की आशा करते ! इस प्रकार कैप्टेन रेपर के अनुसार, उस बढ़ाये हुए कर से भी तिगुनी धन-राशि श्रीनगर-दर्बार को खर्च करनी पड़ती थी। सम्भवतया इसी कारण कुछ लेखकों ने २५०००) का अनुमान लगाया होगा।

यह तो था नैपाल-दर्बार और गोरखा-सर्दारों का कर; गोरखा-सैनिकों के उत्पात इनसे अतिरिक्त थे। सन् १७९२ ई० में यद्यपि गोरखा लोग गढ़वाल से हट गये थे, लेकिन कुमाऊँ में तो वे थे ही। अतः कुमाऊँ की दिशा से टोलियां बना कर वे सैनिक समय-कुसमय गढ़वाल की पूर्वी सीमा में घुस आते और गांवों को लूट-पाट कर अन्न, धन व पशुओं को उठा ले जाते। इधर जब उन उत्पातों का गोरखा-राजदूत से ज़िक्र किया जाता तो वह कुछ-न-कुछ बहाना निकाल कर टाल देता ! इस प्रकार सन १७९२ से सन्

१८०३ तक गढ़वाल तथा नैपाल राज्यों के आपसी सम्बन्ध चलते रहे; और उल्टे इन्हीं पर यह दोष लगा कर कि इन्होंने सन्धि की शर्तों के अनुसार पूरा कर नहीं दिया है, गढ़वाल पर हमला बोल दिया गया—यह वास्तव में आश्चर्य की बात प्रतीत होती है। लेकिन उसका वास्तविक कारण उस समय की श्रीनगर दर्बार की आन्तरिक स्थिति से सम्बन्धित है।

द्वितीय गोर्खा आक्रमण

उन दिनों दर्बार की स्थिति अत्यन्त लज्जाजनक हो गई थी; चुग़ली का बाज़ार गर्म था; महाराज कतिपय मन्त्रियों के हाथ की कठपुतली बन गये थे; जब जिस दल का प्रावल्य देखते, तब उसी दल के अनुसार चलते—एक शब्द में पक्षपात और स्वार्थपरता का साम्राज्य था। प्रारम्भ में श्री कृपाराम डोभाल दीवान थे; वे राज्य के वास्तविक अधिकारी थे। श्री नित्यानन्द खंडूड़ी के पास राज्य का दफ़्तर था; लेकिन उन पर कुमाऊँ के श्री हर्षदेव जोशी के साथ षड़-यन्त्र करने का अभियोग लगाया गया और उनकी आंखें निकलवा दी गईं! उनके स्थान पर दीवान के रिश्तेदारों और भाई-बन्दों की नियुक्ति हो गई और उन्हीं की तूती बोलने लगी। यह बात श्री नित्यानन्द खंडूड़ी के बिरादर श्री रामा खंडूड़ी और श्री धरणी खंडूड़ी-बन्धु-द्वय-को बहुत खटकी; वे सेना में फौजदार थे; उन्होंने दीवान के विरुद्ध षड़यन्त्र शुरू कर दिया। उन्होंने देहरादून इलाक़े के फौजदार श्री घमण्डसिंह को अपनी ओर मिला लिया। उसने एक दिन खुली राज-सभा में थोड़ी सी बात पर क्रोधित होकर दीवान श्री कृपाराम डोभाल का सिर उड़ा दिया; और कुछ ही समय में उनके सब रिश्तेदार भी क़ैद कर लिये गये!

अब श्री रामा और श्री धरणी—खंडूड़ी बन्धुओं—की बन आई। उन्होंने श्री घमण्डसिंह की सहायता से महाराज को अपने

हाथ का खिलौना बना लिया, तथा सेना, कोष और दफ़्तर आदि सब विभागों में अपने बिश्वासपात्र व्यक्तियों की नियुक्ति करा दी। इस प्रकार वे कुछ दिनों के लिये गढ़वाल-राज्य के भाग्य-विधाता बन गये। लेकिन स्वर्गीय दीवान के मित्र व सम्बन्धी कैसे चुप रह सकते थे ? उन्होंने कंवर पराक्रमशाह को बहकाया कि "अगर रामा-धरणी समाप्त कर दिये जायें तो हम महाराज प्रद्युम्न-शाह को गद्दी से उतार कर तुमको राजा बना देंगे।" वे उस कुटिल नीति के शिकार हो गये। खंडूड़ी-बन्धु भी अपने वैभव के सामने महाराज को भी नगण्य समझने लगे थे; इसी कारण सम्भवतया महाराज भी उनसे उकता गये थे। उधर उन दिनों के नाम मात्र के दीवान श्री रंगी बिष्ट ने सेना को भी उनके विरुद्ध कर दिया।

अन्त में सबने मिलकर श्री रामा-धरणी बन्धु पर यह अभियोग लगाया कि उन्होंने श्रीनगर का सोने का सिंहासन नैपाल पहुँचा दिया है; शायद उस अभियोग का तात्पर्य यह था कि उन्होंने गढ़वाल राज्य की गुलामी पहिले से अधिक बढ़ा दी है। इस अभियोग की सत्यता व असत्यता के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता; तथापि यह तथ्य है कि उसके आधार पर उन दोनों के लिये "गर्दनी हुक्म" (प्राणदण्ड) की आज्ञा दे दी गई। एक कथानक के अनुसार, खंडूड़ी-बन्धु उन दिनों पैनखण्डा की तरफ़ गये हुए थे; वहीं उनके सैनिकों के साथ साज़िश करके रामणी नामक स्थान पर उन्हें क़त्ल कर दिया गया ! एक अन्य पंवाड़े के अनुसार, जब श्री रामा खंडूड़ी को यह आज्ञा मिली तो उन्होंने महाराज से कहा कि "मुझे क़त्ल न किया जाय; मैं नैपाल जाकर वहाँ से सोने का सिंहासन वापिस ले आऊँगा।" अतः उनके साथ श्री "धौंकुलु बुधाणा" को भेजा गया; रामणी के 'सेरे' में जब वे पहुँचे तो यह सोचकर—कि मैं दीवान बन जाऊँगा और खूब प्रशंसा

पाऊँगा'—उसने श्री रामानन्द को तलवार के घाट उतार दिया और श्रीनगर वापिस आ गया; इस पर महाराज को बड़ी प्रसन्नता हुई। एक और तीसरे पंवाड़े के अनुसार, जब खंडूड़ी-बन्धुओं को राजा की आज्ञा प्राप्त हुई तो उन्होंने स्वयं अपने ज़िरह-बख़्तर उतार दिये; सब अफसरों व सैनिकों को यह उपदेश दिया कि वे हमेशा गढ़-राज्य के प्रति वफ़ादार रहें; और स्वयं अपने आप को घातक के सिपुर्द कर दिया! एक अन्य जनश्रुति के अनुसार, उनका बध पट्टी दशौली के रामणी गांव में नहीं किया गया था; बल्कि वे कोटद्वार से कुछ ऊपर अजमेर पट्टी के रामड़ी गांव में क़त्ल किये गये थे; कुछ वर्षों पहिले एक खेत में हल चलाते हुए एक किसान को वहाँ ज़िरह-बख़्तर का कुछ अंश मिला था; उसे श्री रामा खंडूड़ी से संबंधित माना जाता है; अब वह श्री कुन्दनसिंह गुसाईं, वकील, लैंसडौन के पास है। उधर श्री धरणी खंडूड़ी श्रीनगर में ही मौजूद थे; सैनिकों ने सुबह तड़के उनका घर घेर लिया और उन्हें पकड़कर श्रीनगर से पश्चिम की ओर अलकनन्दा के किनारे 'शीतला की रेती' नामक स्थान पर दिन-दहाड़े क़त्ल कर दिया। उसी अवसर पर उनके कुटुम्बी श्री बैजू खंडूड़ी को भी क़त्ल किया गया! उसकी पत्नी—"बैजू की बामणी"—जो नैपाल के राज्य-गुरु की कन्या बतलाई जाती है, रोती-चिल्लाती नैपाल गई और उसने दर्बार में जाकर अपना दुखड़ा रोया, तथा गढ़वाल पर आक्रमण करने के लिये वहाँ के महाराज और दर्बारियों को उत्तेजित किया। एक अन्य कथानक के अनुसार, यह "नैपाल्या बामणी" स्वयं श्री रामा खंडूड़ी की पत्नी थी और प्रतिशोध की भावना से वह "गोरख्यों की दौंर" ले आई, जिससे सारा गढ़वाल "थरहर कम्प" हो गया!!

इस कथानक के विषय में अभी तक काफ़ी मतभेद है। उदाहरण-स्वरूप, श्री गिरिजादत्त नैथाणी ने मार्च-अप्रैल, सन् १६१३ के "गढ़वाल-समाचार" में "गढ़वाल का बंटवारा" शीर्षक लेख में

श्री रामा-धरणी बन्धु पर यह स्पष्ट अभियोग लगाया था कि उन्होंने महाराज प्रद्युम्नशाह के विरुद्ध नैपाल-दर्बार को हमला करने का निमन्त्रण दिया था। इसके विपरीत जून, सन् १९१३ के "गढ़वाली" में श्री विश्वम्भरदत्त चन्दोला ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि खंडूड़ी-बन्धुओं को जन्मभूमि को स्वतन्त्र करने की इच्छा थी और इसलिये उन्होंने नैपाल-दर्बार से मिल कर वार्षिक कर बन्द करवा दिया था; लेकिन उसी बीच उनके पीठ पीछे षड़यन्त्र होने के कारण उन्हें प्राणदण्ड दिला दिया गया। इस लेख के उत्तर में सितंबर, सन् १९१३ के 'गढ़वाली' में श्री चंद्रमोहन रतूड़ी ने लिखा था— "गढ़वाल-समाचार" का कथन प्रचलित परंपरा के अनुसार है; रामा-धरणी के गीतों में 'आधा सिंहासन कुमाऊँ या नैपाल काट कर ले जाना,' 'स्वयं बासमती-घी खाना, राजा को मंडुवा-तेल देना' और 'किसी का भी राजा को न पूछना, रामा-धरणी को सब का पूछना' आदि राजद्रोह के स्पष्ट अभियोग लगाये जाते हैं।' टिहरी-राज्य-संग्रह में जो इस सम्बन्ध का पंवाड़ा है, उसमें इस प्रकार के वाक्य आते हैं—"उदमादा ह्वैगे रामा खंडूड़ी'; 'काट्यो सिहासन नैपाल पौंछाये' व 'काटो सिंहासन रामाजी न पौंछायो नैपाल"; और "आपु खांदो बासमती राजौ दीन्दो कोदो।" इनसे भी कुछ इसी प्रकार की ध्वनि निकलती है।

खैर, वास्तविक तथ्य कुछ भी हो; यह निश्चित है कि उन दिनों श्रीनगर-दर्बार में घोर अराजकता छाई हुई थी; महाराज प्रद्युम्न-शाह बिल्कुल शक्तिहीन थे; सन् १७९१ के गोरखा-आक्रमण के बाद भी गढ़वाल-राज्य को सुसंगठित करने की किसी ने भी कोशिश नहीं की; और उल्टे श्री मोलाराम सरीखे जिन थोड़े से निष्पक्ष देशभक्तों ने भावी ख़तरे की चेतावनी दी, उनकी सलाह पर ध्यान नहीं दिया गया! श्रीनगर में नियुक्त नैपाली राजदूत इन कम-जोरियों से भली-भांति परिचित था; उसने अपने भेदिये भेजकर

राज्य भर के मार्गों व मुख्य केन्द्रों का पता लगा लिया था। इसलिये सन् १८०३ ई० में जब अदा न किये हुए वार्षिक कर की वसूली का बहाना लेकर गोरखा-सेना ने गढ़वाल पर हमला बोल दिया तो यह पुराना वृक्ष, जड़ें खोखली हो जाने के कारण, एक ही झोंके में धराशायी हो गया!

गढ़वाल की उपरोक्त आन्तरिक कमजोरी के अतिरिक्त उन्हीं दिनों भादों, अनन्त चौदस, सम्वत् १८६० वि० (सितम्बर, सन् १८०३ ई०) के दिन अचानक एक ऐसा भूकम्प आया कि पहाड़ टूट-टूट कर कई गांव नष्ट हो गये; हरे-भरे खेत बर्बाद हो गये; बहते जल-श्रोत सूख गये; नई जगहों पर पानी निकल आया और गढ़वाल की आबादी बहुत घट गई ! उसके बाद भी कई महीनों तक भूकम्प के धक्के आते रहे, जिससे स्वयं श्रीनगर का राजमहल भी बहुत-कुछ बर्बाद हो गया था। उससे पहिले सन् १७६४-६५ ई० में एक भयंकर अकाल पड़ चुका था; सम्वत् १८५१-५२ के उस अकाल की भयंकरता के कारण अभी तक गाँवों में 'इकावनी-बावनी' याद की जाती है। अतः गढ़वाल-राज्य को केवल एक धक्के की जरूरत थी। इसीलिये श्री मोलाराम ने गोरखा-गवर्नर से कहा था—

"साठ साल भूकम्पहि भयो।
सहर बजार महल सब ढयो ॥
भार पाप को पड़यो महाई।
परजा-पीड़न ब्रम-हत्याई ॥
मरे हजारों गढ़ के माहीं।
खबर गई कातिपुर ताईं ॥
साठ साल भूकम्प चिताये।
इकसठ में अब तुमहूँ आये ॥"

यह कहा जाता है कि पाल्या के ब्राह्मणों ने भविष्यवाणी कर दी थी कि राजा प्रद्युम्नशाह पर बड़ी आपत्ति आयेगी, गोरखों

का राज्य बढ़ेगा; पर वे भी कुछ काल पश्चात अंग्रेजों से हार जायेंगे।" फिर भी महाराज प्रद्युम्नशाह राजधानी में एकत्र सेना को लेकर कुछ दूर आगे बढ़े और गोरखा-सेना का मुक़ाबला किया; लेकिन गढ़वाली सेना के पांव उखड़ गये और वह पीछे हटने लगी। उधर एक और गोरखा-सेना दक्षिणी गढ़वाल को रौंदती हुई लंगूर-गढ़ के रास्ते श्रीनगर की ओर बढ़ी। अतः निराश होकर महाराज ने राज-परिवार को श्रीनगर से अलकनन्दा पार पहुँचाया और कुछ देर बाद स्वयं भी कुंवर पराक्रमशाह के साथ उनसे जा मिले। गोरखा-सेना ने उनका पीछा किया। महाराज हटते-हटते बाड़ाहाट पहुंचे; वहां भी युद्ध हुआ, लेकिन पीछे हटना पड़ा। ग्रामवासी हर तरह की सहायता पहुँचाते थे, लेकिन संगठित व शिक्षित गोरखा-सेना के सामने कुछ न चलती थी। एक बड़ा युद्ध भिलंगना की घाटी में घुत्तू स्थान पर हुआ; एक गोरखा-सेना चन्द्रापुरी का 'सांगा' पार करके भिलंगना की घाटी में उतर गई। श्री शीशराम सकलानी के नेतृत्व में एक सेना उसका मुक़ाबला करने के लिये भेजी गई; भिलंगना के किनारे 'वुत्तू गला' पर मुठभेड़ हुई; श्री शीशराम सकलानी अपने साथियों सहित वीरतापूर्वक लड़ते हुए गोरखा-सर्दार श्री भक्ति थापा के हाथों मारे गये; और आक्रमण-कारियों के प्रवाह को रोका नहीं जा सका! एक छोटा-सा युद्ध चमुआखाल पर भी हुआ। फिर महाराज का दल देहरादून पहुँचा; लेकिन कुछ दिनों बाद गोरखों ने उस पर भी अधिकार कर लिया।

अब महाराज प्रद्युम्नशाह का सारा ख़जाना समाप्त हो चुका था। इसलिये सहारनपुर में उन्होंने अपना सिंहासन और राज-परिवार के आभूषण लगभग एक लाख रुपयों में बेच दिये। फिर लंढौरा के गूजर राजा रामदयाल सिंह की सहायता से लगभग १२००० राजपूतों की एक सेना तैयार की और देहरादून आकर गोरखा-सेना से आख़िरी युद्ध किया। महाराज स्वयं घोड़े में चढ़े खुड़बुड़ा

गांव में सेना का संचालन कर रहे थे कि शत्रुपक्ष के गोले से उन का सिर उड़ गया! इस प्रकार १४ मई, सन् १८०४ ई० को अखण्ड गढ़वाल के अन्तिम नरेश महाराज प्रद्युम्नशाह वीर गति को प्राप्त हुए। महाराज घोड़े से औंधे मुँह ज़मीन पर गिरे थे; कहते हैं कि उसे देखकर एक गोरखा-सर्दार ने कहा था कि—"महाराज ने मानों मरते-मरते भी गिर कर भूमि को पकड़ लिया है, इसलिये यह राज्य इन्हीं के वंश में जायेगा!" और अन्त में हुआ भी ऐसा ही !!!

राज्य-गढ़वाल-संग्रह में सुरक्षित एक विवरण के अनुसार उपरोक्त घटनाओं का तिथि-क्रम इस प्रकार है—वैसाख, सम्वत १८६० में श्री धरणीधर खंडूड़ी नैपाल गये थे; उसी वर्ष ३ गते कार्तिक को श्री रामानन्द खंडूड़ी और २६ गते मार्गशीर्ष को श्री धरणीधर खंडूड़ी मारे गये; ११ गते आषाढ़, सम्वत १८६१ के दिन गोरखा-सेना ने गढ़वाल पर हमला किया; ११ गते श्रावण के दिन वे श्रीनगर में प्रविष्ट हुए और २२ गते माघ शुक्ल द्वितीय के दिन महाराज प्रद्युम्नशाह का देहान्त हुआ। श्री मोलाराम के 'इतिहास' से भी इन तिथियों की पुष्टि होती है।

प्रवास की कष्टपूर्णगाथा

महाराज प्रद्युम्नशाह के देहावसान के समय महाराज सुदर्शन-शाह की आयु केवल १४ वर्ष की थी। उस समय से लेकर सन १८१५ तक के ग्यारह वर्षों तक इनका जीवन कष्ट और वेदना की एक लम्बी गाथा है। इन्हें कुछ विश्वासपात्र सेवक रातों-रात ज्वालापुर ले गये, जहां कि राज-परिवार कुछ समय से रह रहा था। महाराज के शव को गोरखा-सर्दारों ने बड़े सम्मान के साथ इनके पास ज्वालापुर भेज दिया, जहां कि समारोह के साथ उनका अन्तिम संस्कार किया गया।

इस दुर्घटना के पश्चात् राज-परिवार के साथ ये ज्वालापुर में ही रहने लगे। इनकी राजमाता का पहिले ही देहान्त हो चुका था। कुंवर पराक्रमशाह अपने श्वसुरालय नालागढ़ चले गये; वहां कुछ दिनों वाद उनकी मृत्यु हो गई। इनके सब से छोटे चाचा कुंवर प्रीतमशाह गोरखा-आक्रमण के समय रंवाई इलाके के फौजदार थे; वे गोरखा-सेना द्वारा क़ैद कर लिये गये और सन् १८१५ तक काठमांडू में नजरबन्द रहे। ज्वालापुर में रहते हुए इन्होंने स्वयं अपना विवाह किया। मि० फ्रेज़र की रिपोर्ट के अनुसार, सन् १८१४ में इनकी दो रानियां थीं—पहिली सिरमौर के राजवंश की एक कन्या और दूसरी भम्भोर के राय करमचन्द की पुत्री। श्रीनगर से इनके साथ जो लोग आये थे, वे धीरे-धीरे अलग हो गये; कुछ की मृत्यु हो गई; कुछ सहारनपुर व मेरठ ज़िलों में जाकर बस गये; कुछ थोड़े-से ही विश्वासपात्र सेवक इनके साथ रहे। ज्वालापुर के अपने उस प्रवास में इन्हें मायापुर के पंडा-समाज और स्थानीय नवाबों से सहायता मिली। साथ ही गढ़वाल की राजभक्त प्रजा भी इन्हें यथाशक्ति सहायता देती रही; विशेष कर उदयपुर इलाक़े के लोग चुपके-चुपके अनाज आदि इनके पास पहुँचा दिया करते थे। एक जनश्रुति के अनुसार, उदयपुर पट्टी के किमसार गांव के एक व्यक्ति कुछ दिनों तक राज परिवार के लिये प्रारम्भ में प्रति दिन 'गथों की रोटी' पहुँचा दिया करते थे!

अपने उस कष्टपूर्ण जीवन में भी इन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा और बड़े साहस के साथ सब विपत्तियों का सामना करते रहे। साथ ही अपनी परिस्थिति को सुधारने और अपने खोये हुए राज्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहे। इस उद्देश्य से इन्हें बरेली और फ़तहगढ़ भी जाना पड़ा था। कागज़ात से पता लगता है कि सन् १८०६ से सन् १८११ के लगभग तक ये बरेली में रहे; वहां इनका

परिचय कैप्टेन हैदर हर्सी से हुआ। यह अंग्रेज़ अफ़्सर सन् १८०८ में कैप्टेन रेपर और लेफ० व्यब के साथ श्रीनगर होते हुए बद्रीनाथ तक घूम आया था और वहां की परिस्थिति से परिचित था। सन् १६०५ में अंग्रेज़ी में प्रकाशित एक पुस्तक—"दि हर्सीज़—फाइव जेनरेशन्स औफ़ एन ऐंग्लो-इंडियन फ़ेमिली"—के अनुसार महाराज सुदर्शनशाह उन दिनों विकट आर्थिक संकट में पड़े हुए थे; कैप्टेन हर्सी एक दुस्साहसी व्यक्ति था; उसने इन्हें कुछ रूपये दिये, और उनके बदले इनसे गढ़वाल राज्य के चण्डी व दून के पर्गने ख़रीद लिये; इस सम्बन्ध का एक बैनामा महाराज सुदर्शनशाह के हस्ताक्षर-सहित उस पुस्तक में उद्धृत किया गया है; उस पर २२ जून, सन् १८११ ई० की तारीख दी हुई है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने १२००) वार्षिक पेंशन के वचन पर चण्डी पर्गना कै० हर्सी से ख़रीद लिया; उस इक़रारनामे की नक़ल भी उस पुस्तक में दी गई है; उस पर बरेली में नियुक्त कतिपय अंग्रेज़ अफसरों के भी हस्ताक्षर हैं और उस पर २८ अक्तूबर, सन् १८१५ ई० की तारीख़ अंकित है। उस इक़रारनामे के साथ ही कैप्टेन हर्सी ने यह भी वचन दिया था कि गोरखों को परास्त करने के बाद दून पर्गना भी वह बेच देगा; लेकिन जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी को विजय मिल गई, तो, उक्त पुस्तक के अनुसार, उन इक़रारनामों का यह अर्थ लगाया गया कि चूंकि शर्त के अनुसार कैप्टेन हर्सी ने गोरखों को गढ़वाल राज्य से नहीं हटाया, इसलिये वह तथा उसका परिवार उक्त पेन्शन व क़ीमत का अधिकारी नहीं है। कैप्टेन हर्सी के उत्तराधिकारियों ने इस सम्बन्ध में खूब लिख-पढ़ की; लेकिन सफल नहीं हो पाये। अतः यह निश्चित है कि सन् १८०६ से सन् १८११ तक महाराज सुदर्शनशाह बरेली में थे तथा इन्हें आर्थिक संकट के कारण कैप्टेन हर्सी से कुछ बातचीत करनी पड़ी थी!

ब्रिटिश सर्कार से सहायता प्राप्त करने के सिलसिले में इन्हें फ़तेहगढ़ में भी जाना पड़ा था। वहाँ उन दिनों सर एडवर्ड कोल-ब्रुक रहते थे; वे दिल्ली-सम्राट और अवध के नवाब द्वारा कम्पनी को दिये हुए इलाक़ों का शासन करने के लिये गवर्नर-जनरल की ओर से एजेण्ट पद पर नियुक्त थे। नवम्बर सन् १८१४ ई० में जब नैपाल-सर्कार के साथ युद्ध की घोषणा की गई, उन दिनों महाराज सुदर्शनशाह फतहगढ़ में ही थे। वहीं से तत्कालीन गवर्नर-जनरल लौर्ड मौयरा (हेस्टिंग्ज़) के आदेश पर ये देहरादून भेजे गये, "ताकि इनकी उपस्थिति से स्थानीय सैनिकों में और अधिक उत्साह पैदा हो और गढ़वाल की जनता भी चैतन्य होकर गोरखों के विरुद्ध बग़ावत कर दे और ब्रिटिश सेनाओं की सहायता करे।"

गोरखा-शासन में गढ़वाल

इधर उन १२ वर्षों के अन्दर गढ़वाल की जनता को अन्याय और अत्याचार की चक्की में बुरी तरह पीसा गया। पहिले तो गोरखा लोग सन् १७६१ में सफल न होने के कारण योंही क्रोधित थे; फिर सन् १८०३ तक के बारह वर्षों में, यद्यपि अस्थायी शांति थी, तथापि पूर्वी सीमा-प्रान्त पर सैनिकों की भिड़न्त जारी रही थी। इसके अतिरिक्त सन् १८०३ के आक्रमण के समय, यद्यपि श्रीनगर-दर्बार की विश्रृंखलता के कारण केन्द्रीय सेना कुछ न कर पाई थी, तथापि प्रायः प्रत्येक इंच भूमि के लिये गोरखों को लड़ना पड़ा था। विशेषकर लंगूरगढ़ में इस बार भी बड़ी वीरता के साथ मुक़ाबला किया गया; यद्यपि चारों ओर का इलाका विजित हो गया था, तथापि पूरे तीन वर्ष तक असवाल ठाकुरों और नरवाणी रावतों आदि का दल उन्हें रोके रहा; इसीलिये अन्त में जब वह सर हुआ तो गोरखों ने उत्तेजना-वश उसे सदा के लिये भूमिसात कर दिया। इस सम्बन्ध में उमटा (पट्टी बूँगी) के थोकदार श्री राजेसिंह के

पास सुरक्षित कुछ कागजों से पता लगता है कि सम्वत ६१,६२ व ६३ अर्थात सन् १८०४-५-६ में दक्षिणी गढ़वाल के लिये गोरखा फौजी शासन का केन्द्र लंगूरगढ़ी में रहा था। इसके अतिरिक्त महाराज सुदर्शनशाह के इशारे पर बाद को भी कुछ वर्षों तक छुटपुट प्रयत्न होते रहे; लेकिन गोरखा अधिकारियों ने उन्हें तत्काल दबा दिया।

अत: उपरोक्त सब कारणों से उन्होंने बदला लेने की भावना से शासन किया। यहाँ पर स्थान नहीं कि उनके अत्याचारों का पूरा वर्णन किया जा सके। अकेले एक "गोरख्याणी" शब्द से आज भी वे सब लोमहर्षक दृश्य भावना की दृष्टि के समक्ष उपस्थित हो जाते हैं! अभी तक प्राप्त विवरणों के अनुसार उन दिनों गाँव के गाँव जला दिये गये; खेत बर्बाद हो गये; हज़ारों लोग जंगलों में भाग गये; यहाँ तक कि, एक कथन के अनुसार, हरिद्वार में 'हरि की पौड़ी' के समीप अंग्रेजी चौकी के पास ही एक 'गोरखाली चौकी' थी; उस चौकी में अभागे गढ़वाली दास, तीन वर्ष से तीस वर्ष तक की आयु के, प्रति वर्ष लाये जाते थे और आम तौर पर मेले के दिनों में बेच दिये जाते थे! प्रत्येक दास का मूल्य १०) से १५०) तक होता था !! तत्कालीन पोलीटिकल कमिश्नर मि० फ्रेज़र के भाई व राजनैतिक परामर्शदाता मिस्टर जे० वी० फ्रेज़र के अनुसार, दो लाख से भी अधिक व्यक्ति इस प्रकार बेचे गये थे !!!

लेकिन कुछ लेखकों ने यह विचार प्रकट किये हैं कि अंग्रेज लेखकों ने अपने शासन की ओर जनता की सहानुभूति खींचने तथा अपने राज्य की महत्ता सिद्ध करने के लिये जान-बूझ कर गोरखा-शासन के अत्याचारों को बढ़ा-चढ़ा कर लिखा है। उदाहरण-स्वरूप श्री गोविन्द प्रसाद घिल्डियाल ने सन् १९२० में "गढ़वाली" के अंकों में यह स्पष्ट करने की कोशिश की थी कि गोरखा लोगों ने

कुछ अत्याचार अवश्य किये थे, लेकिन उन दिनों संसार में सर्वत्र ऐसा हुआ ही करता था; इसके विपरीत उन्होंने धर्म व मन्दिरों की रक्षा की तथा कई नये मन्दिर भी बनवाये। उनके बाद श्री तारादत्त गैरोला ने अपनी अप्रकाशित पुस्तक "ग्लिम्पसेज़ इन्टु दि हिस्ट्री औफ़ गढ़वाल" में इस विषय पर एक पूरा अध्याय दिया है तथा काग़ज़ी सबूत देकर इसी दृष्टिकोण की पुष्टि की है।

इन विवरणों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि अंग्रेज लेखकों ने अपनी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति के कारण गोरखा-अत्याचारों का वर्णन बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिया है, तथापि इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उस युग में गढ़वाल के निवासियों पर काफी अत्याचार हुए। कम से कम गोरखों का शासन प्रजा की सहानुभूति और सहयोग पर आधारित नहीं था; और वह हमेशा उससे मुक्ति पाने के लिये तड़पती रही! उस समय की दुरवस्था का परिचय श्री मोलाराम की "श्रीनगर-दुर्दशा" शीर्षक कविता से मिलता है। यह कविता श्री शम्भुप्रसाद बहुगुणा ने अपनी "विराट हृदय" पुस्तक में अविकल प्रकाशित की है। वह एक अर्ज़ी के रूप में नैपाल-दर्बार के मन्त्री जनरल भीमसेन को भेजी गई थी; उस कविता के कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

"मालिक रहा नगद मैं, मुल्क खुवार हो गया,
साहेब गुलाम पाजी सब इकसार हो गया।
रैय्यत पै जुल्म और बिसियार हो गया,
क्या खूब श्रीनगर था, कैसा उजार हो गया॥
ऊजड़ पड़ा हैं जब सौं, नहिं सहर में अमाली,
हाटैं पचास साठ बसैं, और सबैं खाली।
तिन कौं बी नहीं चैन, तिलंगाहि देह गाली,
करते नाइक हि सिजतस वाही सौं गोरषाली॥
सुनता न कोई दाद हि फर्याद किसू की,

कहिते न भली बात कोई सात किसू की।
राजी है चुगल चोर नहीं दाद किसू की,
असराफ फिरै ख्वार, नहीं याद किसू की ॥
घर-घर में अकल सबकी हैरान हो रही है,
खलक तमाम सारी बैरान हो रही है।
कोई न पिरदमन्द कुफरगान हो रही है,
रैय्यत इहाँ की सब ही पिरेसान हो रही हैं ॥
रैय्यत के घर न पैसा, कंगाल सब भये,
तांबा रहा न कांसा, माटी के चढ़ गये।
टुकड़े का पड़ा सांसा, मधेश बढ़ गये,
कपड़ा रहा न तन मैं, भंगेले बि सड़ गये ॥"

अतः यह निर्विवाद है कि प्रारम्भ में स्वभावतया गोरखा-अधिकारी बहुत कठोर रहे; लेकिन इसके बाद के प्रमाण मौजूद हैं कि बाद में वे कुछ ढीले पड़ गये थे और यह सोचने लगे थे कि यहाँ का शासन सुव्यवस्थित ढंग पर किया जाय। इसी उद्देश्य से उन्होंने सन् १८११-१२ में भूमि का सर्व-प्रथम विस्तृत बन्दोबस्त कराया तथा भूमिकर व अन्य कर निश्चित किये। इस सम्बन्ध में टिहरी-राज्य-संग्रह के एक कागज़ द्वारा काफी प्रकाश पड़ता है; उससे ज्ञात होता है कि जमा (रक़म) इस प्रकार निश्चित की गई थी—अजमेर-७७७।); सीला-१६०३।।।); ढाँगू-३०१३≡); करोंदू-११४४); लंगूर-१५०६।); कौड़िया-४३५); चौंदकोट-४६३८॥=); बदलपुर-८११-); सैंधार-२००); खाटली-२०८७); सावली-१६००=); बंगारस्यूँ व पिंगलापाखा-१२०२); मेलधार-३३७); ढौंढ्यालस्यूँ-४८१॥); बँगी-१३२१॥); बिजलोट-११६०); गुजड़ू-७०५); इड़ियाकोट-१०१०=); पैनौं-६७६); कोला-गाड-४१।-); तलाई-१२०।।।); बारहस्यूं-१०३८५।—); देवलगढ़-१३६१॥≡); नागपुर-११५८८॥=); बधाण-६४३७); लोहबा-

६३५२।); कपीरी-४५६≡); चोपड़ाकोट-२८४१॥); चांदपुर-८२३२॥=); अर्थात कुल—७५५३६॥=)। इसके अतिरिक्त श्री कुन्दनसिंह गुसाईं को भटिया (पट्टी गुजड़ू) के थोकदार श्री रुद्रसिंह गोर्ला रावत के पास सुरक्षित एक 'कौल-करार-पट्टा' की नक़ल मिली है, जिससे ज्ञात होता है कि गोरखा अधिकारियों ने बड़ी बारीकी से लगान की जाँच-पड़ताल की थी; पुराने कई दुखदायी कर बन्द कर दिये थे; तथा वसूली का सुविधापूर्ण तथा सन्तोषजनक प्रबन्ध किया था। इसी प्रकार उमटा (पट्टी बंगी) के थोकदार श्री राजेसिंह के पास सुरक्षित एक काग़ज़ से मालूम होता है कि प्रत्येक पट्टी के लगान-सम्बन्धी विस्तृत चार्ट तैयार किये गये थे; उनमें गांवों की संख्या, मकानों की संख्या,कुल ज्यूला, आबाद व गैर-आबाद ज्यूला, लगान की दर, 'मालखोता' करों, का ब्यौरा—यथा 'सौन्या-फागुण', 'टीका-भेंट', 'बक्ष्यात', 'दवथरी दस्तूर', 'जन्या-सुन्या', 'मेजारी'; तथा लगान-किश्तों के समय का ग्रामवार ब्यौरा दिया गया था। एक प्रकार से उसी बन्दोबस्त के आधार पर बाद में मि० ट्रेल ने अपना बन्दोबस्ती कार्य सम्पन्न किया था। स्वयं मि० ट्रेल ने अपनी रिपोर्ट में स्वीकार किया है कि उस बंदोबस्त में गोरखा-सर्कार ने कई पुराने कर कम कर दिए थे।

पड़सोली (पट्टी गुजड़ू) के थोकदार श्री नारायणसिंह गोरला रावत के पास सुरक्षित 'चौतरिया बड़ा बमशाह' द्वारा लिखित एक पत्र में ये शब्द अंकित हैं—"गड़ गोरषा को धरम छ हम्रा लेपा गड़ कुमाऊँ का रैति बराबर हो।" इस वाक्य से गोरखा-शासकों की निष्पक्षता का कुछ आभास मिलता है। स्वयं टिहरी-राज्य-संग्रह में सुरक्षित एक काग़ज़ के अनुसार, उन्होंने लंगूरगढ़ी के मन्दिर का पुनर्निर्माण कराया था और उसे उसकी पुरातन प्रतिष्ठा पर पहुँचा दिया था। पुराने गढ़वाली व कुमाउनी राजाओं ने श्री बद्रीनाथ व श्री केदारनाथ के मन्दिरों पर जो गाँव पहिले से चढ़ाए

हुए थे, उन्होंने उनको बहाल रखा; तथा अपनी ओर से कुछ और भी गांव चढ़ाये।

अंग्रेज़ों का आगमन और गढ़वाल का बंटवारा

इस प्रकार जब एक ओर महाराज सुदर्शनशाह प्रवास में कष्ट-पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे और दूसरी ओर उनकी प्रजा अत्याचारों के नीचे कराह रही थी, मई, सन् १८१४ ई० में कतिपय गोरखा-सैनिकों ने बुटवल की अंग्रेज़ी चौकी पर छापा मारा; उसके सम्बन्ध में लिखापढ़ी हुई; लेकिन जब नैपाल-सर्कार से कोई सन्तोष-जनक उत्तर नहीं मिला, तो १ नवम्बर, सन् १८१४ ई० को ब्रिटिश-सर्कार ने नैपाल-सर्कार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी तथा ब्रिटिश फौजें कई दिशाओं से नैपाल तथा उसके अधिकृत क्षेत्रों की ओर बढ़ीं।

अंग्रेज़ी सेना का एक दल जनरल जेलेप्सी के सेनापतित्व में सहारनपुर से देहरादून पहुंचा। नालापानी (कालुंगा) के क़िले से गोरखा-सैनिकों ने श्री बलभद्रथापा के नायकत्व में मुक़ाबला किया; जनरल जेलेप्सी स्वयं शत्रु-पक्ष की गोली के शिकार हुए और पूरे एक मास तक क़िला सर न हो पाया। आखिर क़िले के लगभग ४०० सैनिकों में से केवल ७० व्यक्ति बच गये थे; श्री बलभद्र थापा उन्हें लेकर नहान की तरफ चले गये। नालापानी की वीरता उस युद्ध की एक मुख्य घटना है। स्वयं अंग्रेज़ शासकों ने जनरल जेलेप्सी के स्मृति-स्तम्भ पर ये शब्द लिखाये—"अपने वीर विपक्षी क़िले के कमाण्डर बलभद्रथापा और उनके बहादुर गोरखों के प्रति आदर-भाव प्रदर्शित करने के लिये यहां पर यह अंकित किया जाता है कि—ये सब सैनिक बाद में रणजीतसिंह की सेना में भर्ती हो गये थे, जहांकि उन्होंने अपने अन्तिम व्यक्ति तक एक-एक करके पठानों के तोपख़ाने के समक्ष अपने प्राण दिये!"

उपरोक्त के सिवाय गढ़वाल के इलाक़े में और कोई युद्ध नहीं हुआ। पश्चिम में जनरल औक्टरलोनी के नेतृत्व में अंग्रेज़ सेनायें नहान व कांगड़ा आदि इलाक़ों में आगे बढ़ती रहीं; और पूर्व में वे मि० गार्डिनर के अधिनायकत्व में आगे बढ़ीं। उस दिशा से उन्होंने २७ अप्रैल, सन् १८१५ को अल्मोड़ा पर अधिकार कर लिया; उसके तुरन्त बाद ही मि० गार्डनर ने घोषणा कर दी कि कुमाऊँ प्रान्त ब्रिटिश अधिकार में ले लिया गया है। उसके बाद कहीं भी गोरखा-सेना अंग्रेजों का मुकाबला न कर सकी और बिना किसी खून-खच्चर के गढ़वाल पर भी अधिकार हो गया। आख़िर ३ मई, सन् १८१५ को मि० गार्डनर बाक़ायदा कुमाऊँ के 'कमिश्नर औफ एफ़ेयर्स' नियुक्त हुए और उसी जुलाई में मिस्टर जी० डबल्यू० ट्रेल गढ़वाल में उनके असिस्टैंट नियुक्त किये गये।

इधर युद्ध शुरू होने से पहिले ही दिल्ली में नियुक्त अंग्रेज़ राजदूतके 'फ़र्स्ट असिस्टैंट' मिस्टर डबल्यू० फ्रेज़र को हरिद्वार में नियुक्त किया जा चुका था, ताकि महाराज प्रद्युम्नशाह के पुराने कर्मचारियों की सहायता से गढ़वाल के प्रभावशाली व्यक्तियों तथा साधारण जनता को गोरखा-शक्ति के विरुद्ध उभाड़ा जाय। उन्होंने पत्र-व्यवहार करके इस दिशा में कुछ सफलता भी पाई। इसके अतिरिक्त जब युद्ध शुरू हो गया तब उन्होंने ब्रिटिश-सर्कार की ओर से एक घोषणा-पत्र निकाल कर गढ़वाल की जनता से अपील की कि गढ़वाल की जनता की कष्ट-गाथा के कारण ही उसने गोरखा-सर्कार से युद्ध छेड़ा है; इसलिये वे लोग अंग्रेज़ी सेना की यथाशक्ति सहायता करें तथा अंग्रेजी राज को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेवें! साथ ही, जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है, महाराज सुदर्शनशाह को फ़तहगढ़ से देहरादून लाया गया, ताकि इनकी उपस्थिति से स्थानीय सेना और जनता गोरखा फौज का और अधिक उत्साह के साथ मुक़ाबला कर सके; तथा इनके आग-

मन से यथेष्ट लाभ हुआ। फिर भी लौर्ड मौयरा ने २ अगस्त, १८१५ को एक 'गुप्त पत्र' इंगलैंड को भेजा था; उसमें उन्होंने लिखा कि—"ताहम उनकी उपस्थिति या उनके परिवार.वालों के प्रयत्न से कोई लाभ नहीं निकला।"

तत्कालीन गवर्नर-जनरल का यह लाँछन बिल्कुल अनुचित है। जहाँ तक जनता के सहयोग का प्रश्न है, स्थिति यह थी कि वह गोरखा-शासन से मुक्त होने के लिए लालायित थी और अवश्य अंग्रेजी सेना की सहायता करती; लेकिन अल्मोड़ा पर अधिकार होने तक अँग्रेज़ अधिकारियों ने किसी प्रकार की भी सेना गढ़वाल में नहीं भेजी। इसके विपरीत पूर्व में जब लोहबा इलाके के लोगों के पास कुछ हथियार पहुँचाये गये, तब उन्होंने बड़ी वीरता के साथ लोहबा-गढ़ में नियुक्त गोरखा-सेना पर हमला बोल दिया और घेरा डालकर रसद बन्द कर दी; उनके उस वीरतापूर्ण कार्य का परिणाम यह हुआ कि अल्मोड़ा पर अधिकार होने से चार दिन पहिले ही अर्थात २३ अप्रैल, सन १८१५ को लोहबा-वासियों ने गोरखा फौज से हथियार डलवा दिये थे! देशोद्धार की भावना से अनुप्राणित उस स्वयंसेवक सेना का नेतृत्व लोहबा-गढ़ के पुरातन स्वामियों के वंशधर श्री प्रमोदसिंह ने किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि अगर अत्याचार-प्रपीड़ित जनता को हथियार पहुँचा दिये जाते, तो वे स्वयं ही गोरखा-सेना को परास्त कर देते।

तथ्य यह है कि लौर्ड मौयरा के शब्दों के नीचे एक गहरा राजनैतिक षड़यन्त्र छिपा हुआ था। सर्कारी काग़ज़ों से यह ज्ञात होता है कि गोरखा-युद्ध प्रारम्भ होने से पहिले जो अंग्रेज़ अफसर गंगा नदी के उद्गम का पता लगाने आदि के बहाने गढ़वाल की स्थिति का अध्ययन कर चुके थे, उनकी रिपोर्टों के आधार पर लौर्ड मौयरा ने यह तै किया था कि तिब्बत के लिए व्यापारिक राज-मार्ग स्थित होने के कारण सारे गढ़वाल को अंग्रेज़ी-राज्य में

मिला लिया जाय; और कुमाऊँ को पुराने राजवंश के किसी व्यक्ति अथवा गोरखा-सर्दार बमशाह के सिपुर्द कर दिया जाय। लेकिन बाद में जब मि० फ्रेज़र ने रिपोर्ट भेजी कि गढ़वाल वाला मार्ग अच्छा नहीं है तथा अल्मोड़ा से तिब्बत जाने वाला मार्ग अधिक उत्तम है, तब उन्होंने अपनी राय बदल दी; और यह आदेश दिया कि देहरादून और गंगा व यमुना के मुहानों को छोड़कर शेष सब इलाक़ा महाराज सुदर्शनशाह को दे दिया जाय। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि ब्रिटिश सर्कार के तत्कालीन सेक्रेटरी मिस्टर जे० एडम्स ने अपने २४ नवम्बर, सन् १८१४ के पत्र में मि० फ्रेज़र को स्पष्टतया लिख दिया था कि 'श्रीनगर की घाटी' को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने का विचार छोड़ दिया गया है !

लेकिन युद्ध समाप्त हो जाने के बाद जब बँटवारे का वास्तविक समय आया तो यह हिदायत भी रद्दी की टोकरी में डाल दी गई। मि० फ्रेज़र को नियुक्त किया गया कि वे श्रीनगर जाकर तथा गढ़वाल में दौरा करके शीघ्र रिपोर्ट दें कि क्या किया जाय? उन्हें "कमिश्नर फ़ोर दि सेटलमेंट ऑफ़ गढ़वाल" का पद दिया गया। उस पद से उन्होंने जो रिपोर्ट भेजी उसके अनुसार वर्तमान देहरादून ज़िला, वर्तमान गढ़वाल ज़िला और पश्चिमोत्तर सीमा का रंवाई इलाक़ा ब्रिटिश अधिकार में ले लिये गये। उस निर्णय के अनुसार ही जुलाई, सन् १८१५ ई० में ब्रिटिश-सर्कार की ओर से मि० फ्रेज़र ने यह घोषणा की कि अलकनन्दा और मन्दाकिनी से पूर्व की ओर के गढ़वाल-वासी अपने आपको अब से ब्रिटिश प्रजा समझें।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि गढ़वाल का इतना बड़ा भाग हथिया लेने के लिये ही लार्ड मोयरा ने यह लांछन लगाया था कि महाराज सुदर्शनशाह और उनके परिवार वालों से अंग्रेजी सेना को कोई लाभ नहीं हुआ तथा सर्वसाधारण ने भी कोई सहयोग नहीं

दिया। कुछ लेखकों के अनुसार युद्ध की समाप्ति पर अंग्रेज़ सरकार ने इनसे सेना के खर्च के रूप में पांच लाख रुपयों की माँग की; और इनकी असमर्थता के कारण इतना बड़ा हिस्सा हथिया लिया गया! और मानों महती कृपा के रूप में इन्हें वर्तमान टिहरी-गढ़वाल ज़िले का अधिकार दिया गया !!

टिहरी-गढ़वाल राज्य की स्थापना

इस प्रकार पूरे ११ वर्ष के 'शरणार्थी-जीवन' के बाद १७ गते जेठ, सम्वत् १८७२ वि० (जून, सन्१८१५) के दिन महाराज सुदर्शनशाह गढ़वाल के एक छोटे हिस्से के नरेश कहलाने के अधिकारी हुए। उस समय इनकी अवस्था २५ वर्ष की थी; और इन्होंने सन् १८५६ तक शासन किया; अतः अब उन ४४ वर्षों की गाथा भी सुना दी जाये।

युद्ध की समाप्ति पर मि० फ्रेज़र के साथ ये सपरिवार श्रीनगर पहुँचे और गढ़वाल की जनता ने समझा कि फिर से उनका पुराना राज-वंश आ गया है; अतः उसने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक इनका स्वागत किया। लेकिन दो-तीन महीनों के बाद जब अलकनन्दा से पूर्व का इलाक़ा ब्रिटिश सर्कार ने सीधे अपने अधिकार में ले लिया, तब मजबूर होकर इन्हें पश्चिमी गढ़वाल की ओर जाना पड़ा। वहाँ इन्होंने भागीरथी और भिलंगना के संगम पर अपनी राजधानी स्थापित की। टिहरी पहिले एक छोटा-सा गाँव था; लेकिन धीरे-धीरे कुछ ही वर्षों में इनके प्रयत्नों से वह एक अच्छा ख़ासा नगर बन गया और वहाँ चमक-दमक दिखने लगी। टिहरी नामकरण पर 'गंगावली वासी लोकरत्न पंत उपनाम गुमानी पंत' (१७८० ई०-१८४६ ई०) का निम्न-लिखित छंद श्री शम्भुप्रसाद बहुगुणा की 'विराट हृदय' पुस्तक से उद्धृत किया जाता है—

"सुर गंगतटी, रसखान मही, धन कोश भरी, यहु नाम रह्यो;
पद तीन बनाय रच्यो बहु विस्तर बेग नहीं जब जात कह्यो।
इन तीन पदों के बखान बस्यो अच्छर एक ही एक लह्यो;
जनराज सुदर्शन साह पुरी, टिहरी इस कारण नाम रह्यो।"

टिहरी-राज्य-संग्रह के एक विवरण के अनुसार नालापानी की पराजय के बाद से ही गोरखों के पाँव उखड़ गये थे; जैसे ही वे पीछे हटे कि महाराज सुदर्शन शाह भी अंग्रेज़ी सेना के साथ आगे बढ़े। चमुवाखाल से गोरखों को भगाया गया। अंग्रेज़ी फौज अठूर पहुँची और महाराज सुदर्शनशाह बमुण्ड पहुँचे। फिर गोरखा सैनिक भागकर श्रीनगर पहुंच गये। अंग्रेज़ी फौज टिहरी पहुंची और महाराज सुदर्शनशाह का डेरा अठूर आया, जहाँ कि प्रजा की भीड़ इनके दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी। आखिर ७ गते जेठ, सम्वत १८७२ को इनका डेरा श्रीनगर के दूसरी ओर राणीहाट में दाखिल हुआ। वहाँ प्रजा के प्रमुख लोगों ने आकर इनका स्वागत किया और भेंटें नज़र कीं। गोरखा-सर्दार अब निराश हो चुके थे। उन्होंने अंग्रेज़ कमाण्डर से अनुरोध किया कि उन्हें श्री बद्रीनाथ जी की भूमि के राजा के दर्शन करने दिये जायं और श्रीनगर से सामान ले जाने के लिए 'बेगारी' मिल जायँ। पहिला अनुरोध ठुकरा दिया गया, लेकिन दूसरी प्रार्थना के अनुसार 'बेगारी' लोग भेज दिये गए। आख़िरकार २१ गते जेठ को गोरखा-सर्दार अपनी बची-खुची सेना लेकर नैपाल को चल दिए। मि० फ्रेज़र १ गते श्रावण श्रीनगर पहुँचे। महाराज सुदर्शनशाह भी उसी दिन अपने पूर्वजों की राजधानी में प्रविष्ट हुये। ११ गते श्रावण को ये मि० फ्रेज़र के साथ दिल्ली गए; कुछ दिन वहां रहे और यमुना और अलकनन्दा के मध्य का राज्य पाकर वापिस आये। ज्वालापुर से इन्होंने अपना परिवार साथ लिया और देहरादून के रास्ते १७ गते फाल्गुन, सम्वत् १८७२ वि० के दिन टिहरी

पहुंचे और वहाँ अपनी नई राजधानी स्थापित की ।

महाराज सुदर्शनशाह एक योग्य और प्रजा-वत्सल शासक थे। इन्होंने कुशलतापूर्वक शासन-कार्य चलाया और गोरखा-शासन में जो गाँव व खेत नष्ट-भ्रष्ट हो गये थे उन्हें शीघ्र ही आबाद करा दिया। इनके शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में "मेम्वौयर्स औफ़ देहरादून" के लेखक मि० विलियम्स ने लिखा है–"सुदर्शनशाह एक बुद्धिमान शासक थे। उन्होंने अपने राज्य की उन्नति के लिए जो प्रयत्न किए उनकी तुलना देहरादून के ब्रिटिश इलाक़े से करते हुये मि० शोर ने लिखा है कि विजय के ठीक बाद ही देहरादून के प्रबन्ध में बहुत लापरवाही दिखाई गई !"

इन्होंने ब्रिटिश गवर्नमेंट के साथ सदैव मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखा। ४ मार्च, सन १८२० ई० को इन्होंने बाक़ायदा एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये। उसके अनुसार ब्रिटिश गवर्नमेंट ने टिहरी-गढ़वाल पर इनका व इनके वंशजों का अधिकार स्वीकार किया; अपनी ओर से इन्होंने यह वचन दिया कि आवश्यकता पड़ने पर ये सहायता व सामग्री देंगे; अपने राज्य तथा पारवर्ती देशों से व्यापार करने में सुविधाएँ प्रदान करेंगे, तथा ब्रिटिश राज्य की सहमति के बिना अपने राज्य के किसी भी भाग को न बेचेंगे और न गिरवी रख सकेंगे। जुलाई, सन १८१५ में पूर्वी गढ़वाल ज़िले का इलाक़ा अलग किया गया था; फिर सन् १८१६ ई० में मि० ट्रेल की रिपोर्ट के अनुसार नागपुर पर्गने में ज़िला गढ़वाल व टिहरी-गढ़वाल के मध्य की सीमा अन्तिम रूप से निर्धारित की गई। सन १८२४ ई० में रंवाई का पर्गना भी टिहरी-गढ़वाल में शामिल कर दिया गया। कई वर्षों तक देहरादून का ब्रिटिश अधिकारी ही टिहरी-गढ़वाल के लिये 'पोलीटिकल एजेण्ट' का कार्य करता रहा; पर २६ दिसम्बर, सन १८४२ ई० से यहाँ की 'पोलीटिकल एजेन्सी' कुमाऊँ के कमिश्नर को दे दी गई।

इनके ही राज्य-काल में सन् १८५७ ई० का सुप्रसिद्ध सैनिक-विद्रोह' हुआ। उस अवसर पर महाराज सुदर्शनशाह ने ब्रिटिश गवर्नमेंट को पूरी सहायता दी। कहते हैं कि नजीबाबाद के नवाब ने एक पत्र लिखकर इनसे विद्रोह में सम्मिलित होने का अनुरोध किया था, लेकिन इन्होंने साफ़ इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं; इन्होंने अंग्रेज़ी फौज के लिए सैनिक व रुपये भी दिए तथा मसूरी की रक्षा के लिये अपनी ओर से दो सौ सिपाहियों का पहरा लगाया। उन दिनों शिमला व मसूरी से कई अंग्रेज़ पौड़ी, अल्मोड़ा व नैनी-ताल जाया करते थे, क्योंकि विद्रोह के कारण मैदानी इलाक़ों का मार्ग बन्द था; इन्होंने उन अंग्रेज़ अफसरों को हर तरह की सहायता पहुँचाई। यह कहा जाता है कि उस सहायता के उपलक्ष्य में अंग्रेज़ी सर्कार इन्हें बिजनौर ज़िले का कुछ इलाक़ा देना चाहती थी; लेकिन इन्होंने उसके बदले देहरादून और ज़िला गढ़वाल का ही अपना पुराना इलाक़ा देने की माँग की। यह बातचीत चल ही रही थी कि अचानक ७ जून, सन १८५७ को महाराज सुदर्शनशाह का देहान्त हो गया; और यह मसला वैसा ही पड़ा रह गया!

इनके परिवार में इनके चाचा कुँवर प्रीतमशाह भी थे; वे गोरखा-युद्ध की समाप्ति के बाद काठमांडू की नज़रबन्दी से मुक्त हुए और सन १८१८ ई० में टिहरी पहुँचे। उन्हें वहाँ १७००) वार्षिक भत्ता मिलता था; और अल्मोड़ा के गोरखा-शासक श्री बम-शाह ने उनकी योग्यता पर मुग्ध होकर अपनी पुत्री का विवाह उनके साथ कर दिया था। टिहरी लौटने पर उन्होंने ब्रिटिश गवर्न-मेंट के समक्ष दावा किया कि ज़िमींदारी हक़ के आधार पर उन्हें देहरादून और ज़िला गढ़वाल का अधिकार मिलना चाहिए; लेकिन ब्रिटिश सर्कार ने यह माँग अस्वीकृत कर दी। महाराज सुदर्शनशाह ने उन्हें १०,०००) वार्षिक की जागीर देकर संतुष्ट किया और जीवन भर उनका यथेष्ट आदर-सत्कार करते रहे। कुंवर प्रीतमशाह

कला-प्रेमी व्यक्ति थे; उन्होंने स्वयं श्रीनगर जाकर श्री मोलाराम से चित्र-कला का अभ्यास किया था। लेकिन कुछ ही वर्षों के बाद निस्सन्तान उनकी मृत्यु हो गई।

महाराज सुदर्शनशाह के दो विवाहों का ज्वालापुर में ही होना पाया जाता है; उनमें से शायद एक रानी का कुछ ही दिनों बाद देहान्त हो गया था; तथा दूसरी रानी—सिरमौर की राजकन्या से भी इन्हें कोई सन्तान नहीं हुई। इसलिए बाद में इन्होंने काँगड़ा के राजा संसारचन्द्र की दो पुत्रियों से एक साथ ही विवाह किया, लेकिन उन दोनों से भी कोई सन्तान नहीं हुई। बाद में इन्होंने कुछ और विवाह किए; और तब कई राजकुमार पैदा हुए। उनमें से महाराज भवानीशाह इनके बाद राज्याधिकारी हुए।

महाराज सुदर्शनशाह के जीवन का एक और पहलू है। ये एक साहित्य व कला-प्रेमी व्यक्ति भी थे। संस्कृत का इन्होंने अच्छा अध्ययन किया था। स्वयं कविता लिख लिया करते थे; और विद्वानों व कलाविदों का खूब आदर-सत्कार किया करते थे। इन्होंने श्री मोलाराम के समकालीन चित्रकार और शिष्य श्री चैतू और श्री माणकू को अपने दर्बार में आश्रय दिया था; इन दोनों चित्रकारों के अनेक चित्र अभी तक टिहरी-राज्य-संग्रह में मौजूद हैं। इन कलाओं के अतिरिक्त इन्होंने तन्त्र-शास्त्र का भी अध्ययन किया था। इस दिशा में ये इतने पारंगत हो गये थे कि मि० एटकिनसन के अनुसार इनके विषय में दो कथाएँ प्रचलित हैं—

पहली कहानी इस प्रकार है कि एक दिन महाराज ने अपने महल के एक दालान से आती हुई ढोल पीटने और नाचने की ध्वनि सुनी। पूछताछ की तो पता लगा कि किसी बांदी पर 'गोरिल' आ गया है। महाराज को क्रोध आ गया और इन्होंने बांस के एक मोटे डण्डे का अपने मन्त्र-बल से ऐसा प्रयोग किया कि सब उपस्थित लोगों ने घोषणा कर दी कि देवता विदा हो गया

है ! महाराज ने तब गोरिल को आज्ञा दी कि वह भविष्य में किसी पर न आवे । इसीलिए अभी तक यह विश्वास है कि अगर किसी व्यक्ति पर गोरिल आना शुरू हो और वह व्यक्ति महाराज सुदर्शनशाह का नाम ले ले तो वह देवता फ़ौरन कूच कर जाता है !

दूसरी कहानी के अनुसार इन्होंने सब 'बोक्सों' को यह बहाना करके अपने पास बुलाया कि इन्हें किसी विशेष उत्सव के लिये उनकी आवश्यकता है, और उन्हें यह आश्वासन दिया कि यदि सफलता मिल गई तो उन्हें अनेक प्रकार के पुरस्कार देंगे । यह निमन्त्रण पाकर सब 'बोक्सा' लोग जादूगरी की अपनी पुस्तकें लेकर इनके दर्बार में उपस्थित हो गए । जब सब 'बोक्से' एकत्र हो गए, तब अपने मंत्र-बल से इन्होंने फ़ौरन उनके हाथ पैर बंधवा दिये ! और उनकी किताबों सहित उन्हें भागीरथी में डुबवा दिया ! कहते हैं कि उस दिन से गढ़वाल को उन जादूगरों से मुक्ति मिली !!!

द्वितीय खण्ड

(१) श्री गढ़ु सुम्याल

(निधन-तिथि—लगभग सन १४५५ ई०)

गढ़वाल के मध्य-युगीन भड़ों में एक प्रमुख स्थान रखने वाले श्री गढ़ु सुम्याल पर श्री शिवनारायण सिंह विष्ट ने पूरा पँवाड़ा ही प्रकाशित किया है; लेकिन उन्होंने इनके काल तथा स्थान आदि पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। सारी पुस्तक को पढ़ने के बाद मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि गढ़वाल की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर स्थित बूँगी या पैनों पट्टियों के इलाक़े में इनका निवास-स्थान था; वहाँ से कुमाऊँ की सीमा मिली हुई है; साथ ही जिस रामगंगा नदी का उसमें ज़िक्र आता है वह भी समीप ही है; इसके अतिरिक्त जिस 'माल की दूण' की विजय करने का उसमें उल्लेख मिलता है, उस का अर्थ पातलीदून तथा वर्तमान कालागढ़ के आसपास के तराई-भाबर का इलाक़ा ही प्रतीत होता है। पातलीदून तथा उसके आस-पास अंग्रेजों के आगमन से पहिले विस्तृत खेत थे तथा वहां खूब खेती हुआ करती थी; बाद को जंगल बन्द करने की प्रणाली के लागू होने पर वह घाटियाँ बंजर हो गईं और अब उन पर घने जंगल हैं। इस पंवाड़े में घने जंगलों का कई बार उल्लेख आता है; वे भी इसी इलाक़े के समीप हैं।

इनके काल के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य मिला है। इस में कुमाऊँ के राजा "गुरु ज्ञानी चन्द" का उल्लेख है। यह निश्चित है कि पंवाड़े का वास्तविक तात्पर्य राजा 'गरुड़' ज्ञानीचन्द से है;

उन्होंने सन् १३७४ से सन् १४१६ तक कुमाऊँ राज्य पर शासन किया था। श्री बद्रीदत्त पांडे लिखित "कुमाऊँ का इतिहास" में यह उल्लेख आता है कि उन्होंने दिल्ली के सम्राट मुहम्मद तुग़लक को पत्र लिख कर तथा फिर स्वयं भी दिल्ली जाकर तराई-भाबर का प्रान्त रुहेलखण्ड के नवाबों से छुड़ाया; उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप यहां तक शाही फ़र्मान निकला कि "तराई भाबर का इलाक़ा भागीरथी गंगा तक कुमाऊँ के राजा के अधिकार में रहेगा।" भागीरथी गंगा का उल्लेख स्पष्टतया संदेहात्मक है; मेरी सम्मति में उसका तात्पर्य रामगंगा से था; अर्थात् रामगंगा नदी के किनारे तक पश्चिम में कुमाऊँ राज्य की सीमा मान ली गई थी। "कुमाऊँ का इतिहास" के अनुसार वह घटना सन् १४१० तथा सन् १४१२ के बीच की है। इससे यह स्पष्ट है कि उनके तराई-भाबर पर अधिकार हो जाने के बाद ही उनके 'मालों' (सैनिकों) ने नवयुवक गढ़ु को बांसुरी के लिये बांस काटते समय रोका होगा! इस विश्वसनीय सूत्र के मिल जाने पर यह सम्भव प्रतीत होता है कि श्री गढ़ु सुम्याल का जन्म सन् १३९५ के लगभग हुआ होगा; सन् १४१५ के लगभग इनका विवाह हुआ होगा; सन् १४२८ के लगभग इन्हें अन्तिम विजय मिली होगी और सन् १४५५ तक ये अवश्य जीवित रहे होंगे। उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर इनका जीवन-परिचय दिया जाता है—

रणबांकुरे भड़ श्री गढ़ु सुम्याल का जन्म लगभग सन् १३९५ ई० में गढ़वाल-राज्य की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर स्थित "तल्लि खिमसरि हाट" नामक स्थान में हुआ था। इनके पिता श्री ऊदी 'सुम्याल रावत' थे और इनकी माता का नाम कुंजावती था। लेकिन इनके जन्म से कुछ महीने पहिले ही इनके पिता का देहान्त हो चुका था। समीप ही 'रुद्रपुर' स्थान के मालिक श्री रूदी रावत के पिता तथा इनके दादा सगे भाई थे। छोटे भाई के पुत्र थे श्री

रूदी रावत: और बड़े भाई के पुत्र थे श्री ऊदी रावत, लेकिन ये उम्र में कुछ छोटे थे। उनके ज़माने में "माल की दूण" 'अनसधी' रह गई थी; अत: दोनों भाइयों ने मिलकर उस पर धावा किया और वीरतापूर्वक वहां से बहुत-सा लगान तथा खाद्य-सामग्री प्राप्त की। लेकिन जब उस विजय के बाद उस सामग्री को लेकर दोनों भाई घर लौटे तब रूदी के मन में पाप आ गया; उसने छोटे भाई का हक़ मारने के उद्देश्य से सारी सामग्री चालाकी से अपने गाँव को भिजवा दी और जब एक "बांजे घट" के पास ऊदी भोजन के बाद विश्राम कर रहा था, उसने "घट की भेर" से उसे मार डाला। फिर उसने तल्ली खिमसारि हाट जाकर यह बात फैला दी कि ऊदी तो 'माल साधते' समय बैरियों के द्वारा मारा गया है! सुनते ही ऊदी की माता व पत्नी कुन्जावती शोक-विह्वल हो गईं; लेकिन भावी आशा पर उन्होंने जीवित रहने की ठानी। परिणाम यह हुआ कि रूदी के पास "अन्न के कोठार" थे, "धन की कोठरी", 'भैंस्यूं का खरक' व 'गायों का गुठ्यार' थे, पर ऊदी की माता व पत्नी के पास अन्न-धन की कमी हो गई व "नौ खंभु तिबारी माखा भिणकने" लगे! परिवार की ऐसी परिस्थिति में श्री गढ़ु सुम्याल का जन्म हुआ।

"होनहार बिरवान के होत चीकने पात"—बचपन से ही इनमें भड़ों के गुण थे; 'मालू मा को माल, शरीर सुडौल, चाँदू मा को चांद, पीठि जै को चाँद, हीया च सुरीज, चन्दन सि गेंड, भौंउ जैका ध्याडा, आँखें रतनाले, फीले पतनाजे, डाँडा सी डंड्वाक',—ये विशेषताएँ इनमें थीं। माता कुञ्जावती ने भी इन्हें शस्त्र-चालन आदि की पूरी शिक्षा दी; उन्होंने स्वयं प्रत्येक प्रकार की वीरता के पाठ इन्हें पढ़ाये। एक दिन खेलते-खेलते ये एक घनघोर जंगल में चले गए; वहाँ इन्हें एक शेर मिल गया; इन्होंने उसकी दोनों भुजाएँ पकड़ कर उसकी नाक में नकेल डाल दी और उसे माता के

समक्ष पेश किया; उन्होंने तुरन्त उसे छुड़ा दिया।

इस प्रकार गढ़ू 'भड़ता' की ओर प्रगति कर ही रहे थे कि तल्लि खिमसारि हाट में भयंकर अकाल पड़ गया; उधर इनकी दादी का देहावसान हो गया और खाने-पीने के बुरे हाल हो गये। एक दिन माता ने इनसे कहा कि "बडा जी' (ताऊ) से छाँछ माँग कर ले आ; उनकी तो बारा बीसी भैंसी हैं।" ये ताऊ के पास पहुंचे; वह इनके जन्म व शिक्षा की खबर सुनकर ही जलने लग गया था; उसने इनका अपमान करते हुए कहा—"लाख रुप्या खोल छवारा! थोरी मोल लीजा।" ये दुखित हृदय घर वापिस गये और माता को सब हाल सुनाया। उन्होंने इन्हें एक 'तुंगेला' दिया, जिसमें इनके पिता के एक लाख रुपये रखे हुए थे। ये दूसरे ही दिन बड़ी शान के साथ वह 'तुंगेला' लेकर ताऊ रूदी के यहाँ पहुँचे। रुपए उनके सिपुर्द किये तथा गुस्से में रात को उसकी 'तिबारी' उजाड़ दी व 'पूर्व का छाजा' भी गिरा दिया; उतने रूपए पाने पर भी ताऊ ने एक ही भैंस इन्हें दी। ये उसे लेकर खुशी-खुशी घर आये; लेकिन माता ने तुरन्त बतला दिया कि धोखा दिया गया है, क्योंकि वह भैंसी तो "जनम की औली और करम की बाँजी" थी। फिर भी ये हताश नहीं हुए। इन्होंने जंगल जाकर उस भैंस के लिये छप्पर बनाया; पास ही ताऊ का 'खरक' था; एक रात ये चुपचाप गए और वहाँ से सब 'बारा बीसी भैंसी' खोल कर ले आये और अपनें 'खरक' में बाँध दीं! ताऊ के सातों पुत्र तलाश करने आये और देखकर चले गये; लेकिन इनके क्रोध को देखकर किसी को कुछ कहने का साहस नहीं हुआ।

उसी 'लाखन' जंगल में इस प्रकार भैंसों के साथ निवास करते-करते एक दिन इन्हें 'बंसरी' बनाने की सूझी। पर ये निकट के एक जंगल में एक 'नौ पोरी का बाँस' काट ही रहे थे कि 'गुरु ज्ञानी चन्द' के 'माल' (सैनिक) आ गये; लेकिन इन्होंने तुरन्त

उन सबको यमपुर भेज दिया! उसके बाद इन्होंने उस बंशी को बजाना शुरू किया; उसके द्वारा इन्होंने 'बावन बाजा और छत्तीस स्वर' बजाये। उधर पास ही में कुमाऊँ राज्य की सीमा में स्थित 'टुप्याली कोट' की एक नवयुवती सम्भवतया जंगल में घास काट रही थी; उसका नाम था—"सरू कुमैण", और उसकी विशेषताएँ थीं—"हाथ नीं लियेंदी, भुयाँ नी धरेंदी, रमकदि बाँही, छमकदि चूड़ी, जिरैलो पिंडो, नौन्यालो गाथा, खंखरियालो माथो, बड़ी भरकर ज्वान।" वह रामगंगा पार करके इनके खरक में आई और इन पर मोहित हो गई। तब इन्होंने अपनी माता को सूचना भेजी; उन्होंने बाजे व बहुत से आदमी भेजे और ये अपनी नव-विवाहिता पत्नी सहित धूमधाम के साथ तलि खिमसरि हाट लौट आए।

इनकी इस सफलता और समृद्धि से ताऊ रूदी और भी जल गया। उसने अपने सातों बेटों और चौदहों नातियों की सभा बिठाई और एक षड़यन्त्र तैयार किया। उसने इन्हें अपने यहाँ बुलाया और दिखावटी प्रेम के साथ कहा कि "तुम्हारे पिता 'माल की दूण' साधने गये थे; लेकिन वहाँ से लौटकर नहीं आए। तुम्हें एक सच्चे क्षत्रिय के पुत्र की तरह अपने पिता का बदला लेना चाहिए। मैं तुम्हें रास्ता बता दूँगा और हर तरह से तुम्हारी मदद करूँगा।" ये सीधे-सादे व्यक्ति उसके झाँसे में आ गए। माता ने समझाया; नववधू ने मिन्नत की; लेकिन इन्हें तो "छत्री हंकार" चढ़ गया था। इन्होंने सरू को समझाया कि घबड़ाना मत और माता जी की सेवा करती रहना! और घर से अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर चल दिए; लेकिन ताऊ के ग़लत रास्ता बताने के कारण ये भूल से एक घनघोर जंगल में पहुँच गये; वहाँ रास्ता ही नहीं मिला और जंगली जानवरों का भी भय था। लेकिन ये हताश नहीं हुये और अपनी इष्टदेवी का स्मरण करके उनसे आर्शीवाद प्राप्त किया। वह प्रोत्साहन पाकर ये "चौरसु दूण" पहुँच गये और वहाँ अपनी तलवार के बल

पर सब शत्रुओं का नाश कर दिया तथा वहाँ पूरी तरह पर अपना अधिपत्य जमा लिया।

इन्होंने वहाँ 'हल्दी स्नान' किया, सोने का रेशमी जामा पहिना और 'रस्याल' (कर व अन्न) अपने यहाँ को भेजी । पर ताऊ रूदी घात लगाये बैठा था; उसने वह सब सामान रास्ते से ही अपने गाँव में पहुंचा दिया। लेकिन इन्होंने कोई चिन्ता नहीं की और सोचा कि—"मैं तो सारी 'दूण साध' कर ही घर वापिस जाऊँगा।" इधर ये विजय-कार्य में व्यस्त रहे, उधर इनकी माता व पत्नी को खाने-पीने की भी तकलीफ़ हो गई, क्योंकि ताऊ रूदी ने सब सामान झपट लिया था। इतना ही नहीं, उसने 'तलि खिमसारि हाट' जाकर यह खबर फैलाई कि गढ़ु भी अपने पिता की तरह शत्रुओं द्वारा मारा गया है ! उसने सरू को तरह-तरह से फुसलाना चाहा कि वह गढ़ु को भूल जाय और उसके बड़े पुत्र से विवाह करके सुख व ऐश्वर्य का उपभोग करे, लेकिन सरू बड़ी सती स्त्री थी; उसने उसे करारा जवाब दे दिया । फिर वह 'टुप्याली कोट' पहुंचा; लेकिन वहाँ भी सरू के भाइयों ने उसके सुझाव का समर्थन नहीं किया। आखिर वह 'तिमल्याली' गाँव गया; क्योंकि वहाँ सरू का मामा रहता था । उससे मिलकर उसने एक षड़यन्त्र रचा; सरू का मामा खिमसारि हाट आया और वह फुसला कर उसे अपने गाँव ले गया; बहाना यह किया कि 'दूण-दैज' के साथ दूसरे दिन लौटा देंगे, लेकिन दूसरे दिन उसका बन्द डोला उन्होंने 'सौकु' (मारछा) लोगों के यहां पहुँचा दिया, क्योंकि रूदी और मामा ने उनसे रुपये खा लिए थे !

जब सरू को इस षड़यन्त्र का पता लगा तब वह बहुत घबड़ाई; लेकिन फिर अपनी इष्टदेवी का स्मरण करके उसने धैर्य धारण किया और उन 'सौकों' से नीतिज्ञतापूर्वक कहा कि—"बारा वर्ष को मेरो ब्रत नी म। तब तैं तुम चुप रावो मी म।" इस आश्वासन

पर वह 'रूपा सौक' परदेश चला गया; और सरू भी अशोक-बाटिका की सीता की तरह प्रभु का स्मरण करती हुई किसी प्रकार अपने दिन बिताने लगी।

उधर जब माता कुंजावती को इस सारे षड़यन्त्र का पता लगा तो पहिले तो वह विक्षिप्त सी हो गईं; लेकिन फिर सन्देश भेजकर उन्होंने गढ़ु को घर बुला लिया। ये अपनी विजय में प्रसन्न खिमसरिहाट लौटे पर देखा कि श्मशान की सी शांति छाई हुई है और माता भी एक अँधेरे कमरे में पड़ी हुई किसी प्रकार अपने दिन काट रही हैं। उन्होंने सारा क़िस्सा इन्हें सुनाया कि "अब तेरे ताऊ के पाप का घड़ा भर गया है; अब तू अपने वंश का बदला ले; तभी मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी!" यह सुनकर इन्हें असाधारण क्रोध आ गया; लेकिन अपने विरोधियों की ताक़त अधिक देखकर इन्होंने कूटनीति से काम लिया। इन्होंने ताऊ रूदी को परिवार सहित निमन्त्रण देकर बुलाया और खूब दावत की; रात को उन्हें एक बड़े मकान में सुला दिया; उसका एकमात्र दर्वाजा भी कसकर बन्द कर दिया और फिर चारों ओर 'लीसा' (चीड़ का रस) छिड़क कर आग लगा दी। इस प्रकार दुष्ट ताऊ और उसके परिवार को इन्होंने समाप्त कर दिया। माता को हार्दिक प्रसन्नता हुई और उन्होंने उसी खुशी में कुछ समय बाद प्राण छोड़ दिए।

माता की अन्त्येष्टि-क्रिया करने के बाद गढ़ु ने अपनी प्रियतमा सरू की ओर ध्यान दिया। पहिले ये 'टुप्याल कोट' गए; 'जेठू' लोगों ने सारा विवरण सुनाया। तब ये 'तिमल्याली' गए और वहां प्रलय मचा दिया। उन सब का संहार करने के बाद इन्होंने 'जोगी' का वेष धारण कर लिया और सरू की तलाश में भटकने लगे। वर्षों भटकने के बाद एक दिन इन्हें एक बूढ़ी स्त्री से पता लगा कि "यहीं समीप ही एक रानी 'सौका' लोगों की कैद में पड़ी हुई है लेकिन उसने सदाव्रत खोल रखा है। ऐसी सती स्त्री मैंने नहीं देखी।

बारह वर्ष से वह अपने व्रत-नियम पर दृढ़ है।" इन्होंने वहां जाकर उसे पहिचान लिया; उस आकस्मिक मिलन से दोनों को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। फिर इन्हों ने एक-एक करके सब 'सौक' मार डाले और सरू को साथलेकर घर की ओर चल दिए।

लेकिन मार्ग में फिर विपत्ति आई। एक स्थान पर ये स्नान करने लगे और उधर 'रूपा सौक', जो बाद में अपने घर आया था, इनका पीछा कर रहा था। सरू की नजर दूसरी ओर थी; उसने पीठ पीछे से इन पर नंगी तलवार चला दी; उस वार से पहिले तो ये गिर पड़े, लेकिन फिर उठकर उसकी तलवार छीन ली और उसे यमपुरी पहुँचा दिया। लेकिन अपने घाव के कारण ये भी बेहोश होकर गिर पड़े। सरू ने समझा कि ये मर गये! वह विलाप करने लगी। रास्ते चलते 'ढांकरियों' ने भी उसकी सहायता नहीं की। तब उसने देवी भगवती की स्तुति की। उनके अनुरोध पर तुरन्त ही स्वयं श्री महादेव जी वहां प्रकट हो गये और उन्होंने अपनी 'अमृत तुम्बी' से इनके शरीर का सिंचन किया; ये अँगड़ाई लेकर उठ बैठे। दोनों ने श्री महादेव जी की फिर स्तुति की; उन्होंने इन्हें आशीर्वाद दिया और अन्तर्ध्यान हो गये।

फिर ये उस स्थान से चले। पहिले 'तिमल्याली' आए; वहां सब सुनसान था। उसके बाद 'टुप्याली कोट' आए; वहाँ सब लोगों ने इनका स्वागत किया और दहेज व साज-सामान देकर इन्हें विदा किया। फिर ये खिमसारि पहुँचे। वहां इन्होंने देवताओं की पूजा की और अपने राज्यारोहण का उत्सव मनाया। 'तिमल्याली', 'सौकाणी', व 'रुद्रपुर' में भी इन्हीं का राज्य हो गया। दूर-दूर तक इनकी धाक बैठ गई तथा "रणचूली राजा सबी डरी गैना। गढ़ सुम्याला कु भेंट दी दिना।" इन्होंने बड़ी प्रसन्नता के साथ लम्बे समय तक राज्य किया। इनके शासन-काल में प्रजा बहुत सुखी थी।

(२) श्री भरत ज्योतिक राय

(निधन-तिथि—लगभग सन १६२० ई०)

ये एक प्रसिद्ध विद्वान थे । गढ़वाल-राज्य के अतिरिक्त दिल्ली के मुग़ल-दर्बार में भी इनकी पहुँच थी । श्री चामीकर के दो पुत्र श्री पयागू तथा श्री अधिदेव हुए । श्री पयागू वाली शाखा में इनका जन्म हुआ था । इन्होंने ज्योतिष तथा संस्कृत काव्य-रचना में असाधारण प्रगति की । इनका नाम श्री परमानन्द भी था । अपनी विशेषज्ञता के कारण ये मुग़ल-सम्राट जहांगीर के दर्बार में निवास किया करते थे । इन्होंने "जहाँगीर-विनोद" शीर्षक ज्योतिष-ग्रन्थ की रचना की; वे इनसे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने ही इन्हें 'ज्योतिकराय' (ज्योतिषाचार्य) की उपाधि दी तथा दो-तीन बार स्वर्ण से इनका तोल करके वह सब स्वर्ण इन्हें दान कर दिया । सम्राट जहांगीर ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "जहांगीर नामा" में स्वयं इनके चमत्कारों का वर्णन किया है ।

उपरोक्त ज्योतिष-ग्रन्थ के अतिरिक्त इन्होंने "मानोदय" शीर्षक से संस्कृत में एक ऐतिहासिक काव्य की भी रचना की । यह गढ़वाल के महाराज मानशाह के उत्कर्ष का काव्य है । गढ़वाल-नरेशों से सम्बन्ध रखने वाले संस्कृत काव्यों में यह सबसे पुराना महत्वपूर्ण काव्य है । इन्होंने इस काव्य में 'रघुवंश'-कार कालिदास की शैली का अनुसरण किया है और बीच में महाकवि कालिदास का उल्लेख भी कर दिया है । ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्व है । गढ़वाल के राजवंश की वंशावली का जो स्वरूप इसमें दिया गया है वह सब से पुरातन है, अतः अत्यधिक महत्वपूर्ण है । यह काव्य ४ सर्गों तथा कुल ११५ पदों में विभाजित है ।

इनके ही वंश में, श्री अधिदेव वाली शाखा में, आगे जाकर श्री मेधाकर नाम के एक और कवि हुए । उन्होंने महाराज प्रदीप-

शाह से "मानोदय" काव्य की मूल प्रति प्राप्त करके उसका उद्धार किया। उन्होंने उसी के आधार पर सन् १७८२ में "रामायण-प्रदीप" की रचना की। वे महाराज प्रदीपशाह के राजपण्डित थे। उनके ही वंश में आजकल हिन्दी के सुलेखक श्री शम्भुप्रसाद बहुगुणा विद्यमान हैं; उन्होंने अपनी पुस्तक "विराट हृदय" में "ऐतिहासिक काव्य मानोदय" शीर्षक से इस विषय पर एक परिच्छेद प्रकाशित किया है; उन्हीं की सामग्री के आधार पर यह जीवन-परिचय दिया गया है।

---

(३) श्री माधोसिंह भंडारी

(निधन-तिथि—सन् १६३५ ई० के लगभग)

"एक सिंह रैंदो बण, एक सिंग गाय का।
एक सिंह 'माधोसिंह', और सिंह काहे का॥"

जिन रणबांकुरे श्री माधोसिंह भण्डारी के लिये आज भी सारे गढ़वाल में उपरोक्त उक्ति प्रचलित है, उनके जन्म और मृत्यु का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। लेकिन इतना मालूम है कि महाराज महीपतिशाह के समय में ये उनके प्रधान सेनापति थे और उन्हीं के राज्य-काल में इनकी मृत्यु भी हुई। लेकिन स्वयं महाराज महीपतिशाह की तिथियों का अभी तक निश्चयात्मक रूप से निरूपण नहीं हो पाया है। टिहरी-राज्य-वंशावली के अनुसार उनका शासन-काल सन् १५२७ ई० से सन् १५५२ ई० तक था; श्री हरिकृष्ण रतूड़ी के अनुसार उन्होंने सन् १६२६ ई० से सन् १६४६ ई० तक राज्य किया। लेकिन उपरोक्त दोनों ही तिथियाँ ठीक प्रतीत नहीं होतीं। श्रीनगर के केशोराय के मठ पर उनका एक शिलालेख सन् १६२५ ई० का अंकित है; साथ ही उनके उत्तराधिकारी महाराज पृथ्वीपतिशाह के विषय में यह ज्ञात है कि उन्होंने सन् १६४० ई०

से सन् १६६१ ई० तक राज्य किया। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात है कि उनसे पहिले के शासक महाराज दुलारामशाह का एक दान-पत्र सन् १५८० ई० का है। अतः यह निश्चित है कि महाराज महीपतिशाह का शासन-काल सन् १५८१ ई० से सन् १६४० ई० तक रहा होगा। लेकिन इतना लम्बा राज्य-काल साधारणतया सम्भव नहीं। कुमाऊँ के इतिहास से पता लगता है कि वहाँ के राजा लक्ष्मीचन्द ने पहिली बार सन् १५६७ ई० में गढ़वाल पर आक्रमण किया था और उन दिनों यहाँ महाराज महीपतिशाह शासनारूढ़ थे। अतः उनका राज्य-काल लगभग सन् १५६६ ई० से सन् १६४० ई० तक मानना ही सर्वाधिक उचित होगा। इन तिथियों के अनुसार, श्री माधोसिंह भण्डारी की मृत्यु-तिथि सन् १६३५ ई० के लगभग बैठती है; इसलिये यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इनका जन्म सन् १५८५ ई० के लगभग हुआ होगा। अतः उपलब्ध सामग्री के अनुसार इनका जीवन-चरित्र इस प्रकार था—

श्री माधोसिंह भण्डारी का जन्म सन् १५८५ ई० के लगभग वर्तमान टिहरी-गढ़वाल ज़िले के मलेथा ग्राम में एक प्रतिष्ठित भण्डारी-परिवार में हुआ था; यह गाँव कीर्तिनगर से दो मील नीचे अलकनन्दा के दाहिने किनारे पर स्थित है। एक प्रचलित पंवाड़े के अनुसार, इनके पिता लखनपुर के निवासी प्रसिद्ध भड़ 'सोणबाण कालो भण्डारी' थे। उनके विषय में यह कथानक है कि महाराज मानशाह के समय में दिल्लीपति शहंशाह अकबर, सिरमौर के राजा मौलिचन्द और चम्पावतगढ़ के गुरु ज्ञानीचन्द ने मिलकर गढ़वाल-नरेश से अनुरोध किया कि "तुम्हारे उत्तराखण्ड में 'तपोवन' है; जहाँ 'आज' धान बोने से 'कल' तैयार हो जाते हैं; उसको गढ़वाल, कुमाऊँ, सिरमौर व दिल्ली में बराबर-बराबर बांट दिया जाय।" (यह 'तपोवन' अभी भी मुनी-की-रेती से एक

मील उत्तर की ओर गंगा के किनारे स्थित है और धानों के लिये प्रसिद्ध है । लेकिन मेरी सम्मति में केवल इतने छोटे भूमिखण्ड के लिये चार राज्यों के बीच बंटवारे की माँग नहीं की जा सकती थी । सम्भवतया उनका इशारा वर्तमान देहरादून की सम्पूर्ण घाटी से रहा होगा ।) ख़ैर; इस मामले को लेकर मतभेद पैदा हो गया । अन्त में दिल्ली से 'मुग़ल' व 'पठान' और कुमाऊँ से 'कालु' और 'कत्युरा' नाम के चार भड़ श्रीनगर भेजे गये कि जिसके भड़ जीतेंगे वह 'तपोवन' का स्वामी समझा जायेगा । इस मुसीबत के मौक़े पर राज-दर्बार को काला भंडारी की याद आई और वे बुलाये गये । उस अवसर पर उन्होंने ऐसी वीरता व बुद्धिमत्ता प्रदर्शित की कि दो भड़ों को तो नगर में ही पटक कर मार डाला और शेष दो भड़ डर के मारे स्वयं गंगाजी में डूब मरे । उस विजय पर सारे राज्य में हर्ष मनाया गया और श्री 'सोणबाण कालो भंडारी' को आदर-सम्मान के साथ एक बड़ा इलाक़ा जागीर में प्रदान किया गया ।

इस प्रकार इनके कुल में ही वीरता और पराक्रम का वातावरण विद्यमान था । उसी वातावरण में पलकर इन्होंने अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा और युद्ध-परिचालन की विद्या प्राप्त की । और अनुमानतः जब महाराज महीपतिशाह सन् १५९६ ई० के लगभग गद्दी पर बैठे उसके कुछ वर्षों के अन्दर ये श्रीनगर-दर्बार की सेना में प्रविष्ट हो चुके थे ।

महाराज महीपतिशाह एक अतुलनीय पराक्रमी राजा सिद्ध हुए । उनका प्रायः सारा समय रण-क्षेत्र में ही बीता । पूर्व की सीमा पर कुमाऊँ-नरेश राजा लक्ष्मीचन्द ने आठ बार हमले किये; और प्रत्येक बार उनका ज़ोरदार मुक़ाबला किया गया । उत्तर की तरफ़ से तिब्बतियों ने आक्रमण किया; उन्हें भी करारा जवाब दिया गया । पश्चिम में गढ़वाल राज्य की सीमा सतलज नदी तक

पहुँचाई गई। उन सब युद्धों में विजयी होने के कारण ही उन्हें "गर्वभंजन" के नाम से याद किया जाता है। कहना न होगा कि उन सब युद्धों में उनके दाहिने हाथ श्री माधोसिंह भण्डारी ही थे।

पूर्वी सीमा पर अनवरत गढ़वाल राज्य की रक्षा करने के अतिरिक्त उस काल की महत्वपूर्ण घटना तिब्बत से युद्ध है। नीती घाटे से पार तिब्बत में दापा एक प्रसिद्ध मण्डी है। उन दिनों वहाँ का सर्दार प्रायः प्रति वर्ष अपने दल-बल को लेकर हिमालय के इस पार आ जाता और पैनखंडा व दशौली के पर्गनों में लूटपाट मचाता; लेकिन जब गढ़वाली सेना उसका पीछा करती तो वह भाग कर हिमालय के पार निकल जाता! उसे दंड देने के लिये महाराज ने स्वयं अपने नेतृत्व में सेना का संगठन किया और श्री माधोसिंह भंडारी को सहायक सेनाध्यक्ष के रूप में साथ लेकर नीतीघाटा की ओर चल दिये। इधर की सेना अभी हिमालय के दर्रे में प्रविष्ट ही हुई थी कि दापा के सर्दार ने दूसरी ओर से सेना लाकर मार्ग अवरुद्ध कर दिया। ऐसे कठिन शीत के स्थान पर युद्ध छिड़ जाने से गढ़वाली सेना संकट में पड़ गई।

उन दिनों गढ़वाल के ब्राह्मण-क्षत्रियों में रोटी और भात दोनों एक ही समान वस्त्र उतार कर चौके में पकाने और खाने की प्रथा थी। लेकिन कठिन शीत के कारण नीती दर्रे में ऐसा करना असम्भव सा हो गया। महाराज ने पहिले तो कुछ और जातियों को 'सरोला' बना कर खाना पकाने वालों की संख्या बढ़ाई; लेकिन इससे भी कार्य नहीं चला, क्योंकि उनको भी वस्त्र उतार कर ही खाना-पकाना पड़ता था। अन्त में श्री माधोसिंह भण्डारी के सुझाव पर उन्होंने यह घोषणा कर दी कि रोटी 'शुचि' समझी जाय और त्रिवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) बिना वस्त्र उतारे चौके से बाहर भी एक दूसरे के हाथ की पकी हुई रोटी खा लें। इस आज्ञा के निकलते ही सेना की कठिनाइयाँ कम हो गई। यह विश्वास है

कि तभी से समस्त गढ़वाल में रोटी को 'शुचि' मानने की प्रथा चल पड़ी।

आख़िर गढ़वाली सेनाने इस ज़ोर का आक्रमण किया कि तिब्बती सेना के पैर उखड़ गये और वह पीछे हटती-हटती 'घाटे' के पार तिब्बत के ढालू मैदान में पहुँच गई। उस विजय के फलस्वरूप दापाघाट का क़िला और मन्दिर गढ़वाल राज्य में शामिल किये गये; और उत्तरी सीमा तिब्बत में सतलज नदी तक नियत की गई।

इनके सुझाव पर महाराज महीपतिशाह शीघ्र ही मुख्य सेना के साथ दापाघाट से लौट आये; लेकिन वहाँ के किले में दो वर्त्वाल जनरलों के सेनापतित्व में कुछ सेना स्थायी रूप से वहीं नियुक्त कर दी गई; उनमें से एक जनरल का नाम श्री भीमसिंह वर्त्वाल था। तिब्बत का जलवायु गढ़वाली सैनिकों के अनुकूल नहीं पड़ा; अतः स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण कई सैनिक वापिस गढ़वाल लौट आये और कुछ वहीं मर गये; लेकिन वे जनरल अपनी बची-खुची सेना के साथ उस प्रान्त का शासन चलाते रहे। उधर दापा के भूतपूर्व तिब्बती सर्दार के पुत्र राजधानी ल्हासा जा पहुँचे और दलाई लामा से सहायता की प्रार्थना की। उन्होंने एक बड़ी सेना उनके साथ कर दी, जिसे लेकर उन्होंने अकस्मात दापागढ़ पर हमला बोल दिया। इधर उन दो वर्त्वाल जनरलों के पास बहुत कम सेना बची हुई थी; लेकिन फिर भी वे बड़ी वीरता के साथ लड़े और वहीं अपने सब साथियों के साथ वीरगति को प्राप्त हुए! उनके साहस और वीरता की मित्रों ही ने नहीं, बल्कि शत्रुओं ने भी प्रशंसा की। कहते हैं कि उन दोनों वीर गढ़वाली जनरलों की दो तलवारें अभी तक दापाघाट के बौद्ध-मन्दिर में मौजूद हैं, जहाँ भगवान बुद्ध की मूर्ति के साथ-साथ प्रति दिन उनकी भी पूजा की जाती है! शत्रु द्वारा वीरता की पहिचान और पूजा का इससे अच्छा उदाहरण शायद ही अन्यत्र कहीं मिलेगा!

पूर्वी और उत्तरी सीमाओं की वीरतापूर्ण रक्षा के अतिरिक्त श्री माधोसिंह भंडारी को एक विशेष महत्वपूर्ण कार्य पर नियुक्त किया गया। इन्हें आदेश दिया गया कि ये गढ़वाल-राज्य की उत्तरी और पश्चिमी सीमायें निश्चित करें और उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध करें। इस कार्य के लिये इन्हें सेना की एक टुकड़ी दी गई थी; और आदेश दिया गया था कि जितना आगे तक ये सीमा को बढ़ा सकें, बढ़ायें। इसका स्पष्ट मन्तव्य यह था कि आवश्यकता पड़ने पर ये विरोधी स्थानों पर युद्ध करके क़ब्ज़ा करें और तब वहाँ सीमा की स्थापना करें। और कहना न होगा कि इन्होंने इस दिशा में यथेष्ट सफलता प्राप्त की। इनके द्वारा बनवाए हुए सीमा-सम्बन्धी चबूतरे अभी भी हिमालय की चोटियों और घाटियों में यत्र-तत्र दिखाई पड़ते हैं। एक प्रचलित पंवाड़े के अनुसार, उसी मुहिम में इन्होंने ज्वालापुर (हरिद्वार) में एक मज़बूत क़िला बनवाया था, तथा सिरमौर तक गढ़वाल राज्य की सीमा बढ़ाई थी। इन्हीं सेवाओं के उपलक्ष्य में इन्हें महाराज महीपतिशाह ने "माणकनाथ का डाँडा, मगरा का सेरा, कालौं की कोटी, लालुड़ीगढ़ और जाखीगढ़ (बधाण)" की जागीरें प्रदान कीं तथा एक ताम्रपत्र भी दिया था।

अनुमानतः सन् १६३५ ई० की बात है। सीमा की स्थापना करते हुए ये पश्चिमोत्तर दिशा में छोटी चीन पहुँचे। यह स्थान सतलज की घाटी में तिब्बत की सीमा से मिला हुआ है, और आजकल हिमांचल प्रदेश के महासू ज़िले में सम्मिलित है। कहते हैं कि कई वर्षों तक कठिन शीत में कार्य करने के कारण इनका स्वास्थ्य बिगड़ चुका था, और वहाँ पहुँच कर तो रोग ने इन्हें बुरी तरह घेर लिया। जब इन्होंने देखा कि इनका अन्त समय समीप आ गया है, तो इन्होंने अपने साथियों से कहा—"ख़बरदार, मेरे मरने की खबर किसी पर प्रकट न करना; अन्यथा तुम लोग यहाँ विरोधियों के बीच हो; वे चारों ओर से आकर तुम्हें समाप्त कर देंगे;

और तब महाराज तक कौन सूचना पहुँचायेगा ? इसलिये तुम लड़ते रहना और धीरे-धीरे पीछे हटते जाना, ताकि शत्रु एक बारगी हमला न कर सके। मेरी लाश को तेल में भून कर कपड़े से लपेट देना और एक बक्स में बन्द कर के हरिद्वार लेते जाना; वहीं मेरा दाह-संस्कार करना।" साथियों ने इसी आदेश के अनुसार कार्य किया; हरिद्वार लौटकर इनके शव की अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न की और फिर श्रीनगर पहुँचकर सारा समाचार सुनाया ! इस दुर्घटना से महाराज को हार्दिक दुख हुआ और उनके आदेशानुसार सारे राज्य में शोक मनाया गया !!

मलेथा की गूल का निर्माण

इन वीर पुरुष का स्थायी स्मारक "मलेथा की गूल" के रूप में अभी तक विद्यमान है। इस गूल को निकालने के बारे में कई जन-श्रुतियाँ हैं—

पहिली जन-श्रुति के अनुसार, इनकी दो पत्नियां थीं। उन्हें इन्होंने दो अलग-अलग गांवों में रखा हुआ था। एक पत्नी के गांव में खूब 'सेरा' था और धान आदि की फ़स्लें अच्छी हुआ करती थीं। दूसरी मलेथा में रहा करती थी; उन दिनों वहां सिंचाई का प्रबन्ध नहीं था और इसलिये समतल होते हुए भी वहाँ साधारण खेती ही हो पाती थी। कहते हैं कि एक बार ये बहुत दिनों के बाद मलेथा आए; तो पत्नी ने ताना दिया कि "मेरे यहाँ 'सेरा' नहीं; बासमती का भात नहीं; इसीलिये तो तुम मेरी सौत के पास ही पड़े रहते हो। तुम यहां क्यों आने लगे ?" वह बात इन्हें चुभ गई और मलेथा में गूल लाकर तथा वहाँ 'सेरा' बनाकर इन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

एक अन्य पवाड़े के अनुसार, जब इनके वीर पिता "सोण-बाण काला भंडारी" की वीरता के कारण तपोवन का सेरा

गढ़वाल राज्य की संरक्षकता से निकल जाने से बच गया, तब दर्बार में यह विचार किया गया कि तपोवन तो राज्य के एक कोने पर मैदानों के मिलान पर स्थित है; अतः वहां हमेशा शत्रु से खतरा है; इसलिये राजधानी के समीप ही वैसा उपजाऊ 'सेरा' तैयार करने की कोशिश की जाय। श्री काला भण्डारी के तीन पुत्र थे—माधोसिंह, मदन सिंह और गजैसिंह। श्री माधोसिंह ने यह भार स्वीकार किया और सारे राज्य का निरीक्षण करने के बाद मलेथा को छाँटा। वहां अपने भाइयों की सहायता और अपने बुद्धि-बल से इन्होंने "चन्द्रभागा" की नहर निकाली व "हाथी-परमाण छेंडा" तैयार किया। इस प्रकार मलेथा के चौरस ऊसर मैदान को इन्होंने तपोवन के समान ही उर्बर बनाकर दिखा दिया।

एक और जन-श्रुति इस प्रकार है कि श्री माधोसिंह गढ़-नरेश के दर्बार में एक साधारण कर्मचारी थे; लेकिन समय के बहुत पाबंद थे। दीवान जी अक्सर देरी से कचहरी आया करते थे। एक दिन महाराज ने प्रश्न किया—"तुम देरी से क्यों आते हो, जब कि तुम्हारा ही कर्मचारी माधोसिंह ठीक समय पर आ जाता है ?" दीवान जी ने अपने आपको बचाने के लिए कहा—"माधोसिंह के गांव में सिर्फ मँडुवा, झँगोरा, गहथ जैसे मोटे अनाज होते हैं, जिन्हें पकाने में देर नहीं लगती। लेकिन मेरे गांव में चावल, गेहूँ आदि श्रेष्ठ अनाज होते हैं; उन्हें पकाने-खाने में देरी हो ही जाया करती है।" इस उत्तर से दीवान जी तो बच गये; लेकिन स्वाभिमानी माधोसिंह के हृदय में यह बात शूल की तरह चुभ गई! इन्होंने कुछ दिनों की छुट्टी ली और अपने गाँव मलेथा जाकर वह गूल निकाली। जब ये दर्बार में लौटे और महाराज को सारा विवरण ज्ञात हुआ तो वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने इन्हें ही अपना दीवान नियुक्त किया तथा प्रधान सेनापति का पद भी इनके सुपुर्द किया।

खैर; कारण जो कुछ भी रहा हो, लेकिन मलेथा की गूल एक देखने योग्य वस्तु है। मलेथा गाँव के दक्षिण-पश्चिम की ओर ऊपर से पहाड़ की एक 'धार' नीचे अलकनन्दा तक चली गई है और उसके दूसरी ओर एक पर्वतीय नदी बहकर नीचे अलकनन्दा में मिल जाती है। श्री माधोसिंह ने सोचा कि यदि किसी प्रकार बीच की 'धार' में सुरंग बनाकर उस नदी का पानी इस ओर ले आया जाय, तो मलेथा में सिंचाई की जा सकती है। आखिर कई दिनों के प्रयत्न के बाद व मिस्त्रियों को स्वयं सहायता देकर व तरकीब बताकर ये उस कार्य में सफल हुए। इस सुरंग की लम्बाई अन्दर ही अन्दर लगभग एक फ़र्लांग है; साथ ही ऊँचाई व चौड़ाई इतनी है कि कमर की सीध तक सिर झुका कर आर-पार जाया जा सकता है। उसके ऊपरी भाग में मज़बूत पत्थरों की छत बनाई गई है और लोहे की कीलें गाड़कर उसे सुदृढ़ किया गया है। इस सुरंग के रास्ते लगभग पांच 'घट' पानी हर समय मलेथा की ओर आता रहता है; और उसी के कारण मलेथा का मैदान एक उपजाऊ 'सेरा' बन गया है। श्री माधोसिंह भण्डारी के बल-पौरुष और बुद्धि-चातुर्य के कारण वह गढ़वाल भर के प्रसिद्ध 'सेरों' में से एक है; वहाँ का तम्बाकू दोनों गढ़वालों में बिकता है।

---

(४) श्री लोदी रिखोला

(निधन-तिथि—लगभग सन् १६४० ई०)

गढ़वाल में जिन अनेकों भड़ों की गाथाएँ आज भी हमारे गाँवों में गाई जाती हैं, उनमें श्री लोदी रिखोला का अग्रगण्य स्थान है। श्री हरिकृष्ण रतूड़ी के अनुसार वे महाराज महीपतिशाह के शासन-काल में गढ़वाली सेना के सेनानायक थे; तिब्बत पार दापाघाट तक विजय प्राप्त करने का श्रेय भी उन्होंने इन्हीं को दिया

है। श्री हरिराम धस्माणा ने भी अपने एक लेख में उन पर कुछ प्रकाश डाला है। इनके बारे में प्रचलित पँवाड़े से भी कई बातों का पता लगता है। इनके अतिरिक्त बयेली (पट्टी मल्ला बदलपुर) निवासी उनके एक वंशज श्री सूबेदार देवसिंह रिखोला नेगी से मुझे विस्तृत सामग्री मिली है। उपरोक्त सब विवरणों की छानबीन करने के बाद श्री लोदी रिखोला के जीवन की मुख्य घटनाएँ इस प्रकार हैं—

पट्टी मल्ला बदलपुर के बयेली गांव में लगभग सन १५६० ई० में इनका जन्म रिखोला-परिवार में हुआ था। इनके पिता अपने इलाक़े के एक प्रतिष्ठित थोकदार थे। बचपन इनका अपने गांव में ही बीता, जहां कि खेल-कूद और कसरत में इन्होंने अपना समय बिताया। इनकी उम्र अभी लगभग १३-१४ वर्ष की ही हो पाई थी कि ईड़ा (पट्टी मौंदाड़स्यूँ) से एक बारात बयेली आई। उसके स्वागत-सत्कार का सब गांव वाले प्रबंध कर रहे थे। गांव से नीचे जल-धारा के पास पानी से भरा एक बड़ा 'गैडा' रखा हुआ था; वह इतना भारी था कि कई लोग मिलकर भी उसे उठा नहीं पा रहे थे। उसी बीच बालक लोदी कौतूहलवश वहां पर पहुँच गये; इन्होंने अकेले ही उस 'गैडे' को उठा लिया तथा चढ़ाई पर ले जाकर बारात के स्थान पर पहुंचा दिया। इस पराक्रम को देख कर सब लोग आश्चर्यचकित हो गए और चारों ओर धूम मच गई। लोगों ने बारात का काम तो स्थगित कर दिया, और इन्हें पालकी पर बिठा कर बाजे-गाजों सहित सारे गांव की परिक्रमा कराई और स्थानीय भैरव देवता के समक्ष पूजा करके इनका अभिसिंचन किया। उस दिन से सब ओर यह खबर फैल गई कि एक नया 'भड़' पैदा हो गया है और चारों ओर इनकी ख्याति फैलने लगी।

कुछ दिनों बाद इनका विवाह एक सम्भ्रान्त थोकदार परिवार

की पुत्री से हो गया और ये सुखपूर्वक जीवन बिताने लगे। उन दिनों ये अधिकतर अपने गाँव से कुछ मील पश्चिम की दिशा में नयार नदी के किनारे खैरासैण में अपने 'बगवान' (बागीचे) में रहा करते थे। लेकिन शीघ्र ही इनके एकान्तवास का वह क्रम भंग हो गया।

महाराज महीपतिशाह ने तिब्बत से बार-बार आकर लूट-पाट करने वाले तिब्बती सर्दार को सदा के लिये परास्त करने का निश्चय किया। मुख्य सेनापति श्री माधोसिंह भंडारी के सुझाव पर उन्होंने गढ़वाल भर के सब 'भड़ों' तथा अन्य वीर युवकों को निमन्त्रण दिया। ये भला उस निमन्त्रण को कैसे अस्वीकार कर सकते थे ? तुरन्त श्रीनगर जाकर दर्बार में प्रस्तुत हो गये और एक सेना के संचालक नियुक्त हुए। तिब्बत-युद्ध में इन्होंने यथेष्ट वीरता का परिचय दिया और इसलिये वहाँ से लौटने पर इन्हें दक्षिणी सीमा की रक्षा का भार दिया गया; क्योंकि ये स्वयं दक्षिणी गढ़वाल के निवासी थे।

इनके कथानक में दिल्ली से दर्वाज़ा तोड़कर लाने का एक स्थान पर उल्लेख मिलता है। इस विषय पर उस पंवाड़े में बड़े ज़ोरदार शब्द आते हैं; लेकिन इस बात पर विश्वास करने के लिए पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। सम्भवतया इन्होंने नजीबाबाद के क़िले पर आक्रमण किया होगा और अपने बल-पौरुष द्वारा उसके फाटक को नष्ट-भ्रष्ट करके उसका कुछ अंश प्रमाण के तौर पर श्रीगनर-दर्बार में प्रस्तुत किया होगा। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इनके पंवाड़े को सम्पादित किया था और उनकी भी इस विषय में यही सम्मति है। दक्षिणी सीमा की रक्षा का भार इनके कन्धों पर होने के कारण नजीबाबाद के क़िले पर इनका आक्रमण करना यथेष्ट तर्क-संगत प्रतीत होता है, क्योंकि उन दिनों डाकू-लुटेरे गढ़वाल की सीमा में घुसकर लूट-पाट करते और भाग कर नजीबाबाद की

सरहद में घुस जाया करते थे। सम्भवतया उन्हीं का दमन करने के लिये इन्हें उस क़िले पर हमला करना पड़ा हो। दक्षिणी लुटेरों का दमन करने के लिये इन्होंने जिस स्थान पर अपनी 'रक्षणी' सेना नियुक्त की थी उसे ही अब रिखणीखाल कहते हैं।

उपरोक्त घटना के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हें कुछ समय तक कोई विशेष कार्य नहीं करना पड़ा और ये अपने 'बगवान' में विश्राम करते रहे। उधर श्री माधोसिंह भंडारी के नेतृत्व में उत्तरी व पश्चिमी सीमा निर्धारित करने का कार्य जारी था, और उसी कार्य को करते हुए छोटी चीन में उनका देहान्त हुआ। जब तक वे जीवित रहे तब तक सिरमौर आदि राज्यों में पूर्ण शान्ति रही और उधर के सब लोग गढ़वाल-राज्य की संरक्षकता स्वीकार करते रहे; लेकिन उनके देहावसान के बाद उन्होंने फिर उपद्रव मचाना शुरू कर दिया। वे गढ़वाल की सीमा में घुसकर खड़ी फस्लों को बर्बाद कर देते तथा गाँवों को लूट-पाट कर वापिस चले जाते। उनका दमन करने के लिए कई बार सेनाएँ भेजी गईं; फल-स्वरूप वे कुछ दिन शाँत रहते, लेकिन सेनाओं के लौटने पर फिर उत्पात शुरू कर देते। ऐसे अवसर पर महाराज महीपतिशाह को फिर इनकी याद आई और इन्हें संदेशा भेजा गया कि ये पश्चिमी सीमा को ठीक करें।

महाराज का सन्देशा पाकर श्री लोदी ने सब परिवार वालों तथा ग्रामवासियों से विदा ली। परन्तु चलते समय इनकी बांई भुजा फड़कने लगी और इन्हें कुछ ऐसा लगा कि शायद ये जीवित न लौट पायेंगे। इसलिए गाँव से कुछ दूर निकलकर ये 'बाट की पुगड़ी' तक ही गये और वहीं रात भर विश्राम किया। दूसरी सुबह जब ये घर वापिस लौट आये तो वीर-प्रसविनी माता ने इनकी बुरी तरह भर्त्सना की और कहा कि "देश की रक्षा के लिए चाहे प्राण भी देने पड़ें, पर वीरों को पीछे नहीं हटना चाहिए।"

यह कहकर उन्होंने अपने दूध की धारा छोड़ी और तवे पर छेद करके दिखलाया; साथ ही यह कहा कि "मेरे दूध की लाज रखना और अपने कुल को कलंक न लगाना।" इस प्रकार से प्रोत्साहित होकर ये श्रीनगर पहुँचे और अपनी सेवायें समर्पित कीं। महाराज ने स्वयं अपने हाथों से इनका तिलक किया और अपना आशीर्वाद देकर आदर-सत्कार के साथ एक सेना के संचालन का भार इन्हें देकर पश्चिमी सीमा की ओर भेजा।

अपनी वीरता, रण-कुशलता और सैन्य-संचालन के द्वारा इन्होंने सिरमौरी लुटेरों के दांत खट्टे कर दिये। इन्होंने उन्हें गढ़-वाल की सीमा से बाहर तो खदेड़ा ही; पर साथ ही सिरमौर की सीमा के अन्दर घुसकर इन्होंने उनका बुरी तरह दमन भी किया। यहाँ तक कि सारे इलाक़े में त्राहि-त्राहि मच गई और सबने इन्हें आश्वासन दिया कि अब कभी भी गढ़वाल की सीमा लाँघ कर उत्पात नहीं मचायेंगे। यह कहा जाता है कि वहाँ इनका इतना आतंक फैल गया था कि वहाँ के निवासी अभी तक अपने मकानों की छतों पर 'धुर' नहीं बांधा करते है और वहाँ की स्त्रियाँ भी अपने लहंगों पर नाड़ा नहीं बाँधा करतीं हैं! यह प्रथा वहाँ इसलिये प्रचलित है कि इनके चले आने पर वहाँ के लोगों ने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक वे लोदी के समान 'भड़' पैदा कर बदला नहीं ले लेंगे, तबतक वे उपरोक्त दो कार्य नहीं करेंगे!! लेकिन न तो वहाँ ही और न यहाँ ही फिर कोई वैसा वीर 'भड़' पैदा हो सका!!!

पश्चिमी सीमा से इस प्रकार सफलता प्राप्त करने के बाद जब ये श्रीनगर वापिस लौटे, तो श्रीनगर में इनका शानदार स्वागत किया गया। सारे राज्य में हर्ष मनाया गया और महाराज ने स्वयं अपने हाथों से इन्हें खिलअत पहिनाई और आज्ञा दी कि कराई-खाल से दक्षिण का सारा इलाक़ा जागीर में इन्हें दे दिया जाय। पर

इनके उस असाधारण सम्मान से मन्त्रियों में खलबली मच गई और उन्होंने षड़यन्त्र रचने शुरू कर दिए। उन्होंने महाराज को बहकाया कि श्री लोदी स्वयं राजा बनना चाहते हैं, आदि-आदि। अतः इन्हें आज्ञा दी गई कि ये एक विशेष दर्वाज़े को उखाड़ कर अपने बल का प्रदर्शन करें। उस दर्वाज़े के पीछे एक गड्ढे में कई बर्छे लगे हुए थे और ऊपर से नकली ज़मीन तैयार कर दी गई थी। उस विशाल फाटक को झटका देकर ज्यों ही इन्होंने उखाड़ा कि ये नीचे गड्ढे में गिर गये और बर्छों से बुरी तरह छिद गये!

एक वर्णन के अनुसार, इनका वहीं देहांत हो गया; सिर्फ इनकी पगड़ी बयेली तक पहुँच सकी, जहाँ कि इनकी पत्नी उसके साथ सती हो गई। एक अन्य वर्णन के अनुसार, उन बर्छों से घायल हो जाने पर भी ये साहसपूर्वक उठ खड़े हुए और अपने गांव की ओर चल दिये; खैरासैण के पास विषगङ्गी नदी के किनारे पहुँचने के बाद चढ़ाई शुरू हो गई; इस कारण ये आगे नहीं बढ़ पाये और वहीं इनका प्राणान्त हो गया। एक और कथानक के अनुसार, इन्होंने अपनी पगड़ी से अपनी कमर के घाव कस कर बांध लिये और घोड़े पर सवार होकर अपने गांव की ओर चल दिये; और वहाँ पहुँचने के बाद अपनी स्नेहमयी वीर-प्रसविनी मातेश्वरी की सुखद गोद में इन्होंने अपना अन्तिम साँस लिया! इनकी निःसन्तान धर्मपत्नी भी इनके साथ सती हो गई। उस भयानक शकुन को देखकर जन्मदायिनी वीर माता ने श्राप दिया कि उस दिन से उस कुल में कोई लड़ैया वीर पैदा नहीं होगा!

उधर महाराज महीपतिशाह को भी गहरी आत्मग्लानि हुई कि कि किस प्रकार एक निश्छल वीर देशप्रेमी 'भड़' दर्बारियों के षड़यन्त्रों द्वारा मारा गया! उनके बारे में कथानक है कि उन्होंने अपने राज्य के अन्तिम वर्ष में हरिद्वार के कुम्भ को जाते समय ऋषिकेश में भरत-मूर्ति की बिल्लौर की आँखें निकलवा दीं और फिर लगवा

दीं; हरिद्वार पहुँचे तो वहाँ ५०० जोगियों और १००० गृहस्थों को मरवा डाला; अन्त में उस धर्म-विरुद्ध कार्य का प्रायश्चित करने के लिये बिना किसी कारण कुमाऊँ के तत्कालीन राजा त्रिमलचन्द से युद्ध किया और वीरगति को प्राप्त हुए ! उनकी उस विक्षिप्तावस्था का एक मुख्य कारण श्री लोदी की लोमहर्षक षड़यन्त्रपूर्ण मृत्यु भी थी। उन्होंने इनके वंशजों को बदलपुर-पैनों की जागीर प्रदान की, जहाँ कि वे अभी तक थोकदार हैं। एक वर्णन के अनुसार, 'गढ़वाल का रखवाला' होने के कारण ही इन्हें 'रिखोला' की उपाधि दी गई थी। बदलपुरी रिखोला थोकदारी दस्तूर गढ़वाल में सर्वाधिक बताया जाता है।

श्री लोदी रिखोला के वंशधर अभी तक मल्ला बदलपुर पट्टी के बयेली तथा कोटा ग्रामों में विद्यमान हैं और यथेष्ट सम्पन्न व्यक्ति हैं। लेकिन उन वंशधरों के अतिरिक्त बयेली में इनका एक और स्मारक है। कहते हैं कि एक बार किसी व्यक्ति ने ताना मारा कि अगर वाक़ई 'भड़' हो तो अमुक पत्थर उठा लाओ। वह विशाल पत्थर गांव से कुछ दूरी पर पड़ा हुआ था। इन्हें जो तैश आया तो तुरन्त उस पत्थर को उठा लाये और गांव के बीच में स्थापित कर दिया ! वह पत्थर अभी तक मौजूद है; उसका अधिकांश भाग टूट गया है; लेकिन अभी भी जो टुकड़ा शेष है वह लगभग छै फीट लम्बा, चार फीट चौड़ा और एक फुट ऊँचा है। वह आजकल बच्चों के बैठने व खेलने का प्रिय स्थान है, और श्री लोदी की वीर-गाथा का पाषाणमय स्मारक है।

---

(५) श्री भगतु-पत्वा गोर्ला

(समय—१७वी शताब्दी का अन्तिम अंश)

गढ़वाल के भड़ों में इन दो जुड़वाँ भाइयों का ऊँचा स्थान है। गोर्ला वंश डोटी व काली कुमाऊँ में अधिकारहीन होने के बाद गढ़वाल-राज्य की शरण में आया था और उसे चौंदकोट पर्गने के गुराड गांव में निवास दिया गया था। वहाँ पहिले गुराडी नेगी थोकदार थे; लेकिन किसी कारणवश उन्हें पूर्वी नयार के समीप चौमासू आदि गाँवों में 'नेग' दे दिया गया और उनकी थोकदारी गोर्लावंश के प्रथम आगन्तुक भड़ को दी गई। धीरे-धीरे उस वंश को कई गाँवों की थोकदारियाँ प्राप्त होगईं; लेकिन कोई ठोस इलाका अर्थात् 'पट्टी' उनके पास नहीं थी। क्रमशः अपने बुद्धि-चातुर्य तथा वीरता से उनका गढ़वाल के राजवंश से वैवाहिक सम्बन्ध हो गया और दर्बार में उनका दबदबा इतना बढ़ गया कि "भैर गोर्ला, भितर गोर्ला, अर्ज विनत कैमू कर्ला" की प्रसिद्ध कहावत प्रचलित हो गई। उसी वंश के प्रसिद्ध थोकदार के घर में गुराड गाँव में इन दो जुड़वाँ भाइयों का जन्म हुआ था।

लेकिन इनके बड़े होने पर गृह-कलह की आशंका पैदा हो गई। यद्यपि ये दो भड़ बड़ी माता के पुत्र थे, लेकिन छोटी माता का पुत्र इनसे 'जेठा' था; अतः इस प्रश्न को लेकर कि ज्येष्ठत्व पत्नी का होना चाहिये कि पुत्र का माना जाना चाहिये—एक मतभेद पैदा हो गया। इनके विपक्ष में एक तर्क यह भी था कि जोड़वाँ होने के कारण थोकदारी को दो बराबर भागों में विभाजित करना होगा। आखिर यह सारा मसला महाराज के सम्मुख पेश किया गया। उन्होंने सब तर्कों पर विचार करके यह बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय दिया कि गुराड की थोकदारी तो उम्र में ज्येष्ठ पुत्र को ही मिलनी चाहिये; लेकिन अगर ये जुड़वाँ भाई पूर्वी सीमा पर जाकर कुमाउनी सर्दार का सिर काट

लावें तो गुजड़ू व खाटली की थोकदारी इन्हें दे दी जायेगी ! उन दिनों एक कुमाउनी सर्दार ने उस इलाक़े में आतंक व अत्याचार मचा रखा था और वहाँ का तत्कालीन थोकदार उसका मुक़ाबला नहीं कर पा रहा था।

बस, इन दो भड़ों को क्या चाहिए था ? ये तो अपनी वीरता प्रदर्शित करने के लिये उत्सुक थे ही। अतः इन्होंने एक शुभ दिन अपनी वीर माता के साथ गुराड से विदाई ली और पूर्वी सीमा की ओर प्रस्थान कर दिया। वहाँ जाकर इन्होंने जनता का मज़बूत संगठन तैयार किया और कांडा (पट्टी खाटली) में अपना केन्द्र स्थापित किया। आख़िर सब तैयारी करके एक दिन कुमाउनी फ़ौज से इनकी भिड़न्त हो गई। ये बड़ी बहादुरी से लड़े और कुमाउनी फ़ौज भगा दी गई। उसके बाद उसने उस इलाके की ओर कभी भूल कर भी नजर नहीं उठाई। इनके भी कई साथी वीरगति को प्राप्त हुये और ये जख़्मी दशा में उस कुमाउनी सर्दार का सिर लेकर श्रीनगर-दर्बार में उपस्थित हुए। महाराज ने इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की, और चूँकि प्रत्येक भड़ पर ४२-४२ घाव आये थे, अतः इन्हें उतने ही गाँवों की थोकदारी प्रदान की गई। ×

इस प्रकार विजय प्राप्त करके और महाराज से पुरस्कार पाकर श्री भगतु गोर्ला ने सिसई (पट्टी खाटली) में और श्री पत्वा गोर्ला ने पड़सोली (पट्टी गुजड़ू) में अपने केन्द्र-स्थान निश्चित किये; तथा भविष्य में दक्षिण-पूर्वी सीमा की ज़ोरदार रक्षा की। इनके वंशधर अभी तक विद्यमान हैं। श्री भगतु गोर्ला के वंशजों में श्री उमेश्वरसिंह, डिप्टी कलेक्टर, प्रमुख

× "उत्तर-भारत" (पौड़ी) के १२ जनवरी, सन १६३८ के अंक में श्री हरिराम धस्माणा, बी० ए०, का एक लेख "वीरमूर्ति भगतु-पत्वा" शीर्षक से प्रकाशित हुआ था उसी के आधार पर।

हैं; श्री पत्वा गोर्ला के वंशजों में श्री विष्णुसिंह रावत, संचालक, वीभिंग फैक्टरी, कोटद्वार तथा श्री नारायणसिंह रावत, सदस्य, जिला बोर्ड, प्रमुख हैं।

(६) श्री स्वामी शशिधर

(निधन-तिथि—सन १८२५ ई०)

गढ़वाली संत साहित्यकारों में प्रमुख स्वामी शशिधर की जन्म-तिथि का पता नहीं लगता; पर यह निश्चित है कि ये सन १८२५ ई० (संवत् १८८२ वि०) में ब्रह्मलीन हुए थे। तत्कालीन सब विद्वान लोग इनका बहुत आदर करते थे। इनकी चार पुस्तकों का काशी नागरी प्रचारिणी सभा की सन १६१२-१४ की खोज-रिपोर्ट से पता मिलता है। उनके नाम ये हैं—(१) दोहावली, (२) ज्ञान-दीप, (३) सच्चिदानन्द-लहरी और (४) योग-प्रेमावली।

उपरोक्त पुस्तकों से स्पष्ट है कि ये अच्छे कवि थे तथा बड़ी पहुँच के ज्ञानी थे। जीवन्मुक्त होकर ये इसी शरीर से उस ब्रह्मपद को प्राप्त हो गये थे, जहाँ ब्रह्म की सृष्टि और विष्णु के अवतारों की भी पहुँच नहीं। 'दोहावली' में इन्होंने रूपक की भाषा में ऐसे नगर में व्यापार करने की बात इस प्रकार लिखी है—

"ब्रह्मा न रचे न जहां विष्णु को नहिं अवतार।
ऐसो सहर में सदा करैं सब बसि बजार॥
एहि जाने सो ताको पंडित, करै कुतवाल बसाइ।
जाने बिना मिले नहिं, मूढ़ करि होत थकाइ॥"

ये उसी स्थान तक पहुँचने का सब को आदेश देते हैं। 'सच्चिदानंद लहरी' में ब्रह्मानुभव के आनन्द का इन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है—

"ध्यान भजन तहां नहिं पूजा, आये आप अतीत-आवरण-दूजा।
बधन-मोच्छ तहाँ पू ण आनंद, आपे आप सहज खेले निरबन्द॥"

उस पद तक पहुँचने का इन्होंने जो मार्ग बतलाया है उसमें भी मन की शक्तियों का भली भाँति ध्यान रखा गया है। इन्होंने कहा है कि ब्रह्मलीन होने के लिये ब्रह्म-बोध होना आवश्यक है और ब्रह्म-बोध तब तक नहीं हो सकता, जब तक मन को बोध-विषय की प्रतीति नहीं होती। इस विषय पर ये 'ज्ञानदीप' में लिखते हैं-

"मैं क्या कहूं कहे यति सति सभ कोइ,
सभ सभी गावैं जो बुझै सो सभ होइ।
प्रतित सैं बोध होवै बोध से लय लागे मन,
मन के गति मुनि जाने जाके मिलि गये तन॥"

मन को बिना कष्ट पहुंचाये सुख से अंतर्मुख करने के लिए इन्होंने मन के सामने कृष्ण का परम प्रेमाप्लुत स्वरूप रखा है। ये कहते हैं—

"नमस्ते नंद कुमार नमस्ते गोपिका वर।
बोधात्मा साधनी गावै दीन दास शशिधर॥"

कठिन योग को इस प्रकार प्रेममय बनाकर इन्होंने उसके हठ स्वरूप को कृष्ण के द्वारा मन के लिए आसानी से ग्राह्य बना दिया है। क्योंकि कृष्ण में हमें प्रेम और ज्ञान दोनों का समन्वय मिलता है; भागवत और महाभारत (भगवद्गीता जिसका एक अंश मात्र है), इसके साक्षी हैं; श्रीकृष्ण इसीलिए हमारे पुराणेतिहास आदिकों के सार हैं और ज्ञान के साक्षी तथा स्वयं योगिराज और योगियों के साध्य भी हैं। इसीलिए ये लिखते हैं—

"श्रुति स्मृति पुराणात्मा बोध साक्षि विद्याधर।
देवकी नंदन नाथ श्रीकृष्ण साधका वर॥"

महाभारत में कृष्ण ने योगत्रय-मूला गीता कही है और भागवत में प्रेम मार्ग का निदर्शन किया है; मानों दोनों का सार लेकर इन्होंने 'योग-प्रेमावली' लिखी थी। इस प्रकार तन-मन को अधिकार में करके आत्म-बोध के द्वारा साधक अपनी अविनाशी सत्ता को

प्राप्त करता है। इस पुस्तक में इन्होंने भगवद्भजन और प्रपत्ति की महत्ता इस तरह गाई है—

"काया कर निकर मुख राम भजि भक्ति मन आतमा जागला।
येति निज नाम खेवा खियायि भवाब्धि की बड पार लागला॥"

इस पद में 'जागला' और 'लागला' आदि शब्दों में भाषा का पहाड़ीपन ध्यान देने योग्य है।×

एक अन्य कथानक के अनुसार ये स्वामी शशिधर ही वे श्री शशिधर शर्मा मुनि हैं, जिनकी प्रेरणा पर पौड़ी के ऊपर पर्वत-शिखर पर श्री क्यूंकालेश्वर शिवलिंग की स्थापना की गई थी और जो इस समय भी इस प्रदेश का एक पवित्र तीर्थस्थान है; वहाँ प्रति वर्ष शिवरात्रि को एक मेला लगता है।

---

(७) श्री वासवानन्द ज्योतिषी

(निधन-तिथि—सन १८३० ई०)

ये एक उच्च कोटि के ज्योतिषी थे। गोर्खा राज्य तथा अंग्रेज़ी राज्य के प्रारम्भिक काल में विद्यमान थे। श्रीनगर में एक भारद्वाज गोत्री ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ था। इनके पितामह का नाम श्री गुणानन्द तथा पिता का नाम श्री लीलानन्द था। ये सात भाई थे और उनमें इनका दूसरा नम्बर था।

इन्होंने सन १८१७ ई० में "प्रश्नसिंधु" नामक ज्योतिष का एक उत्तम प्रश्न-ग्रन्थ रचा। उसकी एक अप्रकाशित प्रति अल्मोड़ा के श्री रामदत्त ज्योतिर्विद के पास है। उन्होंने इनके विषय पर १३ जून,

× जनवरी, १९३८ के "उत्तर भारत" (पौड़ी) में डा० पीताम्बर-दत्त बड़थ्वाल का एक लेख "गढ़वाल में संतमत और संत-साहित्य" शीर्षक से प्रकाशित हुआ था, उसी के एक अंश से प्रायः उनकी भाषा सहित यह सामग्री ली गई है।

सन १९३६ ई० की "शक्ति" में 'गढ़वाल के एक प्राचीन ग्रन्थकार' शीर्षक से एक लेख भी लिखा था। उन्होंने इनके ज्योतिष-ज्ञान की बहुत प्रशंसा की है। उस लेख में उन्होंने वंशाभिधान सम्बन्धी इनके निम्न पद उद्धृत किये हैं—

"पुखच्छी संज्ञं आवनि गढ़वाले जनपदे, प्रतीरे जान्हव्या विविध बुध वीथी विलसितम। मनीषी तत्रान्भून्मुनिवर भारद्वाज कुलजो। गुणानन्द सूरी विमल मतिरीशर्चनरतः ॥ १ ॥

"अतो लीलानन्दो जनि गणक भालार्चितपदो।
जगत्ख्यातः सुनिर्गुण गणजिता खंडल गुरु ॥
अथै तस्या प्यासन् विमलधिषणाः सप्ततनया।
द्वितीयो यस्तेषा मति निपुण धीर्वासव कविः ॥ २ ॥"

"श्री वासवानन्द कवेः प्रबन्धे, प्रश्नाख्य सिन्धौ विमलोक्ति युक्ते।
युक्तोष्टमोसौ त्रिधिरेव वृतैः वंशाभिधानो रुचिरस्तरंगः ॥ ३ ॥"

एक अन्य सूत्र के अनुसार, इन्होंने एक ऐसी ज्योतिष-सारिणी बनाई थी, जिसकी सहायता से वर्तमान समय के ज्योतिषी लोग भी अपना कठिन से कठिन काम हल्का कर लेते हैं।

---

(८) श्री बद्रीसिंह असवाल

(निधन-तिथि—सितम्बर, सन १८६८ ई०)

अठूर के किसान-नेता श्री बद्रीसिंह असवाल का जन्म सन १७८३ ई० में टिहरी-गढ़वाल राज्य के अठूर इलाक़े के सुनारगाँव ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री अटल असवाल था।

ऊँचे तथा सम्पन्न परिवार में उत्पन्न होने के कारण इन्होंने बड़े ऐश्वर्य से अपना समय बिताया तथा पास-पड़ोस के इलाक़े में इनका बहुत मान था। लेकिन जीवन के अन्तिम चरण में इन्हें अपने इलाक़े के किसानों का नेतृत्व करना पड़ा तथा परिणामस्वरूप इन्हें

कई कष्ट भुगतने पड़े।

अठूर का इलाक़ा सकलाना उप-राज्य (इस्टेट) में सम्मिलित था तथा वहाँ के मुआफ़ीदार मनमाना कर वसूल किया करते थे। सन १८५१ में मुआफ़ीदार ने 'तिहाड़' की प्रथा फिर जारी कर दी। उस प्रथा के अनुसार किसान अपनी फसल घर में नहीं रख सकते थे, जब तक कि मुआफीदार के कारिन्दों को तिहाई अंश अदा न कर दें। इस कारण उनके कष्ट बढ़ गए। ऐसे अवसर पर इन्होंने उनके पक्ष का समर्थन किया। ये चाहते तो अपने लिए कुछ सुविधाएँ प्राप्त कर सकते थे, लेकिन इन्होंने सब किसानों को संगठित करके 'तिहाड़' देना रुकवा दिया, ताकि कोई संतोषजनक हल निकाला जा सके।

कुछ दिनों बाद स्वयं मुआफ़ीदार ने अठूर में आकर डेरा डाल दिया। उसने गाँव-गाँव में अपने लड़के व कारिन्दे भेजे। सुनारगाँव में तो जब एक किसान की 'दांई' खलिहान में हो रही रही थी, तब मुआफीदार का मुंशी जूते पहिने हुये वहाँ तक पहुँच गया; यह अभी तक अपशकुन समझा जाता है; अतः भिड़न्त हो गई और मुआफीदार के आदमियों की ख़ूब मरम्मत की गई। यह समाचार सुनकर उसने कुछ हथियारबन्द आदमी सुनारगाँव को भेजे और यह बहुत कुछ सम्भव था कि गोलियाँ चल जातीं; पर उसी बीच महाराज सुदर्शनशाह ने पुलिस का एक दल भेज दिया और हत्याकांड नहीं हो पाया।

अब इन्होंने किसानों के नेता के रूप में कुमाऊँ के कमिश्नर तथा राज्य-गढ़वाल के तत्कालीन पोलीटिकल एजेंट सर हेनरी रैमज़े के पास जाकर सारा क़िस्सा कह सुनाया और बीच-बिचाव करने का अनुरोध किया। उसके फलस्वरूप फिर 'बारह आना बीसी' का नियम स्वीकृत किया गया। इनकी उस सफलता के बाद सन १८६१ में अठूर इलाक़े का नया भूमि-बन्दोबस्त किया गया और जब

वह समाप्त हो गया तब इन्होंने किसानों को सलाह दी कि वे 'बारह आना बीसी' के हिसाब से मुआफ़ीदार को पिछले नौ वर्षों का शेष सब भूमिकर अदा कर देवें। इस प्रकार वहां के किसानों को 'तिहाड़' के कष्टों से छुटकारा मिला।

दुर्भाग्यवश इनका देहावसान दुखदायी परिस्थितियों में हुआ। टिहरी-गढ़वाल राज्य की रिश्तेदारी विलासपुर राज्य से थी; वहां के एक अज्ञात दल ने एक जाली चिट्ठी तैयार की तथा टिहरी-दर्बार की ओर से दो लाख रूपयों का ऋण पाने का आवेदनपत्र विलास-पुर-दर्बार के समक्ष प्रस्तुत किया। टिहरी-दर्बार ने सन्देह पर कई व्यक्तियों को गिरफ्तार किया; ये भी क़ैद कर लिए गये और इन्हें छै मास का कारावास तथा १०००) जुर्माने की सज़ा दी गई। ये पूर्णतया निर्दोष थे; अतः इन्होंने पोलीटिकल एजेण्ट के यहाँ अपील की; सर हेनरी रैमजे ने इन्हें निर्दोष घोषित करते हुये मुक्त कर दिया और इनकी बड़ी तारीफ़ की। टिहरी-दर्बार को आदेश दिया गया कि इन्हें मुक्त करके जुर्माना वापिस कर दिया जाय। लेकिन खेद है कि उस आदेश के टिहरी पहुंचने से पहले ही, सित-म्बर, सन १८६८ में, ये स्वर्ग सिधार चुके थे !

वास्तव में ये एक सच्चे जन-सेवक थे और इन्हें तत्कालीन राजतन्त्र की बलि-वेदी पर निछावर होना पड़ा। इनके वंश में भी अब कोई जीवित नहीं है; लेकिन अठूर इलाक़े की जनता अभी तक कृतज्ञता के साथ इनका नाम स्मरण करती है।

इस लेख की सामग्री श्री श्यामचन्द नेगी की पुस्तिका से ली गई है।

द्वितीय भाग

—****—

महाराज सुदर्शनशाह के बाद से
अब तक

प्रथम खण्ड

(१) श्री बलभद्रसिंह नेगी

(निधन-तिथि—सन् १८९३ ई०)

"ए नेशन, ह्विच कैन प्रोड्यूस म्यन लाइक बलभद्र सिंह नेगी, मस्ट हैव ए सेपरेट बटैलियन ऑफ़ दियर ओन।" (एक जाति, जो बलभद्र सिंह नेगी सरीखे पुरुषों को पैदा कर सकती है, उसे अपनी एक अलग बटैलियन अवश्य ही मिलनी चाहिये।)

जिन महानुभाव के प्रति उपरोक्त शब्द भारत के जंगी लाट लौर्ड रौबर्ट्स ने कहे थे, उनका जन्म सन् १८२९ ई० में अस-वालस्यूं पट्टी के हैड़ाखोली गाँव में हुआ था। इनके पिता श्री धन सिंह नेगी एक साधारण स्थिति के व्यक्ति थे। उनके तीन पुत्रों में इनका दूसरा नम्बर था। इनकी उम्र १७ वर्ष की हो पाई थी कि अचानक पिता का देहान्त हो गया। निदान अल्पायु में ही घर छोड़ कर इन्हें जीवन के संघर्षों का सामना करना पड़ा।

उन दिनों गढ़वालियों की अपनी कोई अलग पलटन नहीं थी; उन्हें गोरखा पलटनों में भर्ती होना पड़ता था। उस समय पाँचवीं गोरखा बटैलियन पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के एबटाबाद नामक स्थान पर थी। तब तक भारतवर्ष में रेल-पथ का निर्माण नहीं हुआ था; अतः कई दिनों तक पैदल चलकर व मार्ग में अनेक कठिना-

इयों का मुकाबला कर के सन् १८४७ में ये एबटाबाद पहुंचे और भर्ती हो गये।

फौज में इन्होंने तीव्र गति से उन्नति की। एक तो दूर परदेश का जीवन; फिर 'गोरख्याणी' के लिए बदनाम गोरखा सैनिकों व अफसरों के साथ नौकरी—चारों तरफ के उस प्रतिकूल वातावरण में आगे बढ़ना कोई सरल कार्य नहीं था। लेकिन ये उत्साह व विश्वास के साथ आगे बढ़े। एक वर्ष तक इन्हें रंगरूट रहना पड़ा; फिर ये पक्के सिपाही बनाये गये। फिर तेरह महीनों में ही लैंस-नायक हो गये। कुछ ही समय बाद ये हवलदार बना दिये गये। सन् १८५७ के विद्रोह के समय ये हवलदार-मेजर के पद पर पहुँच चुके थे।

तदुपरान्त अफ़ग़ान-युद्ध में इन्होंने अपनी वीरता और बुद्धि-चातुर्य से सब को चकित कर दिया। उस अवसर पर प्रसिद्ध रण-विशारद लौर्ड रौबर्ट्स सेनानायक नियुक्त किये गये थे। उन्हें प्रारम्भ में बहुत अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अफ़-ग़ान लोग पहाड़ों की कन्दराओं में छिपे रहते; और जब भारतीय सेना के दल अपने को निरापद समझ कर आगे बढ़ते तो अचानक न जाने किधर से गोलियों की बौछार शुरू हो जाती और अनेक भारतीय सैनिक बात की बात में समाप्त हो जाते! इसके सिवाय यह पता नहीं लगता था कि शत्रु-प्रदेश में आगे बढ़ने के लिये कौन-सा मार्ग सबसे अधिक सरल व उपयुक्त होगा, और किस स्थान पर शक्ति केन्द्रित करने से शत्रु-सेना को घातक आघात पहुँचाया जा सकेगा। अतः ब्रिटिश सेनानायक बड़ी चिन्ता में थे।

अन्त में उन्होंने श्री बलभद्र सिंह नेगी को बुलाकर यह कठिन काम सौंपा कि ये खुफ़िया तौर पर किसी ढंग से शत्रु का भेद निकाल लावें। इन्हों ने एक पठान दरवेश का वेश धारण किया और मुर्दों के बीच सात दिन तक पड़े रहे! पठान सैनिक आते,

और इन्हें मुर्दा समझकर अपने देश, अपनी सेना व अपनी फौजी योजनाओं के सम्बन्ध में बातें करते; ये चुपचाप नोट करते रहते। अन्त में सातवें दिन इन्होंने शत्रु के असली भेद का पता पा लिया और सही-सलामत अपने कैम्प में वापिस आ गये। लौर्ड रौबर्ट्स ने उसी सूचना के आधार पर अपनी सामरिक योजना तैयार की और विजयी हुए। उस बुद्धि-चातुर्य और योग्यता के कारण वे इन पर सदा के लिये मुग्ध हो गये। लौर्ड रौबर्ट्स ने भारतवर्ष से पेंशन पाने के बाद इंगलैंड जाकर अपने संस्मरण लिखे थे; उन्होंने इस घटना का स्वयं उल्लेख किया है।

उस अफ़ग़ान-युद्ध में इन्होंने अपनी जन्मजात वीरता का भी परिचय दिया। सन् १८७९ ई० में जब क़न्दहार के इलाक़े में लड़ाई हो रही थी, तब इन्हें अपने वीरतापूर्ण कार्यों के लिए "औॅर्डर आफ़ मेरिट" का सम्मान दिया गया। अगले वर्ष क़ाबुल के इलाके में भी इन्होंने सम्मान प्राप्त किया। उस इलाक़े में अंग्रेजी सेना की बहुत हानि हो रही थी; लेकिन अपनी कम्पनी लेकर ये शत्रु-सेना के मर्मस्थल में घुस गये और शत्रु-पक्ष को भारी हानि पहुँचा कर सकुशल अपने कैम्प में वापिस आ गये। उस संघर्ष में शत्रु-पक्ष से एक गोली इनके सिर से टकराई थी; सौभाग्यवश वह अन्दर न जा सकी और कुछ घाव करती हुई निकल गई थी। लेकिन इन्हें उसका पता कहाँ था? शाम को डेरे पर वापिस पहुँचे, तो एक साथी ने इनके कपड़ों पर खून के धब्बे देखकर कारण पूछा; तब जाकर इन्हें पता लगा कि सिर पर ज़ख्म हो गया है! फौरन मर-हम-पट्टी की गई और अगली सुबह ये फिर रणक्षेत्र में आगे बढ़े!!

क़न्दहार की मुहिम में ये सूबेदार बना दिये गये थे; अब क़ाबुल के मोर्चे के बाद इन्हें सूबेदार-मेजर के पद पर नियुक्त किया गया, जो कि उन दिनों भारतवासियों के लिए फ़ौज में सबसे ऊँचा पद था। इसके सिवाय इन्हें दुबारा "औॅर्डर औफ़ मेरिट" दिया गया।

कमाण्डर-इन-चीफ ने "सर्वोत्तम सैनिक" के लिए उससे पहिले एक पदक की घोषणा की थी; वह पदक भी इन्हें प्राप्त हुआ। बाद को उसी सिलसिले में इन्हें "ऑर्डर ऑफ़ ब्रिटिश इण्डिया" का भी सम्मान प्रदान किया गया और फलस्वरूप ये "सर्दार बहादुर" बन गये।

उसके बाद लौर्ड रौबर्ट्स ने इनके लिए एक नये पद का निर्माण किया और ये जंगी लाट के अंग-रक्षक (ए० डी० सी०) नियुक्त किये गये। उस पद पर काम तो कुछ विशेष था नहीं; हाँ, सम्मान व प्रतिष्ठा अवश्य थी। उस पद पर पाँच वर्ष तक कार्य करने के बाद सन् १८८५ ई० में ये पेंशन पर घर आ गये। इसके अतिरिक्त इनकी "अत्यन्त प्रशंसनीय सेवाओं" के लिए इन्हें कोटद्वार-भाबर के घोसीखत्ता गाँव में १६०० एकड़ ज़मीन निशुल्क प्रदान की गई।

गढ़वाली पलटन की स्थापना

सन् १८१५ ई० में गोरखों के परास्त होने के बाद गढ़वाल जब ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत आया, तब किसी को भी गढ़-वालियों की स्वाभाविक शूरवीरता का गुमान तक नहीं था। अतः अंग्रेज़ अधिकारियों ने गढ़वालियों की अलग फ़ौज खड़ी करने का ख़याल ही नहीं किया। सन् १८१५ में अंग्रेजों ने गोरखा, गढ़वाली और कुमाउनियों की एक खिचड़ी-पलटन—"नसीरी सिरमौर कुमाऊँ बटैलियन"—के नाम से खड़ी की; उसी का नाम बाद को "गोरखा रायफ़ल्स" रखा गया। उन पाँच गोरखा बटैलियनों में ही गढ़-वाली भर्ती हो सकते थे। इसलिए एक तो इनकी संख्या कम होती थी, और फिर उन पलटनों में उन्नति करना गढ़वालियों के लिए बहुत कठिन था।

श्री बलभद्र सिंह नेगी स्वयं उस दुर्दशा का अनुभव कर चुके

थे। इसलिए इन्हें रह-रह कर यह ख़याल आता था कि किसी तरह गढ़वालियों की एक अलग पलटन खड़ी की जाय, ताकि गढ़वाल के लोग अपने पुरातन सामरिक गौरव को प्राप्त कर सकें और साथ ही सहस्त्रों परिवारों के लिए सम्मानपूर्ण रोज़गार का एक नया मार्ग खुल जाय। सौभाग्य से अपनी इच्छा पूर्ण करने का इन्हें अच्छा अवसर भी मिल गया।

अफ़ग़ान-युद्ध में इनकी विचक्षण बुद्धि व रणपटुता का सिक्का भारतीय सेनाओं के कमाण्डर-इन-चीफ़ लौर्ड रौबर्ट्स के हृदय पर जम चुका था। इसलिए सन् १८८० ई० में एक उपयुक्त अवसर पर इन्होंने अपनी आन्तरिक इच्छा उनके सम्मुख प्रकट कर दी और उन्होंने सहानुभूति के साथ विचार करने का आश्वासन दिया।

लौर्ड रौबर्ट्स ने इस बारे में तत्कालीन वायसराय लौर्ड डफ़रिन से लिख-पढ़ शुरू की और एक मुलाक़ात में उनसे वह स्मरणीय वाक्य कहा, जो इस लेख के प्रारम्भ में उद्धृत किया गया है। जिन दिनों ये 'लाट सूबेदार' (कमांडर-इन-चीफ़ के ए० डी० सी०) थे, उन दिनों तो इन्होंने इस दिशा में दिन-रात एक कर दिया था। पेंशन में आने पर भी ये प्रयत्न करते रहे। इस पर भी वायसराय को विश्वास नहीं होता था कि गढ़वाल जैसे छोटे इलाक़े से एक पलटन के लायक़ पूरे सिपाही कैसे मिल सकते हैं? तब इन्होंने अपने ऊपर ज़िम्मेदारी ली कि अगर गढ़वाल में ही छावनी स्थापित की जाय तो एक बटैलियन के लायक़ आदमी अवश्य दिला देंगे। इतना हो जाने पर अन्त में वह योजना मंज़ूर हुई।

आख़िर सन् १८८७ ई० में गोरखा फ़ौज से कुछ सिपाही व सर्दार लेकर अल्मोड़ा में गढ़वाली पलटन की नींव डाली गई। उसके कमांडर मेजर मेनवरिंग उस दल के साथ ४ नवम्बर, सन

१८८७ ई० को 'कालौंडांडा' पहुँचे और उसी दिन से उस निर्जन स्थान पर तत्कालीन वायसराय लौर्ड लैंसडौन के नाम से लैंसडौन छावनी की स्थापना की गई। वह छावनी बढ़ते-बढ़ते एक सुन्दर कैनटोनमेंट बन गई और इस समय गढ़वाल ज़िले भर में सबसे अधिक सुविधापूर्ण नगर है।

इनके प्रयत्नों के फलस्वरूप जिस गढ़वाली पलटन की स्थापना हुई थी, उसने भारतीय सेना के इतिहास में खूब नामवरी प्राप्त की। सन् १८८६ ई० में गढ़वाली सैनिक पहिले-पहिल सामरिक उद्देश्य से नीती घाटा की ओर भेजे गये। सन् १८६१ ई० में ३६वीं गढ़वाली रेजीमेंट का संगठन व नामकरण किया गया। सन् १६०४ में तिब्बत की राजधानी ल्हासा तक जो भारतीय फ़ौज भेजी गयी थी उसमें गढ़वाली पलटन भी शामिल थी। सीमाप्रांत की सब लड़ाइयों व बर्मा-युद्ध में भाग लेने के अतिरिक्त सन् १६२२ में मलाबार के मोपला-विद्रोह को शान्त करने के बाद लौटने पर उसका नाम "रौयल गढ़वाल रायफ़ल्स" रखा गया।

सन् १६१४-१८ के प्रथम महायुद्ध में अपने रणबाँकुरेपन के कारण गढ़वाल रेजीमेंट ने अत्यधिक प्रशंसा प्राप्त की। उस अवसर पर फ्रांस, मेसोपोटामिया, मिश्र, सालोनिका, बग़दाद, तुर्की और कुर्दिस्तान आदि सभी मोर्चों पर उसने अपना कौशल दिखाया। उस महायुद्ध में गढ़वाली अफसरों व सैनिकों को ये मुख्य पदक मिले—विक्टोरिया क्रास-२ (दर्वानसिंह नेगी व गबर सिंह नेगी); औंर्डर औफ़ ब्रिटिश इण्डिया (सेकंड क्लास)-५; मिलिटरी क्रौस-६; इण्डियन औंर्डर औफ़ मेरिट (फर्स्ट क्लास)-१; उसी का सेकंड क्लास -१५; आई० डी० एस० एम०-१६; म्यनशन इन डिस्पैचेज़-२२; रूसी सरकार के पदक-४। इनके सिवाय लाखों रुपये वार्षिक की पेंशनें और जागीरें भी प्राप्त हुईं।

सन् १६३६-४५ के द्वितीय विश्व महायुद्ध में भी गढ़वाली

सेनाओं ने अपने गौरव को बरक़रार रखा। सरकारी रिपोर्टों के अनुसार लगभग ३२,००० गढ़वाली लोग फौज के विभिन्न विभागों में भर्ती हुए। पूर्वी व पश्चिमी दोनों मोर्चों पर उन्होंने बहादुरी दिखाई। फलस्वरूप उन्हें १ डी० एस० ओ० (मेजर विद्याधर जुयाल); ३ आइ० ओ० एम० (फ़र्स्ट क्लास); ११ आइ० ओ० एम० (सेकण्ड क्लास); ५ एम० सी०; २० आइ० डी० एस० एम०; २० एम० एम०; १ ओ० बी० आइ० (फ़र्स्ट क्लास); १ ओ० बी० आइ० (सेकण्ड क्लास); २ एम० बी० ई०; १६ एम० डी०; १ एम० एस० एम० व १ मुख्य सेनापति का प्रशंसा-कार्ड ये फ़ौजी सम्मान प्राप्त हुए।

सन् १६१४ तक गढ़वाली रेजमेंट में ३ ही बैटैलियनें थीं; प्रथम महायुद्ध के लिए चौथी बटैलियन खड़ी की गई; वह बाद में स्थायी हो गई। उन दिनों ब्राह्मणों की भी एक अलग पलटन खड़ी की गई थी, लेकिन बाद में वह भंग कर दी गई। पिछले विश्व-युद्ध में उनकी संख्या ७ तक कर दी गई थी। अब तो अनेक गढ़वाली अफसर ऊँचे पदों पर पहुँच गये हैं; तथा स्थल-सेना के अतिरिक्त वायु तथा जल-सेना में भी कार्य कर रहे हैं। ब्राह्मण-क्षत्रिय का भेद मिटा दिया गया है; शिल्पकार भी फौज में भर्ती किये गये हैं। फलस्वरूप गढ़वाल में इस समय पेन्शनरों, भूतपूर्व सैनिकों और कर्मशील सैनिक-परिवारों की संख्या लगभग ६७००० है; और गढ़वाल-वासियों के लिए सम्मानपूर्ण रोज़गार का मार्ग खुला हुआ है।

लेकिन गढ़वाल का सैनिक केवल पेट की ख़ातिर ही फ़ौज में भर्ती नहीं होता; उसके हृदय में देश-प्रेम की भावना भी रहती है। इसके ज्वलन्त प्रमाण सन् १६३० का ऐतिहासिक पेशावर-कांड तथा सन् १६४२-४५ में आज़ाद हिन्द फ़ौज में गढ़वालियों के प्रशंसनीय कारनामे हैं। इन दोनों अवसरों पर गढ़वाली सैनिकों ने

सारी भारतीय सेना के लिए उदाहरण उपस्थित किया। और अब भी देश के स्वाधीन हो जाने पर, काश्मीर-युद्ध में वीरता दिखा कर, गढ़वाली सेना अपने पिछले गौरव को क़ायम रखे हुए है; तथा भविष्य में और भी आशायें हैं।

× × ×

पेंशन का जीवन इन्होंने बड़ी शान्ति से बिताया। साधु-सन्तों की सेवा व सन्ध्या-उपासना में ही इनका अधिकांश समय व्यतीत होता था। उस बुढ़ापे में भी प्रतिदिन ठण्डे पानी से स्नान करके चन्दन लगाते, प्राणायाम का अभ्यास करते तथा उपासना किया करते थे। इन्हें कोई व्यसन छू तक नहीं गया था—शराब का कभी सेवन नहीं करते थे; यहां तक कि तम्बाकू भी नहीं पीते थे; चाय भी केवल बहुत ठण्ड पड़ने पर ही कभी-कभी पी लेते थे। समय के बड़े पाबन्द थे। इनका चरित्र वर्तमान अधिकांश फौजी अफसरों व सैनिकों के लिये अनुकरण करने योग्य है, जो कि अक्सर कहा करते हैं कि बिना मांस-मदिरा के फ़ौज में गुज़र ही नहीं हो सकती!

इनके वीर-हृदय का तो कहना ही क्या? इनके सबसे बड़े पुत्र श्री अमरसिंह नेगी को गढ़वाली पलटन की स्थापना के समय सर्व-प्रथम सीधा वायसराय-कमीशन मिला था; उनके पास घर पर ही जमादार की वर्दी व किरच भेजी गई थी कि उसे पहिनकर वे पलटन में आवें और अपना पद ग्रहण करें! ये ही श्री अमरसिंह नेगी बर्मा-युद्ध में एक बार घायल हो गये। इन्हें तार मिला—"तुम्हारे लड़के की जांघों पर गोली लग गई है।" इन्होंने फ़ौरन उस पलटन के औफिसर कमांडिंग को तार दिया—"अगर सर्कार के काम का है तो रहने दो; नहीं तो गोली मार दो!" साथ ही अपने पुत्र को भी तार दिया—"घबड़ाओ मत; अगर बच गये तो नाम है; और अगर मर भी गये तो भी नाम है!"

ऐसे "वर्तमान समय के भड़" व उत्कट देशप्रेमी श्री बलभद्र-सिंह नेगी एक दिन सन् १८६३ ई० में गुमखाल के पास बदड़ू के पानी के समीप सन्ध्या कर रहे थे कि अचानक ऊपर से एक पत्थर आ गिरा, जिससे इनकी जांघ में गहरी चोट लगी। ज़ख्मी हालत में ये लैंसडौन ले जाये गये; लेकिन कुछ दिनों तक वहां के फ़ौजी अस्पताल में इलाज होते रहने के बाद एक दिन शांतिपूर्वक, ६४ वर्ष की आयु में, इनका देहावसान हो गया! उस अवसर पर सम्पूर्ण पलटन ने शोक मनाया और पूर्ण फौजी सम्मान के साथ इनका दाह-संस्कार सम्पन्न किया गया।

ये अपने पीछे चार पुत्र छोड़ गये थे—(१) श्री अमरसिंह नेगी डायरेक्ट कमीशन से जमादार हुए थे; सूबेदार-मेजर की हैसियत से वे सम्राट जार्ज पंचम के राजतिलकोत्सव में सम्मिलित होने के लिये इंगलैंड गये थे; ४ सितम्बर, सन् १६१२ ई० को ४७ वर्ष की अवस्था में लैंसडौन में उनकी मृत्यु हुई। उनके पुत्रों में सबसे बड़े श्री चन्द्रसिंह नेगी, २।१८ गढ़वाली पलटन में उन्नति करके कैप्टन हुए; फिर सन् १६४२-४५ में आज़ाद हिंद फ़ौज में लैफ्टिनैंट-कर्नल के पद से ऑफिसर्स ट्रेनिंग-स्कूल के कमांडेण्ट-पद पर कार्य करते रहे; अब फ़ौजी जीवन से अवकाश ग्रहण करके कोटद्वार-भाबर में रचनात्मक सेवा-कार्य करते हैं। (२) श्री भगवानसिंह कुछ दिनों फ़ौज में रहे; फिर खेती व साहूकारी करने लगे। (३) श्री शिवसिंह नेगी कुछ समय तक फौज में रहे; लेकिन बाद में वहां से अलग होकर स्वतन्त्र व्यवसाय करने लगे, जिसमें उन्होंने काफी सफलता पाई; वे समाज-सुधारक, राष्ट्रीय व साहित्य-प्रेमी व्यक्ति थे; उनका मई, सन् १६४२ में देहांत हुआ। उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपालसिंह नेगी लैंसडौन के एक सफल व्यवसायी हैं और कैनटोनमेंट बोर्ड के सदस्य हैं। (४) श्री गिरधारी सिंह नेगी ने फ़ौज में सूबेदार-मेजरी तक उन्नति करके पेंशन प्राप्त की।

इस प्रकार इनके वंशधर सुख व समृद्धि के साथ जीवन बिता रहे हैं। लेकिन इनका विस्तृत परिवार गढ़वाल का वह जन-समाज है, जो कि इन के प्रयत्नों के फलस्वरूप अलग गढ़वाली पलटन की स्थापना हो जाने के बाद से फौजी विभाग में नामवरी व रोज़गार दोनों लाभ प्राप्त कर रहा है ! गढ़वाली पल्टन और लैंसडौन छावनी इनके वास्तविक स्मारक हैं।

---

(२) महाराज कीर्तिशाह

(निधन तिथि—२१ अप्रैल, सन १९१३ ई०)

"यह बड़े सौभाग्य की बात होगी यदि भारत के नरेश गढ़वाल राज्य के महाराज कीर्तिशाह को अपना आदर्श बनायें और उनके सदृश योग्यता प्राप्त करने का प्रयत्न करें।"

ये शब्द सन् १८९२ में आगरा के प्रसिद्ध दर्बार में तत्कालीन वायसराय लौर्ड लैंसडौन ने भारतवर्ष भर के नरेशों को सम्बोधित करते हुए कहे थे। ऐसे प्रजा-सेवी, प्रतिभाशाली महाराज कीर्तिशाह का जन्म १९ जनवरी, सन् १८७४ ई० को हुआ था। टिहरी-गढ़वाल राज्य को प्राप्त करने वाले महाराज सुदर्शनशाह के सन १८५९ में देहावसान के बाद सन १८७१ तक महाराज भवानीशाह ने शासन किया। उनके उपरान्त महाराज प्रतापशाह ने सन् १८८६ तक राज्य किया। उन्हीं के ये ज्येष्ठ राजकुमार थे।

लेकिन अभी इन्होंने तेरहवें वर्ष में ही प्रवेश किया था कि सन १८८६ में महाराज प्रतापशाह का देहान्त हो गया और राज्य का भार इन पर आ पड़ा। उसी वर्ष इनका राज्याभिषेक हो गया और ये शिक्षा के लिये बरेली चले गये। वहां कुछ वर्षों तक रहने के बाद ये मेयो कौलेज अजमेर चले गये। उन दोनों स्थानों पर इन्होंने अपनी योग्यता और अध्यवसाय का अच्छा प्रदर्शन किया;

जिसके कारण इनके अध्यापक व सहपाठी आश्चर्यचकित हो जाते थे। अजमेर के विद्यार्थी-जीवन में इन्हें तीन स्वर्ण-पदक और ग्यारह रजत-पदक मिले थे; तथा अन्य भी कई पारितोषिक प्राप्त हुए थे। एक बार परीक्षा में इन्हें १०००० में से ८७७६ नम्बर मिले थे—अर्थात् ८७ प्रतिशत से भी अधिक !

इनके अध्ययन-काल में राजमाता महारानी गुलेरिया ने राज-कार्य चलाया। कतिपय सुयोग्य व्यक्तियों की कौंसिल के सहयोग से उन्होंने योग्यता से शासन-संचालन किया। इधर सन् १८९१ के अन्त में अपनी शिक्षा सम्पूर्ण करके महाराज कीर्तिशाह टिहरी वापिस आ गये; जनवरी, सन् १८९२ में इनका विवाह नैपाल के प्रधान मन्त्री महाराज राणा सर जंगबहादुर की पौत्री से हुआ; और मार्च, सन् १८९२ में इन्हें बाक़ायदा राज्याधिकार प्राप्त हो गया।

इन्होंने कुल मिलाकर लगभग २१ वर्ष तक राज्य किया। उन कुछ ही वर्षों के अन्दर इन्होंने ऐसी प्रतिभा प्रदर्शित की कि इनका चरित्र व शासन-प्रणाली देश भर के नरेशों के लिए एक अनुकरण की वस्तु हो गई। अपने शासन-कार्य में इन्होंने प्रजा-हित को सर्वोपरि रखा, मानों ये प्रजा के एक विनम्र सेवक हों।

शिक्षा-प्रसार के ये प्रबल समर्थक थे। टिहरी में इन्होंने 'प्रताप-हाइ स्कूल' तथा 'हीवेट संस्कृत पाठशाला' की स्थापना की; साथ ही इन दोनों संस्थाओं में इन्होंने निशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की। इसके अतिरिक्त वार्षिक परीक्षाओं में जो विद्यार्थी योग्यतम निकलते थे, उन्हें ये पुरस्कार देकर प्रोत्साहित करते थे; इसी कारण, कहते हैं कि, उन दिनों ६) मासिक व्यय पर ही विद्यार्थी इंट्रेंस की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते थे ! राजधानी के अतिरिक्त ग्रामों में भी इन्होंने कई प्रायमरी पाठशालायें खुलवाईं।

टिहरी राजधानी को चमकाने के लिये इन्होंने अनेकों प्रयत्न

किये। वहां इन्होंने अनेक बढ़िया इमारतें बनवाईं; जिनमें से एक घण्टाघर भी है। वहां इन्होंने बिजली की रोशनी का प्रबन्ध किया और पीने के जल की उत्तम व्यवस्था के लिये 'वाटर-वर्क्स' खुलवाये। साथ ही वहां म्यूनिसिपैलिटी की स्थापना भी की।

अदालतों में इन्होंने कई सुधार किये। सब मातहत अदालतों की अपीलें सुनने के लिये इन्होंने टिहरी में "चीफ़ कोर्ट" स्थापित की; उसमें ये स्वयं अपीलें सुना करते थे। इन्होंने कई नये क़ायदे-क़ानून बनवाये और कई पुराने नियमों में आवश्यक संशोधन कराये। ख़ज़ाना, जेल, पुलिस व सार्वजनिक निर्माण आदि प्रत्येक विभाग में इन्होंने सुधार किये। जंगलात-विभाग के कार्य को इन्होंने बड़ी तरक्क़ी दी। कई सड़कें निकलवाईं व पुल बनवाये; और कई स्थानों पर डाकबंगलों व धर्मशालाओं का निर्माण कराया; विशेषकर गंगोत्री व यमुनोत्री के भारत-प्रसिद्ध तीर्थ-स्थानों को जाने वाले मार्गों पर विशेष सुविधाओं का प्रबन्ध किया। कई अस्पताल खुलवाये; उत्तरकाशी में एक कोढ़ीघर भी स्थापित किया। टिहरी में एक मुद्रणालय खोला। किसानों को सहायता देने के लिये एक बैंक भी स्थापित किया।

सन् १९०७ ई० में इन्होंने 'सैपर्स एण्ड माइनर्स' (सपरमैना) की एक पल्टन स्थापित की। उसने दोनों विश्व-महायुद्धों में अच्छा कार्य किया। साथ ही उस सपरमैना का उपयोग शान्ति के समय रास्तों व पुलों आदि पर करने की भी इन्हों ने प्रथा डाली।

अपनी योग्यता और प्रजा-वत्सलता के कारण ये प्रजा के प्यारे थे और वह इनका आदर करती थी। इनके शासन-काल में कुंजणी व खास पट्टी की प्रजा ने अपने कष्टों के विरुद्ध आवाज़ उठाई। कुंजणी के लोगों ने उत्तेजित होकर वज़ीर मियां हरिसिंह को क़ैद कर दिया; पर इनके बीच में पड़ने पर वह विरोध शीघ्र शान्त हो गया और वज़ीर छोड़ दिये गए। इस घटना के कुछ वर्षों बाद खास

पट्टी के लोगों ने जंगलात-सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण आमड़ी के मैदान में कन्सरवेटर श्री सदानन्द गैरोला को पकड़ लिया और ख़ूब तंग किया; लेकिन बाद को जब स्वयं महाराज घटनास्थल पर पहुँचे, तब थोड़ी ही देर में सब कोलाहल शांत हो गया !

इधर ब्रिटिश सर्कार भी इनका सम्मान करती थी। सन १६०० में इन्होंने यूरोप की यात्रा की; और वहाँ की संस्थाओं का बारीकी से अध्ययन किया। सन १६०३ के देहली-दर्बार में इन्हें के० सी० एस० आइ० की पदवी प्रदान की गई और ये 'सर' कहलाने लगे। सन् १६०६ में गवर्नर ने इन्हें युक्तप्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिल का एक 'माननीय सदस्य' नामज़द किया; उस पद पर ये मृत्यु-पर्यन्त रहे।

अपने 'उस पार' (ज़िला गढ़वाल) की भी इन्हें बहुत चिंता रहती थी। इनकी हार्दिक अभिलाषा थी कि वहाँ के निवासी भी उन्नति करें। इसी भावना को प्रदर्शित करने के लिये इन्होंने अपने राज्य की नियुक्तियों में 'इस पार' या 'उस पार' का अन्तर नहीं रखा। इसी कारण पुरानी राजधानी श्रीनगर के प्रति इन्हें गहरा प्रेम था; वहाँ के गवर्नमेंट हाइ स्कूल का छात्रावास बनते समय इन्होंने १३०००) की सहायता प्रदान की। इसके अतिरिक्त श्रीनगर से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए इन्होंने उससे कुछ नीचे अलकनन्दा के दांयें किनारे पर एक नगर बसाया; उस कीर्तिनगर में अब भी एक छोटा-सा बाज़ार और खंडमंडलाधीश की अदालत है।

इनकी बहुमुखी प्रतिभा

अंग्रेजी के ये बड़े विद्वान थे; उसके साहित्य का इन्हों ने समीचीन अध्ययन किया था; साथ ही संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फ्रेंच और इस्परांटो भाषाओं की इन्होंने अच्छी जानकारी प्राप्त की थी। इन्होंने व्यावहारिक क्रियाओं में भी कमाल हासिल किया था।

गणित व फलित ज्योतिष के लिए ये चिन्ताशील विद्यार्थी थे; अपनी यन्त्रशाला में इन्होंने इस कार्य के लिये कई अच्छी दूरबीनें एकत्र की थीं, और उनकी सहायता से ये अक्सर ग्रह-नक्षत्रों तथा राशि-चक्रों आदि की गति-विधि का अवलोकन करते रहते थे। विद्युत-विद्या में भी पूर्ण दक्षता इन्होंने प्राप्त की थी; अपनी प्रयोग-शाला (लेबोरेटरी) में इन्होंने इस विषय के सब यंत्र एकत्र किये थे और उनकी सहायता से विद्यत की प्रत्येक शाखा का अभ्यास किया था; विद्युत-विद्या के इस ज्ञान के कारण ही ये अपने महल की बिजली की मरम्मत स्वयं कर लिया करते थे; और मिस्त्रियों को भी उनकी भूलें बताते थे इन्होंने अपने आप एक 'सर्चलाइट' व 'बायस्कोप' का निर्माण किया था और अक्सर उनका प्रयोग किया करते थे। हिन्दी टाइप-राइटर का इन्होंने सर्वप्रथम आविष्कार किया था; लेकिन इन्होंने उसके साथ अपना नाम न जोड़कर उसका अधिकार एक कम्पनी को दे दिया था; और इस प्रकार एक बड़ी कमी की पूर्ति की थी।

इनमें ग़ज़ब की सूक्ष्मदर्शिता थी; गूढ़ से गूढ़ विषयों पर बड़ी फुर्ती से ये दर्जनों पृष्ठ लिख जाते थे। इन्होंने अपनी उत्कृष्ट भाषा में अपने राज्य के अन्दर व्यापार बढ़ाने, कृषि की दशा सुधारने, पशुओं की नस्ल में सुधार करने तथा फलों की खेती का प्रचार करने आदि विषयों पर कुछ नोट लिखे थे; और उन्हें पूर्ण करने का विचार था। ये एक संग्रहालय भी खोलना चाहते थे, ताकि उसमें सामयिक वस्तुओं के अतिरिक्त ऐतिहासिक वस्तुओं का भी संग्रह व संरक्षण किया जाय; लेकिन इनकी वह इच्छा पूरी न हो पाई। अपने वज़ीर श्री हरिकृष्ण रतूड़ी को प्रोत्साहन देकर इन्हों ने गढ़-वाल का एक इतिहास लिखवाया था; अंग्रेज़ी में उसका अनुवाद कराके इंग्लैंड में एक अंग्रेज़ी विद्वान द्वारा छपवाने का प्रबन्ध भी इन्होंने करा दिया था; लेकिन उस पुस्तक के लन्दन भेजे जाने से

कुछ ही दिनों पूर्व इनका देहान्त हो गया!

लेकिन सबसे अधिक महत्वपूर्ण इनकी चरित्रमत्ता और इनकी आध्यात्मिकता थी; जिसके कारण इन्हें राजर्षि कहना उपयुक्त होगा। ये आजीवन एक पत्नीव्रत-धारी रहे। धार्मिक विषयों की खोज का इन्हें बड़ा शौक़ था। इन्होंने हिंदू तथा अन्य सब धर्मों के पवित्र ग्रंथों का अध्ययन किया और उनकी छानबीन की। एक बार इन्होंने सनातन धर्म, आर्यसमाज, जैन व इसलाम धर्मों के विद्वानों को निमन्त्रण देकर बुलाया, उनसे शास्त्रार्थ कराया, तथा उन सबके तर्क-वितर्क सुने; अन्त में बिना किसी पक्षपात के सबका समान रूप से आदर-सत्कार करके उन्हें बिदा किया।

इस दिशा में इनके ऊपर सुप्रसिद्ध वेदान्ती स्वामी रामतीर्थ का सब से अधिक प्रभाव पड़ा था। स्वामी रामतीर्थ एक बहुत ऊँची श्रेणी के आध्यात्म-वेत्ता थे और उन्होंने अपनी प्रतिभा तथा भाषण-चमत्कार के द्वारा यूरोप तथा अमेरिका में पाश्चात्य विद्वानों को आश्चर्य-चकित कर दिया था। उनके भाषण कई पुस्तकों में छप चुके हैं, तथा आज भी वे भारतीय युवकों के लिए प्रेरणा की चीज़ हैं। उन्हें ये बहुत मानते थे और वे भी इन्हें आदर्श शासक व व्यक्ति समझते थे। उन्होंने कई वर्ष इनकी संरक्षता में निवास किया और इनके साथ आध्यात्म-चर्चा करते रहते थे। इस सम्बन्ध में "श्री रामतीर्थ ग्रन्थावली" में इस प्रकार उल्लेख आता है—

"मई, १६०२ में जब स्वामी राम टिहरी पर्वत पर गये, तो रायबहादुर लाला बैजनाथ, बी०ए०, रिटायर्ड जज, आगरा भी उनके साथ हो लिये। टिहरी से देहरादून की ओर लगभग ११ मील के अन्तर पर कौड़िया चट्टी नाम का एक पड़ाव है। यहाँ विशाल दुर्ग के समान एक पुरातन प्रासाद है, जो जीर्ण-शीर्ण पड़ा है। उसके चहुँ ओर सुविस्तीर्ण मैदान और विविध भांति के सुरभित सुमनों से समाकीर्ण सघन बन है। इस रम्य स्थान पर यह जान पड़ता था,

मानों प्रकृति देवी पुष्प-पादप-राजि से सज्जित होकर मुग्ध नायिका की भांति राम बादशाह की प्रतीक्षा कर रही थी।

"संयोग से टिहरी के महाराज, जो वायसराय से मिलने के लिये देहदून आ रहे थे, उस मार्ग से निकले और उसी चट्टी पर मुक़ाम किया। महाराज को जब राम बादशाह के आगमन का समाचार मिला, तो उनके मन में दर्शनों की अत्यन्त उत्कण्ठा हुई। उन्होंने अपने मंत्री द्वारा राम बादशाह से दर्शन देने की प्रार्थना की। राम बादशाह मंत्री के साथ चले। टिहरी-महाराज, जो स्वागत के लिये मार्ग में खड़े थे, राम-बादशाह को अपने डेरे पर ले गए। महाराज टिहरी एक विद्वान पुरुष थे, किंतु उनके चित्त पर हरबर्ट स्पेंसर के अज्ञेयवाद (एगनौस्टिसिज्म) ने अधिकार जमा रखा था, इसलिये वे 'एगनौस्टिक' (अज्ञेयवादी) प्रसिद्ध थे। राम बादशाह के वहां पहुँचते ही एक बड़ा दर्बार लग गया। महाराज टिहरी ने ईश्वर के अस्तित्व-संबंध में प्रश्न किया। राम बादशाह ने नाना युक्ति-प्रमाणों से, (२ बजे दिन से ५ बजे तक) ठीक तीन घंटे भाषण करके, ईश्वर का अस्तित्व प्रत्यक्ष सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इस सत्संग का महाराज के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे अत्यंत विनीत भाव और श्रद्धा सहित राम-बादशाह से प्रार्थी हुये कि 'हृदय के बहुत से संशय तो निवृत्त हो गये हैं, पर यदि राम महाराज टिहरी व प्रतापनगर पधारने की कृपा करेंगे और ऐसे ही सत्संग की वर्षा होती रहेगी, तो सब संशय अवश्य नष्ट हो जायेंगे।"

उस प्रथम परिचय के बाद से ये स्वामी रामतीर्थ को हर तरह की सहायता देते रहे। उन्हीं दिनों जापान में सारे संसार के धर्मावलम्बियों की एक बृहत् कांफ्रेंस हुई, तब इन्होंने स्वयं उनसे वहां जाने का अनुरोध किया; साथ ही वहां तक जाने व आने का सारा खर्चा बर्दाश्त किया; कहना न होगा कि वह प्रोत्साहन पाकर

स्वामी रामतीर्थ ने जापान जाकर सारे संसार में आध्यात्मिकता तथा संस्कृति की विजय-वैजयन्ती फहराई थी।

तदुपरान्त सन् १६०६ के फर्वरी मास में स्वामी राम ने टिहरी से ५० मील दूर १३००० फीट की ऊँचाई पर स्थित 'वशिष्ठ आश्रम' में डेरा डाला; वहाँ भी महाराज ने उनके रहन-सहन का समुचित प्रबन्ध किया। उसी वर्ष अक्तूबर में वे टिहरी आ गए और महाराज के सिमलासू बाग में ठहरे। पर दो सप्ताह रहने के बाद ही वे टिहरी से कुछ दूर चलकर भिलंगना के किनारे मालीदयोल ग्राम से लगभग एक मील के अन्तर पर एक रम्य स्थान पर पहुँचे और उसे चुन लिया। खबर मिलते ही महाराज ने स्वामी जी के साथियों को कुटिया बनाने से रोक दिया; और अपने यहां के पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट के सुपरिंटेन्डेएट को भेजकर स्वामी जी के खींचे हुए मानचित्र के अनुसार पक्की कुटिया बनवाने की आज्ञा दे दी। महाराज के इस अकृत्रिम प्रेम से स्वामी जी अति प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने शेष जीवन तक वहीं रहने का पक्का विचार कर लिया। पर पांच ही दिन के बाद १७ अक्तूबर, सन् १६०६ ई० दीपमाला को मध्याह्न के समय जब वे स्नान कर रहे थे, कि अचानक पैर से नीचे का पत्थर खिसक जाने के कारण उनका दिव्य तेजोमय शरीर सदा के लिये लीन हो गया!

स्वामी राम की जल-समाधि का इन पर गहरा धक्का लगा था। उनके देहावसान के बाद इन्होंने उनके ज्येष्ठ पुत्र गोसाईं मदन-मोहन को इंगलैंड में 'माइनिंग इंजीनियरिंग' का अध्ययन करने के लिए आर्थिक सहायता दी; और वहां से लौटने पर सन १६०६ में उन्हें पटियाला राज्य में एक उच्च पद पर नियुक्त करवा दिया।

× × ×

लेकिन उपरोक्त सब गुणों के बावजूद इनमें एक बड़ा दोष भी था—ये अनवरत कार्य-व्यस्त रहते थे। यहां तक कि विश्राम व

आमोद-प्रमोद के लिए इन्हों ने ज़रा सा भी समय नहीं रख छोड़ा था। उस पर भोजन इनका बिल्कुल सात्विक और स्वल्प होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि जितेन्द्रिय और मिताहारी होते हुए भी इनका स्वास्थ्य बिड़गता चला गया और धीरे-धीरे रोग असाध्य हो गया। आख़िर २५ अप्रैल, सन १९१३ ई० को ३९ वर्ष की ही आयु में, अपने वेदान्ती गुरु स्वामी रामतीर्थ के चरण-चिह्नों पर चलकर, इनकी पुण्यात्मा ने दिव्य लोक को प्रयाण किया !

---

(३) श्री चन्द्रमोहन रतूड़ी

(निधन-तिथि—१४ मई, सन १९२० ई०)

"वर्तमान बीसवीं शताब्दी के प्रथम बीस वर्षों में श्री रतूड़ी गढ़वाल के अत्यन्त प्रमुख व्यक्ति थे। उन्हें गढ़वाल के पुनर्जागरण-काल का पिता उचित रूप से कहा जा सकता है। उनका ज्वलन्त देशप्रेम, उनकी उच्च साहित्यिक विशेषतायें, कला के प्रति उनका स्नेह, ज्ञान-प्राप्ति के लिए उनका 'स्वान्तः सुखाय' गहरा प्रेम, तथा विरोधी परिस्थितियों से उनका वीरतापूर्ण संघर्ष—इन सब गुणों ने उन्हें अपने समय के सार्वजनिक जीवन में एक अद्वितीय स्थान प्राप्त करा दिया था। ढोंग और पाखंड के प्रति घृणा के साथ-साथ मानवी कष्टों और दुर्बलताओं के प्रति अपनी सहानुभूति के कारण साधारण व्यक्तियों को वे एक दानव (स्फिंक्स) से लगते थे। उनके उद्देश्य की पारदर्शी स्पष्टता और सत्यपरायणता उनके शत्रुओं द्वारा भी स्वीकृत की जाती थी।"

श्री तारादत्त गैरोला ने अपने एक निबन्ध में जिन श्री चन्द्र-मोहन रतूड़ी के प्रति उपरोक्त शब्दों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की थी, उनका जन्म टिहरी नगर से कुछ मील दूर भागीरथी गंगा के तट पर बसे हुये गोदी गांव में सन १८८० में हुआ था। इनके पिता श्री लक्ष्मीदत्त रतूड़ी गांव में ही रहा करते थे; लेकिन

इनके चचेरे भाई श्री ईश्वरीदत्त रतूड़ी नैपाल की राजधानी काठमांडू में अध्यापक थे। काठमांडू से ही सन १८६६ ई० में इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय की इंट्रेंस परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। उस समय इनकी अवस्था १६ वर्ष की ही थी, जो उस ज़माने के लिये एक असाधारण बात थी।

काठमांडू से ये बरेली कालेज में चले आये और बी० ए० तक वहीं पढ़ते रहे। परीक्षा देने की इन्हों ने पूरी तैयारी कर ली थी; लेकिन उसी बीच इन्हें घर से पत्र मिला कि इनकी पत्नी इनके पिता से आज्ञा लिये बिना ही अपने मायके चली गई है। ये भावुक तो थे ही; आवेश में अपना सब सामान लेकर ये घर को चल दिये और पढ़ना छोड़ दिया।

घर पर लगभग चार वर्ष तक ये बेकार पड़े रहे। आख़िर सन १६०४ में टिहरी-दर्बार द्वारा जंगलात कौलेज में भेजे गये। वहां इन्होंने दो वर्ष तक अध्ययन किया और अप्रैल, सन १६०६ में रेंजर-कक्षा उत्तीर्ण करके टिहरी वापस आये। यहां ये असिस्टैंट कनसरवेटर के पद पर नियुक्त हुए और लगभग आठ वर्ष तक योग्यता व परिश्रम के साथ काम करते रहे।

लेकिन सन् १६१३ में महाराज कीर्तिशाह के देहावसान के बाद रीजेंसी कौंसिल का शासन शुरू हुआ। अपनी स्वाधीन प्रवृत्ति और सत्यप्रियता के कारण इन्हें उस वातावरण में रहना असम्भव हो गया। इसलिए सन् १६१४ में अपने पद से इन्होंने त्याग-पत्र दे दिया और दुबारा पढ़ने के लिए इलाहाबाद चले गये। इस प्रकार ३४ वर्ष की आयु में ये फिर विद्यार्थी बने। यद्यपि तब तक कौलेज छोड़े इन्हें १४ वर्ष हो गये थे, तथापि इनका स्वाध्याय-प्रेम तनिक भी कम नहीं हुआ था। इलाहाबाद पहुँच कर तो मानो मछली अगाध सागर में पहुँच गई; और ये पूरे उत्साह के साथ उसी में आकण्ठ निमग्न हो गये। वहाँ ये अपनी कक्षा के सर्वोत्तम विद्या-

र्थियों में गिने जाते थे; सब अध्यापक व सहपाठी भी इसी कारण इनका आदर किया करते थे। हिन्दी, अंग्रेज़ी व संस्कृत के साहित्यों से इन्हें पहिले से ही स्नेह था; अब इन्हों ने उनका विस्तृत अध्ययन किया। उन दिनों इन्हों ने शब्द-शास्त्र और भाषा-विज्ञान की भी अनेकों पुस्तकें पढ़ीं।

इस प्रकार सन् १९१६ में इन्होंने बी० ए० परीक्षा सम्मान-सहित उत्तीर्ण की। लेकिन अगले वर्ष अनेक परिवारिक झंझटों के कारण इन्हें इलाहाबाद जाने का विचार छोड़ना पड़ा; उस पर एक अनमेल बड़े परिवार की दुखभरी चिन्तायें सिर पर थीं। इसलिए स्वास्थ्य गिरने लगा; यहाँ तक कि भयंकर पेट-दर्द (कौलिक पेन) के धावे शुरू हो गये।

इतना होते हुए भी जुलाई, सन् १९१७ ई० में ये फिर इलाहाबाद गये तथा वहाँ एम० ए० व एल-एल० बी० का 'डबल कोर्स' ले लिया। बी० ए० तक इनके प्रिय विषय संस्कृत व अंग्रेज़ी साहित्य थे; लेकिन इस बार आधुनिक संसार की परिस्थिति से परिचित होने के लिए इन्होंने 'अर्थशास्त्र' का विषय लिया। 'डबल कोर्स' और नये विषय के कारण एक तो वैसे ही मेहनत अधिक करनी पड़ती थी; फिर भाइयों का आपसी बंटवारा हो जाने के कारण इस बार ये अपना परिवार भी साथ ले गये थे। प्रति दिन इन्हें अपने बच्चों को घर पर पढ़ाना पड़ता; स्वयं अपनी दोनों कक्षाओं का अध्ययन करना पड़ता; और प्रति दिन दो बार दो मील पैदल चल कर यूनिवर्सिटी जाना पड़ता था—दिन में एम० ए० के लिए और शाम को एल-एल० बी० के लिए! इन सब के ऊपर आर्थिक चिन्ताएँ अलग थीं। फिर भी इन्हें दोनों परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने की पूरी आशा थी। लेकिन मई, सन् १९१८ में जब परिणाम घोषित हुआ तो ये एल-एल० बी० (प्रीवियस) में तो उत्तीर्ण थे, पर एम० ए० (प्रीवियस) में फ़ेल! अब इन्हें यूनि-

वर्सिटी की परीक्षा-प्रणाली से घृणा हो गयी और विरोध-स्वरूप इन्होंने फिर कौलेज जाने का विचार ही छोड़ दिया।

पर घर पर भी ये चुप कैसे रह सकते थे? २५ सितम्बर, सन् १६१८ को टिहरी में एक सार्वजनिक सभा हुई; अपनी योग्यता के कारण ये उसके सभापति चुने गये; अपने उस दिन के भाषण में इन्होंने तत्कालीन रीजेंसी-शासन के कारनामों की कड़ी आलोचना की और महाराज नरेन्द्रशाह को राज्याधिकार दिलाने के लिए ब्रिटिश गवर्नमेंट से ज़ोरदार अनुरोध किया। इसी आशय का एक प्रस्ताव भी स्वीकृत करके उच्च अधिकारियों तक पहुँचाया गया। उस 'अरुचिकर कार्य' के लिए राज्याधिकारियों की ओर से इन्हें चेतावनी दी गई। अतः टिहरी में अपना रहना अरक्षित समझ कर ये अपने भाई के पास काठमांडू चले गये; तथा जब अक्तूबर, सन १६१६ ई० में नये महाराज को राज्याधिकार मिल गया, तब ये वहां से वापिस आ गये और अन्त समय तक अपने गाँव गोदी में ही रहे।

इनकी सार्वजनिक सेवायें और पत्र

श्री चन्द्रमोहन रतूड़ी वास्तव में गढ़वाल के सार्वजनिक जीवन के संस्थापकों में से एक थे। इस दिशा में इनका सर्वप्रथम कार्य था 'गढ़वाल यूनियन' को सहयोग; यह संस्था देहरादून में सन् १६०१ में स्थापित हुई थी और समाज-सुधार आदि के प्रश्नों पर वाद-विवाद किया करती थी। ये बरेली के 'गढ़वाल डिबेटिंग क्लब' में अपनी सार्वजनिक रुचि का परिचय दे चुके थे; अतः जब सन् १६०४ में रेंजर कौलेज में प्रविष्ट हुए तो ये उस संस्था के सदस्य हो गये और अपने उत्साह से उस में एक नई जान डाल दी। श्री तारादत्त गैरोला उसके मंत्री थे और ये उनके सहकारी; वहीं इन दोनों महानुभावों का परिचय हुआ और वह शीघ्र घनिष्टता में

परिणत होकर मृत्यु पर्यन्त स्थिर रहा।

अधिकांशतया इन्हीं के सदुद्योग के फलस्वरूप 'गढ़वाल यूनियन' के मुखपत्र के रूप में 'गढ़वाली' मासिक-पत्र का जन्म हुआ। ये सम्पादक-मण्डल के एक सदस्य थे। देहरादून से लौटने के बाद टिहरी-गढ़वाल राज्य की नौकरी से भी ये 'गढ़वाली' को पूरा सहयोग देते रहे।

'गढ़वाली' की फ़ाइलों में इनके दर्जनों लेख व कवितायें सुरक्षित हैं। वैसे तो इन्होंने अपने समय की प्रायः प्रत्येक समस्या पर अपने विचार प्रकट किये थे और इनसे उनकी उदार भावना, बहुश्रुतता और निष्पक्षता पर प्रकाश पड़ता है, लेकिन इनके अधिकांश लेख गढ़वाली कविता और साहित्य के समर्थन में थे; हिन्दी, संस्कृत व अंग्रेज़ी के विद्वान होने पर भी गढ़वाली भाषा के प्रति इन्हें सहज स्नेह था। "गढ़वाली कविता" शीर्षक अपने लेख में इसीलिये इन्होंने लिखा था—

"मैं पूर्णतया प्रेम और शक्ति से गढ़वाल को अपना देश स्वीकार करता हूँ। मुझे अपने गढ़वाली होने का उतना ही अभिमान है, जितना किसी अंगरेज़ को अंगरेज़ होने का या जापानी को जापानी होने का। मैं गढ़वाली भाषा को अत्यन्त आदर और गौरव से देखता हूँ और गढ़वाली कविता का अचल पक्षपाती हूँ।...और चाहे कुछ हो, पर इतना मेरा दृढ़ विश्वास है कि गढ़वाली भाषा हिन्दी का अपभ्रंश नहीं है, जैसा कि बहुधा लोग ख़याल कर बैठते हैं। प्रत्युत यदि विचार कर देखा जाय तो उल्टा यह सिद्ध होगा कि हिन्दी एक प्रकार से गढ़वाली का अपभ्रंश है, और यदि कोई भाषा-मर्मज्ञ दोनों भाषाओं का सामना करके देखे तो यह भी सिद्ध होगा कि गढ़वाली हिन्दी से कई दर्जे अच्छी भाषा है।"

उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त इन्होंने टिहरी के सार्वजनिक

जीवन को भी बलिष्ठ किया। राज्य में शासन-सुधार करने के ये प्रबल पक्षपाती थे; और महाराज कीर्तिशाह अपने इस विद्वान राज-कर्मचारी के प्रति काफी स्नेह रखते थे। लेकिन उनके देहवासान के बाद रीजेंसी-कौंसिल के शासन-काल में काफी धांधलबाजी रही। उसका मुक़ाबला पहिले तो इन्होंने अपने त्यागपत्र के द्वारा किया; और फिर इन्हों ने महाराज नरेन्द्रशाह को राज्याधिकार दिलाने के लिये प्रबल आन्दोलन शुरू किया। उस अंधेरगर्दी का दिल दहलाने वाला वर्णन इन्हों ने "महराज नरेन्द्रशाह को राज्याभिषेक" शीर्षक अपनी कविता में भी किया। उस आन्दोलन के कारण ये अधिकारियों की नजरों में खटक गये और इन्हें चेतावनी मिली। आखिर उच्च अधिकारियों को वास्तविक स्थिति का पता लगा तथा रीजेंसी-कौंसिल भंग करके महाराज नरेन्द्रशाह को राज्याधिकार दिया गया। इस प्रकार इनके द्वारा समर्थित आन्दोलन को सफलता मिली।

इनकी विद्वत्ता का पता इनके पत्रों से लगता है। ये अंगरेज़ी में अपने अनन्य मित्र व सहायक श्री तारादत्त गैरोला को लम्बे-लम्बे पत्र लिखा करते थे, तथा उनमें साहित्यिक व सामाजिक विषयों पर विस्तारपूर्वक अपने विचार प्रकट किया करते थे। इन की शैली में सुप्रसिद्ध अंग्रेज लेखक कार्लाइल की तरह लम्बे वाक्य व प्रभावपूर्ण शब्दावली रहती थी। उनमें इनके हृदय और मस्तिष्क की उच्चतम उड़ानें दृष्टिगोचर होती हैं। इनके उन सब पत्रों का संग्रह श्री तारादत्त गैरोला ने अपनी अप्रकाशित पुस्तक 'लाइफ़ एण्ड ल्यटर्स औफ ए गढ़वाली पेट्रिअट' (एक गढ़वाली देशभक्त की जीवनी और पत्र) में किया है। उन पत्रों को हिन्दी में अनुवादित करने का सौभाग्य इन पंक्तियों के लेखक को मिला था; और सन १९३७ में उन में से कुछ अनुवादित पत्र 'गढ़-वाली' के कतिपय अंकों में प्रकाशित भी हुए थे।

उदाहरण-स्वरूप, अपने २६ नवम्बर, सन् १९१४ के पत्र में इन्हों ने बतलाया है कि किस प्रकार ये इलाहाबाद में अपने अध्ययन में निमग्न थे और किस प्रकार एक-एक शब्द की व्युत्पत्ति करने में तथा इतिहास की खोज में इन्हें आनन्द आता था। ये 'अंक' शब्द से शुरू करते हैं और फिर उसके पीछे पड़ जाते हैं। ये "उत्तर रामचरित्र" के 'प्रथमांक' व साधारण 'अंक' (गोद) पर पहुँचते हैं; वहाँ से इनका ध्यान संस्कृत शब्द 'अंकुर' व 'अंकुश' की ओर जाता है। उसी समय सहसा अंग्रेज़ी के शब्द Ankle, Angle, Anchor, Ankylosis सब एक ही मूल शब्द Ang से निकले मिलते हैं, जो संस्कृत 'अंक' का समानार्थक है। उसके बाद इनका ध्यान गढ़वाली भाषा की ओर जाता है और ये 'आंगो', 'अंगरा' और 'अंग्वाल' पर जा पहुँचते हैं। ज़रा उदाहरणों की बानगी देखिये—

"हौर जगा चलनू आंगो बांगो, मोर की जगा चलनो सामो।"

"ओदै अंग्रे प्राशाय रसकि स्वर्ण रोमालि वांकी,
भादो की ज्यूँ शरद-हर श्रंगार-पुष्पालि व्राह्मी।"

"वीरत्व का रस मां समायां-
पड़ग्यन भड़् की करड़े अंग्वाले।"

इनकी गढ़वाली कवितायें

लेकिन कविता के क्षेत्र में इन्हों ने सबसे अधिक कार्य किया। यह तो पहिले ही लिखा जा चुका है कि हिन्दी, अंग्रेज़ी व संस्कृत के विद्वान होने पर भी, इन्हें गढ़वाली भाषा से सहज स्नेह था; इसीलिये इन्होंने अपनी सब कवितायें इसी भाषा में लिखीं। इनकी अधिकांश कवितायें गढ़वाली के प्रकाशन के बाद ही लिखी गईं और उसी में प्रकाशित होती रहीं। वे प्रायः सब श्री तारादत्त गैरोला द्वारा सम्पादित पुस्तक "गढ़वाली कवितावली" में संग्रहीत हैं।

इन की कवितायें उच्च कोटि के कवित्व और दिव्य भावों से परिपूर्ण हैं। हिन्दी के कवि श्री भगवतीप्रसाद चन्दोला के शब्दों में —"इनकी लेखनी जहां हृदय के मीठे-मीठे कमनीय भावों को व्यक्त करने में पटु थी, वहां अवसर आने पर उसने देश-प्रेम तथा वीर-रस के जो भाव अंकित किये हैं, उनमें निर्जीव मनुष्य की शिराओं में भी नूतन रक्त का संचार करने की शक्ति है।" श्री तारादत्त गैरोला ने भी लिखा है कि—"इनकी कविता, यद्यपि क्लिष्ट है, तथापि वह साहित्य के सम्पूर्ण अलंकारों से भूषित है। इसमें अत्युक्ति नहीं कि स्वर्गवासी पंडित जी का दर्जा साहित्य-समाज में अंग्रेज़ी के कवि शेली व कीट्स से कम नहीं।"

"गढ़वाल का सच्चा कवियों से प्रार्थना" में इन्होंने कवियों को सम्बोधित करके लिखा था—

"क्या छन स्त्रियों का मुख नेत्र पद्म,
बिना हमारी प्रतिभा कि किरणों ?
क्या वीरु का कर्म विचित्र अद्भुत,
बिना हमारी फिरुदार वाणी ?"

"तजिक'ब सब गलानी, लीक वाणी कि वीणा,
प्रमुदित मन से आपुच्च स्वरसें हि अप्णा।
परबत बण गंगा बद्रि-केदार राजा,
सब भड़ गढ़ का यै देश की कीर्ति गायैं॥"

चकरौता के पास लिखित "देववण को वर्णन" कविता में इनका प्रकृति-वर्णन बहुत ऊँचा है। कुछ पद देखिये—

"ललचौंदारी यख छन जगा गोल, नंगी, भुरेणी।
लम्बी फैलीं अर दमदमी पर्वतू की कुख्यों मां॥
ठैलों को नी रसिक यख यूँ तर्सदी आंखियों से।
देखूणकुतैं या यख न चलनी आतुरोस्वांस लीक॥
"घेरीक् चारौं तरफन बड़ा छत्रिला देवदारू।

छोटी डाल्योंन कखि छुन बणी मंडुले गोल् गुप्त ॥
होवो कुछ् भी अनुचित नि जो जोनिली रातियों मां ।
अैंचन् आवो यख रमण कू दिव्य गन्धर्व-द्वन्द ॥"

"विरह् वसन्त विलाप" कविता में अपनी प्रियतमा के विरह में व्याकुल होकर ये गा उठते हैं —

"लगि गए महिनी अब नाच की,
बणि गयेन् सब देहलि फूलु की ।
पड़दि कान पर कोकिल की ध्वनि
(सहति की जनि धार गला उनि) ॥
"बिंदुडि गच्छ छ फूलन प्योलि की ।
जनिकि आंसुन डेबुलि ब्यौलि की ॥"
"थकिक भ्वां पड़िगयन् घर ऐ घस्वै,
बिट्ठुपु का निस बैठि गयेन् बट्वै ।
चरि चुर्गाक जुग्यार रहेन् गौ,
हर कखी पशु लेण लग्यान थौ ॥
"इन घणी अर शीतल चांदनी,
कनि जलौण लगीं लटु पापणी ।
जलद देखदि नी, कख छै उड़ीं ?
झट बचौंदि किलै नि तू इं घड़ी ?"

"दरवान सिंह कू विक्टोरिया-क्रौस" कविता को ये अपनी सर्वोत्तम कविता समझते थे । उसमें देश-प्रेम और वीर-रस का पूरा उद्वेग पाया जाता है । उसके कुछ अंश इसी पुस्तक में उद्धृत हैं ।

× × × ×

आखिर जिस गोदी गांव के लिये इन्हों ने अपनी "देवबण को बर्णन" कविता के अन्त में लिखा था—

"उड़दो मेरो मन यखन, पर, फिर्भि अपणा गंगाड़ ।
यारा मैक् छन् फिर भि अपणा सारि सेरा व सौड़ ॥

जोड़ दौं हाथ मैं यखन अपणी मां सि भागीरथी कों ।
यींका गोदस्थित हि अपणा जन्म का गोदि गौंक ॥"

वहीं, केवल ४० वर्ष की आयु में, १४ मई, सन् १६२० ई० को शुक्रवार के दिन 'गढ़वाली कविता की इस कोकिल' की आत्मा अपने काव्योद्यान को सदा के लिये छोड़ कर चली गई !

---

(४) श्री घनानन्द खंडूड़ी

(निधन-तिथि—२८ जुलाई, सन् १६२४ ई०)

सुप्रसिद्ध धनी व दानवीर श्री घनानन्द खंडूड़ी का जन्म सितम्बर, सन् १८८२ ई० में पौड़ी के पास मरगदना ग्राम में हुआ था । इनके पिता श्री गंगाराम खंडूड़ी ने अपने परिश्रम व योग्यता से ठेकेदारी का व्यवसाय उन्नत कर लिया था और वे टिहरी-गढ़वाल, चकरौता, गढ़वाल आदि में जंगलात के ठेके लिया करते थे । उन्होंने अपने चारों पुत्रों को साधारण ही स्कूली शिक्षा दी; उसके बदले व्यापार-व्यवसाय में उन्हें दीक्षित किया और जंगलों का व्यावहारिक ज्ञान कराया । आखिर ७ अगस्त, सन् १६०७ को उनका देहावसान हुआ ।

इस प्रकार जब श्री घनानन्द खंदूड़ी की आयु लगभग २५ वर्ष की थी, तब इन पर उस विशाल कारोबार का भार पड़ा । देखने में तो वह एक सफल कारोबार था, लेकिन उस समय लगभग ६४०००) की देनदारी थी; फिर भी ये विचलित नहीं हुए । इनके परामर्श पर चारों भाइयों ने एक योजना तैयार की । उसके अनुसार सबसे बड़े भाई श्री तारादत्त खंडूड़ी टिहरी में राज्य की सर्विस पर रहे और वहीं से अपने कारोबार को सहायता और परामर्श देते रहे । दूसरे नम्बर पर ये थे; इन्होंने कारोबार के मुख्य केन्द्र हरिद्वार को सम्भाला; वहां जंगलों से लकड़ी लाकर एकत्र की जाती थी और

फिर उसकी बिक्री का प्रबन्ध किया जाता था। तीसरे भाई श्री राधा-बल्लभ खंडूड़ी उत्तरकाशी में रह कर जंगलों के कार्य की देखभाल करने लगे। चौथे भाई श्री चन्द्रबल्लभ खंडूड़ी मसूरी में रहकर परिवार की देखभाल करने लगे तथा वहाँ की शाखा का कार्य भी देखने लगे। फ़र्म का नाम "मेसर्स गंगाराम घनानन्द" रखा गया और अंग्रेज़ी का शब्द "टी" ट्रेड-मार्क (व्यापार-चिन्ह) निश्चित किया गया।

इस प्रकार योजना बना कर चारों भाई विश्वास, परिश्रम और योग्यता के साथ कार्य करने लगे। काम शुरू करने के लिये इन्हें ४०,०००) का ऋण लेना पड़ा। लेकिन इतनी अच्छी तरह कार्य किया गया कि कुछ ही वर्षों में पुराना व नया सब ऋण चुकता कर दिया गया। श्री घनानंद खंडूड़ी ने उन दिनों बहुत ही प्रतिभा प्रदर्शित की। ये सुबह तड़के उठते और बड़ी रात गये तक, अपने ललितारौ वाले कार्यालय में, काम पर लगे रहते; एक क्षण भी इनका बेकार नहीं जाता था; इनका बिस्तर हर वक़्त बंधा रहता था, ताकि कुछ ही मिनटों के अन्दर कहीं के लिये भी प्रस्थान कर सकें! व्यापार में इन्होंने "सच्चाई ही सर्वोत्तम नीति है" के सिद्धान्त का पालन किया; लाभ की दर नीची रखी गई थी; वचनानुसार समय पर लकड़ी निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा दी जाती थी; लकड़ी की श्रेणी भी ऊँची रहती थी। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि "मेसर्स गंगाराम घनानन्द" की चारों तरफ़ धूम मच गई और सर्वत्र इनके व्यापार-चिन्ह "टी" का आदर होने लगा। विशेषकर प्रथम विश्व-महायुद्ध के दिनों में इनकी लकड़ी की मांग बहुत बढ़ गई थी; उन दिनों इनका व्यापार पराकाष्ठा पर पहुँच गया था और इसलिये उस अवसर पर इन्हें बड़ा लाभ हुआ।

यह क्रम सन १९१८ तक चलता रहा; लेकिन सबसे छोटे भाई श्री चन्द्रबल्लभ खंडूड़ी मसूरी में युद्ध-ज्वर से पीड़ित हुए और १३

नवम्बर, सन् १६१८ को अचानक उनका देहान्त हो गया ! उनकी बीमारी के कारण बड़े भाई श्री तारादत्त खंडूड़ी मसूरी आये हुए थे; वे वापिस टिहरी जा रहे थे कि रास्ते से ही युद्ध-ज्वर ने उन पर भी आक्रमण कर दिया और वे भी पांच ही दिन बाद स्वर्ग सिधार गये !! इतनी शीघ्रता से घटित होने वाली आकस्मिक दुर्घटनाओं के अवसर पर भी ये विचलित नहीं हुए; चार भाइयों के काम को दो भाइयों ने बांट लिया—इन्हों ने हरिद्वार और मसूरी का काम संभाला; साथ ही अब्दुल्लापुर के नये डीपो की भी देखभाल करने लगे; और श्री राधावल्लभ खंडूड़ी उत्तरकाशी और टिहरी आदि समस्त जंगलों की व्यवस्था देखने लगे।

लेकिन धीरे-धीरे इनका स्वास्थ्य गिरने लगा। दो भाइयों की आकस्मिक मृत्युओं से स्वयं इन्हें अपने जीवन पर शंका होने लगी थी; उस पर दिन-रात के परिश्रम ने इनके शरीर को भी क्लान्त कर दिया था। आखिर अगस्त, सन १६२२ में ये खाट पर लेटे और फिर उठ न सके। भारतवर्ष में चिकित्सा-सम्बन्धी जितनी भी सुविधायें थीं, वे सब प्रयोग में लाई गईं—कभी इन्हें जलवायु-परिवर्तन के लिये सोलन ले जाया गया, तो कभी देहरादून में ही कलकत्ते के सुप्रसिद्ध वैद्य डा० गणनाथ सेन को १०००) प्रतिदिन की फ़ीस पर बुलाया गया। लेकिन बिधना के लेख को कौन टाल सकता है ? अन्त में २८ जुलाई, सन् १६२३ ई० को ४२ वर्ष की ही कम आयु में इन्होंने अपने पार्थिव शरीर को तिलांजलि देकर प्रभु की गोद का आश्रय लिया !

इनकी व्यापार-कुशलता

ऊपर यह अंकित किया जा चुका है कि इन्होंने व्यापार में आश्चर्यजनक सफलता पाई थी। तथ्य यह है कि इस क्षेत्र में इन्होंने अपने अध्यवसाय और योग्यता से सदा के लिये एक उदा-

हरण स्थापित किया है। ये बहुत दूरदर्शी व्यक्ति थे; बाज़ार-भाव का बारीकी से अध्ययन करते रहते थे और कई वर्ष आगे का खाका इनके सामने रहता था। साथ ही इन्होंने कभी भी अपने व्यापार से अनुचित लाभ उठाने की कोशिश नहीं की; ये अपने ग्राहकों के साथ बहुत सज्जनता और सहृदयता का व्यवहार करते थे और हमेशा के लिए उनके हृदय जीत लेते थे। यद्यपि उधार देना बन्द था, तथापि उदारता की कमी नहीं थी; इसीलिए एक बार जो व्यक्ति इनके पास आता था वह सदा के लिए इनकी फ़र्म का ग्राहक बन जाता था।

एक बार एक व्यापारी ने लकड़ी का एक बड़ा स्टौक इनके यहां रिज़र्व कराया और ३००००) बयाने के तौर पर देकर लिखत-पढ़त कर गया। लेकिन उसके बाद ही दुर्भाग्य से लकड़ी का भाव गिर गया और उसे विश्वास हो गया कि अगर वह वचन के अनुसार इनसे लकड़ी का सारा स्टौक ख़रीदकर फिर बिक्री करता है तो उसे लगभग एक लाख रुपयों की हानि होती है, और अगर वह इनसे लकड़ी नहीं ख़रीदता है तो बयाने के तीस हज़ार रूपये ख़त्म होते हैं! उस अवसर पर इन्होंने उसे उस विकट परिस्थिति से निकाला और उसके सब रूपये लौटा दिए। बेचारा व्यापारी डूबने से बचा; लेकिन इस सहृदयता के कारण अगले वर्ष वह अन्य कई व्यापारियों को भी ले आया; वे सब लकड़ी के बड़े-बड़े स्टौक ख़रीद कर ले गए और सदा के लिए पक्के ग्राहक बन गए।

लेकिन अपने व्यवसाय में इन्हों ने जो सब से अच्छा कार्य किया वह था श्रमजीवियों के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार। इनके कारोबार के कारण सैंकड़ों गढ़वालियों का भला हुआ। इन्होंने यह सिद्धान्त बना लिया था कि अपने व्यवसाय में अपने ही प्रदेशवासियों को स्थान दिया जाय। एक बार एक मैदानी मित्र ने इनसे कारण पूछा तो उत्तर दिया कि "मैदानों के लोग तो अपनी योग्यता से कहीं भी

स्थान पा लेंगे, लेकिन अपने ग़रीब गढ़वालियों को अगर मैं नहीं अपनाऊँगा तो उनकी सहायता कौन करेगा ?" इतना ही नहीं, अपने श्रमजीवियों को ये अनेक सुविधायें देते थे और उन्हें अपने व्यवसाय का वास्तविक आधार मानते थे। हर छै मास में एक मास की सवेतन छुट्टी दी जाती थी तथा आकस्मिक बीमारियों में पथ्य का भी प्रबन्ध किया जाता था। किसी भी कर्मचारी पर कोई विपत्ति आ पड़ती तो ये उसकी विशेष सहायता करते थे। लाभोन्नति का मध्यमान लेकर इन्होंने वेतन निश्चित किया था; प्रति मास ठीक समय पर सब की अदायगी कर दी जाती थी। इन सब कारणों से कर्मचारी व श्रमजीवी भी इन्हें पिता-तुल्य मानते थे; क्योंकि इन्हीं के कारण उनकी आर्थिक दशा सुधरी थी और वे अपने परिवार के भरण-पोषण के अतिरिक्त बच्चों को शिक्षा भी दिलाने लगे थे। इनकी उस उदारता का परिणाम यह हुआ कि इनके श्रमजीवी एक बड़े परिवार के सदस्यों की तरह रहते थे और इनके व्यापार की उन्नति के लिये परिश्रम व सच्चाई के साथ काम करते थे।

इनकी सहज दानशीलता

इस प्रकार इन्हों ने अपने व्यापार-कौशल से स्वयं तो अपार सम्पत्ति उपलब्ध की ही; लेकिन अपनी दानशीलता के द्वारा इन्होंने ग़रीब व अनाथ लोगों की सहायता में उसे फिर अर्पण भी कर दिया। इन्हें अपने धन का कभी अभिमान नहीं हुआ; उसे तो ये समाज व देश की सेवा के लिये सहायक-सामग्री समझते थे। अनाथों व ग़रीबों की इन्होंने कितनी सहायता की—इसका कोई हिसाब नहीं! जहां किसी की पीड़ा को सुनते और दुखदर्द से परिचित होते तो तत्काल सहायता करते।

एक बार हरिद्वार में एक असहाय विधवा स्त्री पर अपने स्वर्गीय

पति के क़र्ज़ के कारण सात सौ रूपयों की डिक्री हो गई और उसका टूटा-फूटा सामान भी नीलाम होने लगा। जब इन्हें उस बात का पता लगा तो अपने आदमी भेज कर अधिकाधिक बोलियां बुलवाईं और सब सामान ख़रीद लिया; उस विधवा के क़र्ज़ा का इस प्रकार भुगतान करने के बाद इन्होंने उसका सब सामान उसके घर पहुँचवा दिया और साथ में फुटकर ख़र्च के लिये एक सौ रुपये भी भेज दिये !

एक बार ये एक जंगल में चल रहे थे कि समीप ही गंगा में स्नान करती हुई एक महिला दिखाई दी; उस ग़रीबिनी के पास कपड़े तक नहीं थे और इसलिये पेड़ों की छाल व पत्तियां पहिन कर वह किसी प्रकार अपनी लज्जा ढंके हुए थी। इन्हें उस पर बड़ी दया आई और अपनी पगड़ी व पश्मीना उतार कर उसे दे दिया; साथ ही कहा कि—"इन कपड़ों से अपना शरीर ढक लो और यह लिफ़ाफ़ा लेकर अपने घर वापिस जाओ।" उस लिफ़ाफ़े में कुछ नोट थे। उस महिला ने कपड़े लपेट लिये और कहा—"मैं कभी किसी धनाढ्य व्यक्ति की पत्नी थी; पर अब वैधव्य व ग़रीबी से पीड़ित होकर सतीत्व और एक मात्र बालक के प्राण बचाने तक कठिन हो गये हैं !" दोपहर की कड़ी धूप थी और इन्हें भूख लग आई थी; उसने इन्हें कुछ बेर चुनकर दिये; इन्होंने बड़ी प्रसन्नता से उन्हें खाया और अपने डेरे पर चले आये। श्री तोताकृष्ण गैरोला उस समय इन के साथ थे; उनका कहना है कि "उस घटना को देखकर उस दिन से मैं इन्हें देवता समझने लगा हूं !"

लेकिन ऐसे फुटकर दान देकर ही ये सन्तुष्ट नहीं हुए; इन्होंने दर्जनों गढ़वाली व्यक्तियों को आर्थिक सहायता देकर उद्योग-धन्धों और कारोबार पर लगाया, ताकि गढ़वाल की आर्थिक उन्नति भी हो। इस सम्बन्ध में सबसे अच्छा उदाहरण अष्टवर्ग फ़ार्मेसी के संचालक श्री भैरवदत्त थपलियाल का है। उन्हें प्रारम्भ से ही हिमा-

लय की जड़ी-बूटियों का संग्रह करके भारत भर में उनका प्रचार करने की लगन रही है और इस सिलसिले में अष्टवर्ग आदि अनेक अप्राप्य बनस्पतियों की खोज करके उन्होंने यथेष्ट प्रशंसा पाई है। उन्हें प्रारम्भ में भयंकर घाटे का सामना करना पड़ा था; और बहुत-कुछ सम्भव था कि वे निराश होकर सदा के लिए उस कार्य को छोड़ देते; लेकिन सौभाग्य से इनकी उन पर दृष्टि पड़ी और इनकी आर्थिक सहायता से वे अपना खोज-कार्य चालू रख सके। वे अभी तक भी इनके अत्यन्त अनुग्रहीत हैं तथा अपनी उन्नति को इन्हीं की कृपा का फल मानते हैं।

इनकी दानशीलता की एक और विशेष दिशा थी—पाठशालाओं और विद्यार्थियों की सहायता। उत्तरकाशी में इन्होंने "श्री कीर्तिशाह संस्कृत पाठशाला" की स्थापना की; उसमें संस्कृत, हिंदी व अंग्रेज़ी की निशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था व छात्रों को वस्त्र-भोजन की सुविधा भी दी जाती थी। साथ ही वहाँ इन्होंने एक कन्या-पाठशाला भी स्थापित की थी। उन दोनों को ये उच्च कोटि की संस्थायें बनाना चाहते थे। इसी उद्देश्य से सन् १६१७-१८ में इन्हों ने एक महाराष्ट्रीय सज्जन श्री राघवेन्द्र राव को मुख्याध्यापक नियुक्त किया था; वही 'राघवेन्द्र राव' आजकल के बाबा राघवदास हैं, जो उत्तर प्रदेश के प्रमुख गांधीवादी नेता हैं। उन्हों ने वहाँ जाकर स्वदेश और खादी आदि का प्रचार करना शुरू किया। उन दिनों टिहरी में रीजेन्सी-कौंसिल का ज़माना था; इसलिए लगभग छै महीने ही हो पाये थे कि कौंसिल के प्रेसीडेंट मि० शेमियर को पता लगा। उसने उन्हें गिरफ़्तार कराके टिहरी बुलवाया; उन्हें ४० मील पैदल चलना पड़ा; वह उनकी विद्वत्ता देखकर तो प्रसन्न हुआ; लेकिन हुक्म दिया कि—"तुम टिहरी-गढ़वाल राज्य की सीमा में नहीं रह सकते हो; यहाँ से निकल जाओ!" वास्तव में इनके ही बीच-बिचाव के

कारण बाबा राघवदास को जेल की सज़ा नहीं दी गई थी।

इन्होंने पचासों विद्यार्थियों को गुप्त या प्रकट सहायता प्रदान की। गढ़वाल के शिक्षित-समाज में दर्जनों ऐसे महानुभाव हैं, जो यह स्वीकार करते हैं कि इनकी सहायता के बिना वे आगे नहीं पढ़ सकते थे। श्री चन्द्रमोहन रतूड़ी पर जब विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा था और उन्हें मजबूर कर होकर ३४ वर्ष की आयु में फिर अपनी पढ़ाई जारी करनी पड़ी थी, तब इन्हों ने ५०) मासिक सहायता भेजकर उनका भार हल्का किया था। श्री मुकन्दीलाल को तो इन्होंने अभूतपूर्व सहायता दी। वे विद्यार्थी जीवन से ही एक बहुत होनहार युवक थे; वे गढ़वाल के समाचार-पत्रों में तो लिखते ही थे, लेकिन बाहर के हिन्दी व अंग्रेज़ी पत्रों में भी उनके लेख प्रकाशित हुआ करते थे। इन सब गुणों के कारण ये उन पर बहुत प्रसन्न हुए। इन्हें आशा थी की वह प्रतिभाशाली विद्यार्थी भविष्य में और भी उन्नति करेगा तथा अपनी योग्यता के द्वारा गढ़वाल व देश की प्रशंसनीय सेवा करेगा। इसलिए जब सन् १६१३ में उन्होंने विलायत जाकर बैरिष्टरी पास करने की इच्छा प्रकट की, तब इन्होंने उन्हें सहायता देना सहर्ष स्वीकार किया। श्री मुकन्दीलाल लगभग सात वर्ष इंगलैंड में रहे; औक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी से बी० ए० किया और फिर बैरिष्टर बनकर भारतवर्ष लौटे। उनके उस लम्बे प्रवास में इन्होंने कुल मिलकर उन्हें ३५०००) की सहायता दी थी! वहाँ से लौटने के बाद भी ये उनकी सहायता करते रहे और अब भी इसी कारण श्री राधाबल्लभ खंडूड़ी का उनके साथ पूरा स्नेह-सम्बन्ध है।

लेकिन "श्री चन्द्रबल्लभ-स्मारक-छात्रवृत्ति ट्रष्ट" की स्थापना करना इनका इस दिशा में सब से बड़ा कार्य है। उसकी स्थापना इन्होंने अपने सबसे छोटे भाई श्री चन्द्रबल्लभ खंडूड़ी की स्मृति-रक्षा के लिए की। उनका असामयिक देहावसान, लगभग ६२ वर्ष

की अवस्था में ही निस्सन्तान हो गया था; इसलिए इन्होंने यह निश्चय किया कि संयुक्त जयदाद से उनके हिस्से का धन लेकर ऐसा कार्य किया जाय, ताकि उनकी स्मृति चिरस्थायी हो सके। आखिर बहुत सोच-विचार के बाद इन्होंने २०,०००) से मसूरी में "चन्द्रवल्लभ आयुर्वेदिक दातव्य औषधालय" की स्थापना करने के बाद शेष ८००००) से "चन्द्रवल्लभ स्मारक छात्रवृत्ति ट्रस्ट" बनाया।

इस ट्रस्ट के उद्देश्यों में इन्होंने यह घोषित किया था कि गढ़वाल के सब भागों और सब जातियों के होनहार ग़रीब विद्यार्थियों को सहायता देकर शिल्प-कला सीखने में मदद दी जाय, ताकि वे किसी न किसी व्यवसाय में लगकर इस हमारे पिछड़े हुए प्रदेश की उन्नति करें। इन्होंने यह भी घोषणा की थी कि छात्रवृत्ति देने में सिवाय गढ़वाली और ग़रीब होने के और कोई विचार नहीं किया जायेगा, न किसी मुआवज़े की जरूरत होगी; पर हाँ, दुर्गुणों से दूर रहने का विद्यार्थियों को अवश्य प्रयत्न करना होगा। इस ट्रस्ट का प्रबन्ध इन्होंने एक प्रबन्धक-समिति के सिपुर्द किया; गढ़वाल के जिलाधीश उसके पदेन सभापति होते हैं और मंत्री सदस्यों द्वारा चुने जाते हैं; धारासभा के सदस्यों, ज़िला बोर्ड व टिहरी-नरेश के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त दानदाता के परिवार से भी कुछ प्रतिनिधि सदस्य होते हैं। प्रारम्भ में सन १६२१ से सन १६३३ तक श्री तारादत्त गैरोला इस ट्रस्ट के मंत्री रहे और उनके बाद तब से अब तक लगातार श्री मुकन्दीलाल उस पद पर कार्य कर रहे हैं।

प्रारम्भ में यह निश्चय किया गया था कि एक छात्रवृत्ति २५) की कौलेज के लिए, एक अन्य छात्रवृत्ति २५०) की विदेशों में शिक्षा-लाभ के लिए और तीसरी छात्रवृत्ति ५०) की वैज्ञानिक तथा शिल्प-विद्या के लिए दी जाय; लेकिन बाद में छात्रवृत्तियों की संख्या बढ़ा दी गई। ट्रस्ट की ताज़ातम रिपोर्ट के अनुसार अब

तक १०६५३०) छात्रवृत्तियों में वितरण किये गये हैं। इनमें से १२६२५) विदेशों में अध्ययन के लिए, ४०८५०) कला-कौशल व उद्योग-धन्धों की तथा ५३०५५) सामान्य विद्यालयों की शिक्षा पाने वाले छात्रों को दिये गये। इस समय ८६०००) कुल पूंजी जमा है; और प्रतिवर्ष लगभग २५००) वितरण के लिए उपलब्ध होते हैं।

× × × ×

ये यद्यपि व्यवहारिक राजनीति में कभी नहीं पड़े, तथापि एक राजनीतिज्ञ (स्टेट्समैन) के सभी परमाणु इनमें विद्यमान थे। सार्वदेशिक नीति के सम्बन्ध में तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति इनकी हार्दिक सहानुभूति थी। इन्होंने कई राजनैतिक कार्यकर्ताओं को गुप्त रूप से आर्थिक सहायता दी। सन् १९२३ में मसूरी के "तिलक भवन" के निर्माण के समय इन्होंने एक अच्छी धनराशि दान में दी थी और काम शुरू करने के लिए २०,०००) क़र्ज़ के तौर पर दिये थे। उधर सरकारी क्षेत्रों में भी इनका पूरा सम्मान था। सन् १९२० में जब इन्हें "रायबहादुरी" की पदवी प्रदान की गई, तब बहुत ही झिझक के साथ इन्होंने उसे स्वीकार किया।

राज्य-गढ़वाल और ज़िला गढ़वाल की एकता के ये प्रबल समर्थक थे; इन्होंने जितने भी कार्य किये, उनमें इस बात का पूरा ख़याल रखा। इनके गढ़वाल की परिधि में मसूरी, देहरादून तथा ऋषीकेश व हरिद्वार भी सम्मिलित थे; और वहाँ की राजनीति में इनका बड़ा सम्मान था।

टिहरी-दर्बार के ये सच्चे शुभचिन्तक थे; इसलिये वहां भी इनका प्रबल प्रभाव था। रीजेंसी-कौंसिल के विरुद्ध महाराज नरेन्द्रशाह को राज्याधिकार दिलाने में इन्होंने बहुत सहायता दी थी। दर्बार की ओर से ही सन १९१७ में अपने ख़र्चे पर ये तिब्बत गये और वहां के अधिकारियों से बातचीत की; उस प्रयत्न के फलस्वरूप सरहदी

झगड़े का सन्तोषजनक निपटारा हुआ और गंगोत्री लाइन पर उत्तरकाशी से ६ मील नीचे डुंडा में एक व्यापारिक मंडी की स्थापना की गई; उत्तरी सीमा के 'जाड' लोग वहां बसाये गये; तब से नीलंग घाटे के रास्ते तिब्बत से ऊन आदि के व्यापार की मात्रा बहुत बढ़ गई है। इनकी योग्यता के कारण ही टिहरी-गढ़वाल राज्य ने एक बार इन्हें अपने जंगलात 'वर्किंग प्लान' का अध्यक्ष नियुक्त किया था; उस कार्य को इन्होंने सफलता से निभाया। इन सेवाओं के उपलक्ष्य में महाराज नरेन्द्रशाह ने सन् १६२० में इन्हें सोने की तलवार और खिलअत प्रदान की। वे इनका इतना आदर करते थे कि इनकी बीमारी के दिनों में एक बार स्वयं इनके बंगले पर पहुँचे और इनकी स्वास्थ्य-कामना की।

यह हर्ष की बात है कि श्री राधाबल्लभ खंडूड़ी ने इनकी स्मृति-रक्षा के लिये मसूरी में "घनानन्द हाइ स्कूल" की स्थापना की और बाद में उसे इण्टरमीडियेट कौलेज कर दिया; अब कुछ वर्षों से वह सर्कारी नियन्त्रण में और भी सफलतापूर्वक चल रहा है। इनके एकमात्र पुत्र श्री पितृप्रसाद का भी इनकी मृत्यु से क़रीब तीन वर्ष बाद देहान्त हो गया था, इनकी पुत्री श्रीमती सुशीलादेवी का देहरा-दून के वकील श्री दीपचन्द कुकरेती से विवाह हुआ। श्री राधा-बल्लभ खंडूड़ी की केवल एक "शांति" नाम की कन्या थी; लेकिन वह भी कुछ दिनों के बाद स्वर्गधाम को सिधारी। सबसे बड़े भाई श्री तारादत्त खंडूड़ी के तीन पुत्र हैं; सबसे बड़े श्री जयबल्लभ खंडूड़ी सन् १६३४ में "गढ़वाल-गाथा" पुस्तक प्रकाशित कर चुके हैं और अब पौड़ी में पत्र-सम्वाददाता हैं; अन्य भाई व्यवसाय करते हैं।

इस लेख की अधिकाश सामग्री श्री तोताकृष्ण गैरोला द्वारा लिखित 'तात घनानन्द' पुस्तक से ली गई है।

(५) श्री जोधसिंह नेगी

(निधन-तिथि—१५ नवम्बर, सन् १९२५ ई०)

प्रतिभाशाली राजकर्मचारी तथा रचनात्मक जन-सेवक श्री जोधसिंह नेगी का जन्म अगस्त, सन् १८६३ ई० में पट्टी असवालस्यूं के सूला ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री पद्मसिंह नेगी पौड़ी की अदालत में एक साधारण पद पर थे। वहीं इन्होंने मिशन हाइ स्कूल में अंग्रेजी मिडिल तक शिक्षा पाई और फिर कलेक्टोरेट में नियुक्त हो गये।

सर्कारी नौकरी प्रारम्भ करते समय ये १५) मासिक वेतन पर एक साधारण क्लर्क नियुक्त हुए थे। लेकिन अपने परिश्रम और सच्चरित्रता से शीघ्रता के साथ इन्होंने उन्नति की। कुछ वर्षों बाद ये पौड़ी के डिप्टी-कलक्टर की अदालत में सेकण्ड क्लर्क बनाये गये। सन् १८९० में गढ़वाल का भूमि-बन्दोबस्त प्रारम्भ हुआ और ये बन्दोबस्ती डिप्टी-कलक्टर श्री धर्मानन्द जोशी के साथ सरिश्तेदार पद पर नियुक्त किये गये। उस सिलसिले में इन्हें सारे गढ़वाल का दौरा करना पड़ा और ये सब इलाक़ों से परिचित हो गये। अपने उस अनुभव के आधार पर सन् १८९६ में ये बन्दोबस्ती कार्य के लिये अल्मोड़ा ज़िले को परिवर्तित किये गये; वहां पहिले ये असिस्टैंट सेटलमेंट ऑफ़िसर के सरिश्तेदार रहे और फिर कुछ समय बाद सर्वे अमीनों के सुपरवाइज़र पद पर नियुक्त हुए।

सन् १९०२ में अल्मोड़ा ज़िले का बन्दोबस्ती कार्य सम्पूर्ण हो जाने पर ये तराई-भाबर इलाक़े के तहसीलदार बनाये गये और वहां लगभग पांच वर्ष तक कार्य किया। उस बीच इन्होंने अधिकांश समय किच्छा में बिताया और प्रत्येक दिशा में प्रशंसा प्राप्त की। सन् १९०७ में इनका स्थानांतर पौड़ी को हुआ और लगभग पांच वर्षों तक ये यहां रहे। उस बीच गवर्नमेंट तथा अपनी जनता

की सेवा का इन्हें सुअवसर मिला और इन्होंने उसका सर्वोत्तम उपयोग किया। उन्हीं दिनों सन् १६११ में प्रयाग की सुप्रसिद्ध अखिल-भारतीय प्रदर्शनी हुई। उसकी गढ़वाल ज़िला कमेटी के ये मन्त्री नियुक्त किये गये। इन्होंने यहां से अनेक प्रदर्शनीय वस्तुएँ भिजवाईं; और गढ़वाल के प्रतिनिधि की हैसियत से ये स्वयं प्रयाग भी गये और उस सहायता के लिये प्रदर्शनी के अधिकारियों ने इनकी बहुत प्रशंसा की। उसके बाद ही सन् १६१२ में इनका तबादला चम्पावत (ज़िला अल्मोड़ा) को हो गया और वहां ये लगभग चार वर्ष तक रहे। इनके लगातार प्रशंसनीय कार्य से प्रसन्न होकर गवर्नमेंट ने इन्हें डिप्टी-कलेक्टरी के लिये छांट लिया था कि इन्हें टिहरी-गढ़वाल जाना पड़ा।

महाराज कीर्तिशाह के देहावसान के बाद टिहरी-गढ़वाल में रीजेंसी-कौंसिल का शासन चल रहा था। उसने भूमि-बन्दोबस्त की आवश्यकता महसूस की और प्रांतीय सर्कार से एक सुयोग्य अफसर की मांग की; अतः अपने अनुभव और योग्यता के कारण इन्हें छांटा गया। सन १६१७ के प्रारम्भ में ये वहां गये और सेटलमेंट ऑफिसर व रेवेन्यू मेम्बर" के पद पर कार्य करने लगे। उस कार्य के लिये श्री सदानन्द कुकरेती को इन्होंने अपना सरिश्तेदार छांटा। वे "विशाल-कीर्ति" के सम्पादक की हैसियत से सर्कारी हल्क़ों में बहुत खटक चुके थे; फिर भी उनकी कट्टर सत्यप्रियता और कार्यतत्परता के कारण इन्होंने, सर्कारी हल्क़ों की परवाह न करते हुए भी, उन्हें ही छांटा। टिहरी-गढ़वाल में भी इन्होंने बड़े परिश्रम व योग्यता से कार्य किया। लेकिन कतिपय उच्च अधिकारियों से मतभेद बढ़ जाने के कारण सन् १६२० में ये वहाँ से चले आये। उसी बीच इनकी नौकरी भी पूरी हो गई थी; अतः इन्होंने अवकाश ग्रहण कर लिया।

पेंशन में आ जाने पर इन्होंने गढ़वाल ज़िले के सार्वजनिक

जीवन में प्रवेश किया। अपनी सर्कारी नौकरी के साथ-साथ की गई देश-सेवा की पूंजी इनके पास थी; इसलिये जब सन् १६२० में मांटेगू-चेम्सफ़ोर्ड सुधारों के अन्तर्गत प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के लिये प्रथम निर्वाचन हुए, तो ये भी उस पद के लिये उम्मीद-वार हो गये। इनके मुक़ाबले में कई दिग्गज व प्रभावशाली महा-नुभाव थे; लेकिन ये प्रबल बहुमत से निर्वाचित हुए। कौंसिल में इन्होंने परिश्रम से कार्य किया। उसी बीच ब्रिटिश-सर्कार ने इन्हें "रायबहादुर" की उपाधि प्रदान करके सम्मानित किया।

लेकिन सन् १६२३ के आम चुनावों में ये सफल नहीं हो पाये; क्योंकि उस बार इनके विरोध में श्री मुकन्दीलाल थे; उन्हें स्वरा-जिष्ट पार्टी का टिकट मिल जाने के कारण ज़िले भर के युवकों व सुधारवादी व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त था; इसके अतिरिक्त श्री मुकन्दीलाल से व्यक्तिशः गढ़वाली जनता को बड़ी-बड़ी आशायें थीं और स्वराज्य की भावना गांव-गांव तक पहुंच चुकी थी।

उस असफलता के बाद ये कुछ निराश से हो गये और सार्व-जनिक जीवन से तटस्थ हो गये। धीरे-धीरे इनका स्वास्थ्य गिरने लगा। इन्हें वातजन्य रोग (उरु-स्तम्भ) हो गया। उस बीमारी से ये लगभग आठ मास तक पीड़ित रहे; कुछ दिन इन्होंने पौड़ी में इलाज कराया; और बाद को अपने जन्मस्थान-सूला वापिस चले गये। वहीं महीनों तक, बड़ी वीरता व धैर्य के साथ यातना सहने के बाद, १५ नवम्बर, सन १६२५ ई० को इन्होंने ६२ वर्ष की आयु में अपनी जीवन-लीला समाप्त की!

बेगार तथा जंगलात के दुखों में सुधार

जिन दिनों ये पौड़ी में तहसीलदार थे, उन दिनों कुली-बर्दायश की प्रथा गढ़वाल के माथे पर एक कलंक थी। सर्कारी अधिकारियों का कहना था कि शासन-कार्य के लिये दौरा करना अनिवार्य

और दौरे का काम बिना कुलियों के नहीं चल सकता, इसलिये प्रत्येक गांव का प्रत्येक व्यक्ति कुली का काम करने के लिये अनिवार्यतया तैयार रहना चाहिये ! उस प्रथा के कारण गढ़वाल के ग्रामीण जन-समाज को जो कष्ट थे उनका वर्णन यहां पर करना व्यर्थ है। हर व्यक्ति उसके कारण परेशान था।

पौड़ी पहुंचते ही इन्होंने अपने दौरों में बेगार न लेने का दृढ़ निश्चय किया; और अपने अनुभव से यह सिद्ध किया कि उसके बिना काम चल सकता है। उसी बीच तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर मि० स्टौवल का दौरा द्वारीखाल गया; श्री शालिग्राम वैष्णव उन दिनों उस इलाक़े के क़ानूनगो थे; उन्होंने गांव वालों से बेगार के ढंग पर अंडे-मुर्ग़ी नहीं मंगाये और समीपवर्ती गांव वालों से दो आना प्रति घर के हिसाब से चन्दा वसूल किया और सहयोगी ढंग पर अंडे-मुर्ग़ी का प्रबन्ध कर दिया। थी तो यह छोटी सी बात; लेकिन इससे गांव वालों का बोझा बहुत हल्का हो गया। इन्हें उस बात का पता लगा और बदायश मिटाने के लिये इन्होंने उसी तरकीब का प्रयोग करने का निश्चय किया।

सबसे पहिले इन्होंने अपनी असवालस्यूं पट्टी वालों को प्रेरित किया और सब लोगों ने मिलकर एक रुपया प्रति घर चन्दा करके अद्वाणी में अपने ख़र्चे पर कुलियों का प्रबन्ध कर दिया। अद्वाणी का वह परीक्षण जब सफल हो गया तब इन्होंने मि० स्टौवल को राज़ी करके पौड़ी तहसील भर में उस स्कीम को लागू करा दिया; और फिर धीरे-धीरे सारे ज़िले में वह तरकीब चालू हो गई। उस कार्य में सर्व-साधारण का स्वेच्छापूर्ण सहयोग प्राप्त करने के लिये "कुली-एजेंसी" की स्थापना की गई; उस संस्था का पूरा नाम "ट्रांसपोर्ट एण्ड सप्लाइ कोऑपरेटिव एसोसियेशन" था। ये उसके सर्वप्रथम अवैतनिक मन्त्री नियुक्त हुए और जब तक ये पौड़ी में रहे परिश्रम व योग्यता के साथ उसका कार्य करते

रहे; और जब इनकी बदली चम्पावत को हो गई तब श्री तारादत्त गैरोला ने वह कार्यभार संभाला।

कहना न होगा कि "कुली एजेंसी" का वह कार्य गढ़वाल के तत्कालीन जीवन में एक क्रान्ति लाने वाला था। उससे उन दिनों के गढ़वाली जीवन की एकता भी सिद्ध होती है। वह लगभग बारह वर्ष तक चलती रही; एक लेखक का अनुमान है कि उन १३ वर्षों में गढ़वाल की जनता ने लगभग ४ लाख रुपये एकत्र करके उस कार्य पर खर्च किये। बाद में जब असहयोग आंदोलन के फलस्वरूप बेगार-बर्दायश का सिद्धान्त ही सदा के लिए समाप्त कर दिया गया, तब सरकार ने स्वयं उस संस्था को अपने हाथ में ले लिया और उसका नाम "गढ़वाल गवर्नमेंट ट्रांसपोर्ट एजेंसी" रखा; वह अभी तक भी सूक्ष्म रूप में जीवित है तथा उसके खच्चर सरकारी अधिकारियों को दौरे के लिये सरकारी रेट पर दिये जाते हैं। आज इतने वर्षों के बाद हम उसका महत्व नहीं आंक सकते; लेकिन उस समय जनता के कष्ट दूर करने में उस संस्था ने आश्चर्यजनक सहायता दी थी। इसीलिए श्री आत्माराम गैरोला ने अपनी "कुली एजेंसी महिमा" शीर्षक कविता में निम्न शब्दों का प्रयोग किया था—

"ऐजेन्सि तेरी जय बंशि बाजे,
बगड़ पड़ोस्यों कि मुनाद जागे।
सामालिक थौली राहिगे घरीमा,
ऐजेन्सि ! तेरी महिमा मही मा॥
थोकदार गैने अपणी जगा मा,
एकलवासियों की तु छइ जगन्मां।
सर्कार की भी तु घणी पसंदमां;
ऐजेन्सि ! तेरी महिमा मही मा॥
निखाणि सेणी छइ जो मुलक मां,

धंधा धुंआ की छइ रोक जखमां ।
तेरी दया ते वह गै पलकमां;
ऐजेन्सि ! तेरी महिमा मही मां ॥
तेरा विचारक् छन नीति चालक्,
कुरीतियों का छन् ओ निवारक् ।
सभाइयों का छन प्रीतिपालक,
ऐजेन्सि ! तेरी महिमा मही मां ॥"

इन्होंने बेगार-बर्दायश की प्रथा के विरुद्ध सर्कारी जीवन में तो उपरोक्त रचनात्मक कार्य किया ही, पर बाद को एम० एल० सी० की हैसियत से भी इन्होंने सर्कार पर ज़ोर डाला। इन्होंने इस आशय का प्रस्ताव रखा था कि "सर्कार को कुमाऊँ में कुली उतार एक मुक़र्रर समय में—एक बरस में कहिये—बंद कर देनी चाहिए।" लेकिन गवर्नमेंट की ओर से निराशापूर्ण उत्तर मिला; तथापि सरकार ने कुली एजेंसी को ६५०००) सालाना सहायता प्रदान कर दी।

लेकिन जंगलात-सम्बन्धी कष्टों की ओर गवर्नमेंट का ध्यान दिलाने में ये और अधिक सफल हुए। जनता में आन्दोलन तो चल ही रहा था; अतः जंगलात के कष्टों की जांच करने के लिए गवनमेंट ने एक "फ़ौरेष्ट ग्रीवैन्सेज़ कमेटी" नियुक्त की; उसके तीन सदस्य थे—कुमाऊँ के कमिश्नर मि० विंढम; जंगलात के कन्सरवेटर और स्वयं श्री जोधसिंह नेगी। इन्होंने उस अवसर पर अत्यन्त योग्यता से कार्य किया। उस कमेटी की सिफ़ारिशों के फलस्वरूप रिजर्व जंगलों का पुनर्वर्गीकरण किया गया तथा व्यवसायिक दृष्टि से लाभदायक जंगलों के अतिरिक्त शेष सब जंगलों में घास व जलाने की लकड़ी काटने व जानवर चुगाने की अनुमति मिल गई, जिससे ग्रामीण जनता के अधिकांश दुख समाप्त हो गये। उसी कमेटी की सिफ़ारिश पर भविष्य के लिये

"कुमाऊं फौरेष्ट कमेटी" नाम से एक स्थायी समिति संगठित की गई। इसके अतिरिक्त जंगलात की आय से प्रति वर्ष कुमाऊं के तीनों ज़िलों के डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को दो लाख रुपयों की आर्थिक सहायता भी स्वीकृत की गई।

क्षत्रिय-समाज की सेवा तथा प्रकाशन

लेकिन इनका दृढ़ विश्वास था कि जब तक समाज के हुए अंगों को भी विशेष प्रोत्साहन देकर आगे नहीं बढ़ाया जायेगा, तब तक सम्पूर्ण समाज उन्नति नहीं कर सकता है। इसी दृष्टि-कोण से इन्होंने गढ़वाल के क्षत्रियों में शिक्षा-प्रसार का अनथक उद्योग किया। उन दिनों तक यहां के क्षत्रिय लोग केवल अपने 'थोकदारी' आदि अभिमानों में डूबे हुए थे; उन्हें ज्ञान नहीं था कि बिना शिक्षा के उन्नति की दौड़ में वे पिछड़ जायेंगे; इसी कारण सर्कारी नौकरियों में भी उनकी संख्या नगण्य थी।

इसीलिये एक ओर इन्होंने अपने प्रभाव से गवर्नमेंट पर ज़ोर डालकर कई योग्य और सुशिक्षित क्षत्रिय युवकों को नायब तहसील-दारी व डिप्टी-कलेक्टरी तथा फौज में उच्च पद दिलाये, तो दूसरी ओर इनके प्रयत्नों से "गढ़वाल क्षत्रिय छात्रवृत्ति ट्रष्ट" की स्थापना हुई। उस कोष में गढ़वाल भर से, विशेषकर गढ़वाली फौजों से, एक बड़ी धनराशि जमा हो गई और सन १६२० से इस ट्रष्ट द्वारा ग़रीब तथा होनहार क्षत्रिय विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां देना प्रारम्भ हुआ। इनकी मृत्यु के बाद सन १६२८ में ५१,८००) जमा करके इस ट्रष्ट की रजिष्टरी करा दी गई। गढ़वाल के जिलाधीश उसके पदेन सभापति हैं तथा मंत्री चुने जाते हैं। शुरू में और कई सज्जन इस ट्रष्ट के मंत्री रहे और आजकल पौड़ी के वकील श्री शंकर सिंह नेगी उस पद पर कार्य कर रहे हैं। इस ट्रष्ट द्वारा प्रति वर्ष लगभग २०००) छात्रवृत्तियों में वितरित किये जाते

हैं। ताज़ातम रिपोर्ट के अनुसार सन १६२६ से सन १६५२ तक इस प्रकार छात्रवृत्तियों का वितरण हुआ—कालेज—२२४४०); हाइ स्कूल—१७०२०); टेकनिकल—८६३४); विविध—८६२०); कुल —५६,६७४)। सन १६२६ से पहिले का विवरण प्राप्त नहीं हो सका।

इन्होंने यह कार्य शुद्ध स्वदेश-प्रेम की भावना से किया था और इनके हृदय में समाज के किसी भी अन्य अंग से विरोध या घृणा नहीं थी। अनेक प्रभावशाली ब्राह्मण महानुभाव अन्त तक इनके मित्र रहे। उदाहरण-स्वरूप श्री तारादत्त गैरोला सन् १६२० के चुनाव में इनके प्रतिद्वन्दी थे, लेकिन उनके साथ इनका भाईचारा पूर्ववत कायम रहा। अष्टवर्ग-फार्मेसी के संचालक श्री भैरवदत्त थपलियाल वैद्य ने अन्तिम बीमारी के समय कुछ दिनों तक इनका इलाज किया था; उनका कहना है कि एकबार इन्होंने उस बीच आँखों में आँसू भर कर कहा था कि—"मुझ पर ब्राह्मणों का शत्रु होने का जो लाँछन कुछ लोगों द्वारा लगाया जाता है वह बिल्कुल ग़लत है; अगर भगवान मुझे इस रोग से इस बार छुटकारा दिला दें तो मैं इस लाँछन की असत्यता सिद्ध कर दूँगा!"

अपने उद्देश्यों का प्रचार करने के लिये ही इन्होंने 'क्षत्रियवीर' पाक्षिक-पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ कराया। उसका सर्व-प्रथम अंक १५ जनवरी, सन १६२२ को निकला और सन १६३८ तक, बीच-बीच में कभी-कभी बन्द होते हुए भी, वह चलता रहा। प्रारम्भ में कई वर्षों तक गगवाड़ा के श्री प्रतापसिंह नेगी उसके सम्पादक रहे; बाद में श्री कोतवालसिंह नेगी, वकील, तथा श्री शंकरसिंह नेगी, वकील, ने भी कुछ समय तक सम्पादन किया। यह समाचार-पत्र ज़िले के बाहर के प्रेसों में छपता था और पौड़ी से प्रकाशित हुआ करता था।

उपरोक्त समाचार-पत्र के अतिरिक्त इन्होंने अंग्रेज़ी में दो

पुस्तकें भी लिखीं। सन् १८९० में जब ये गढ़वाल के बन्दोबस्ती कार्य पर नियुक्त थे, तब इन्हें नीती घाटे के बन्दोबस्त के दौरान में हिमालय के दर्रे पार करके तिब्बत में जाने अवसर मिला। उस यात्रा का विवरण इन्होंने 'नीती-होती' नाम की अपनी अंग्रेजी पुस्तिका में किया। वह पुस्तिका सन १८९४ में प्रकाशित हुई थी और किसी भी गढ़वाली लेखक द्वारा लिखी हुई अंग्रेज़ी में प्रकाशित होने वाली वह सर्वप्रथम पुस्तक थी। उसके बाद अल्मोड़ा ज़िले के बन्दोबस्त के सिलसिले में इन्हें भोट व अस्कोट आदि इलाक़ों का भी अनुभव प्राप्त हुआ। उन सब अनुभवों के आधार पर इन्होंने अंग्रेजी में "हिमालयन ट्रैवल्स" नाम की पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में हिमालय के पार गढ़वाल व कुमाऊँ के उत्तर तरफ़ के इलाक़े भोट व अस्कोट के निवासियों के रहन-सहन, रीति-रिवाज, भाषा आदि का विवरण देते हुए आकर्षक यात्रा-विवरण दिया गया है। इस में २८९ पृष्ठ, ३२ चित्र और १ नक़्शा है; तथा सन १९२० में यह प्रकाशित हुई थी। इसकी प्रस्तावना तत्कालीन डिप्टी-कमिश्नर मिस्टर वी० ए० स्टौवल ने लिखी है, जिसमें इनकी योग्यता की बहुत प्रशंसा की गई है।

× × ×

इस प्रकार गढ़वाल में इनका वही स्थान था, जो पंजाब की राज-नीति में जाट-नेता सर छोटूराम का था। ये अपने पीछे तीन सुयोग्य तथा सुशिक्षित पुत्र छोड़ गये हैं। बड़े पुत्र श्री बलवन्त सिंह नेगी आजकल कीर्तिनगर (टिहरी-गढ़वाल) में डिप्टी-कलेक्टर हैं। मंझले पुत्र श्री ठाकुरसिंह नेगी उत्तर प्रदेशीय पुलिस में डिप्टी-इन्सपेक्टर जनरल हैं। छोटे पुत्र श्री विक्रमसिंह नेगी पोस्टमास्टर व पंचायती अदालत के सरपंच हैं।

(६) श्री बद्रीदत्त बमोला

(निधन-तिथि—सितम्बर, सन १९३० ई०)

'श्री बद्री महाराज का जीवन वास्तव में आश्चर्यजनक घटनाओं से परिपूर्ण है। वे सम्भवतया एक अकेले भारतीय थे, जो कुली-पड़ाव से उन्नति करके लेजिसलेटिव कौंसिल में पहुंचे। ट्रिनिडाड के रेवरेंड सी० डी० लल्ला, जो वहां की लेजिसलेटिव कौंसिल में वहां के भारतीयों का प्रतिनिधित्व करते थे, मौरीसश के माननीय आर० गजाधर तथा ब्रिटिश गायना के माननीय ए० एफ० श्रीराम—ये सब महानुभाव उन भारतीय मजदूरों के पुत्र हैं, जो उन उपनिवेशों में जाकर बस गये थे। लेकिन श्री बद्री महाराज ने शर्तबन्ध कुली प्रथा के अन्तर्गत सन १८८६ से सन १८९४ ई० तक स्वयं कार्य किया था!"

जिन श्री बद्रीदत्त बमोला (बद्री महाराज) के निधन पर हिन्दी के ख्यातनामा पत्रकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने ये शब्द लिखे थे, उनका जन्म तल्ला नागपुर पट्टी के बमोली गांव में सन १८६८ ई० में हुआ था। इनके पिता श्री काशीराम बमोला कर्मकांड व ज्योतिष के ज्ञाता थे।

बचपन में पिता ने इन्हें कर्मकांड व ज्योतिष-विद्या सिखाने की कोशिश की; लेकिन सन १८८६ में, जब ये १८ वर्ष के थे, एक दिन अचानक बिना कुछ कहे-सुने ये घर से निकल भागे और बनारस में संस्कृत पढ़ने की इच्छा से चल दिए। पल्ले में दो-चार आनों के सिवाय कुछ था नहीं; हां, घर के भरे-पूरे होने के कारण कानों में सोने की मुर्खियां, हाथों में चांदी के कड़े, कमर में चांदी की कंधनी व जेब में सोने के दानों सहित रुद्राक्ष की माला थी। किसी प्रकार श्रीनगर पहुँचे और सोने की दोनों मुर्खियां २२) में बेच दीं।

अकस्मात वहां दक्षिण भारत के एक पंडित श्री

नारायण भट्ट मिल गये। वे बद्रीनाथ-यात्रा के लिए गढ़वाल आये हुए थे। उनके साथ पहिले ये आगरा पहुँचे और फिर किसी प्रकार बनारस पहुँच कर एक वर्ष तक द्वारिकाधीश की पाठशाला में पढ़ते रहे। इतने में ही अचानक बनारस में भयंकर हैज़ा फैल गया और सब पाठशालायें बन्द कर दी गईं और विद्यार्थियों को कह दिया गया कि फ़ौरन अपने-अपने घरों को चले जावें। पर ये कहां जाते? ये तो घर से सदा के लिए बिदा होकर आए थे!

'जिधर को सींग समायें' की उक्ति के अनुसार ये फिर भी एक दिशा में चल ही दिये। अभी १०-१२ मील तक ही गये होंगे कि सिंगापुर-पिनाँग का ज्योन दामोदर नामक एक व्यक्ति इन्हें मिल गया। वह एक 'अरकाटी' था; अर्थात् उसका पेशा था भारत से लोगों को बहका कर उपनिवेशों में भेजना और इस प्रकार खूब रूपये कमाना। उसने इनसे कहा कि—"तुम मेरे साथ चलो; वहाँ खूब पढ़ना-लिखना और पूजा-पाठ करके कमाई भी करना।" ये भोले-भाले उसके असली स्वरूप को नहीं समझ पाये और उसके साथ हो लिए। जब सिंगापुर पहुँचे, तब इन्हें असली भेद का पता लगा; उस 'अरकाटी' ने इनसे तीन साल का 'एग्रीमेंट' (क़ुली का इक़रारनामा) लिखाना चाहा, पर इन्होंने साफ़ इन्कार कर दिया और ज़ोरदार शब्दों में कहा कि—"मुझे फ़ौरन वापिस पहुँचाओ।" सौभाग्य से एक दयालु अंग्रेज़ ने छुटकारे में इन्हें सहायता दी। उस बीच ज्योन दामोदर भी बीमार पड़ गया था; इसलिए सिंगापुर में केवल तीन सप्ताह रह कर ये भारत वापिस आ गये और उसी 'अरकाटी' के साथ उसके ज़िले गोरखपुर में पहुँच गये।

वहाँ इन्होंने पुलिस में अपना नाम लिखाया और बाक़ायदा परेड-क़वायद का काम करने लगे; लेकिन रात को पहरा देना इन्हें बिल्कुल पसन्द नहीं था; साथ ही रह-रह कर संस्कृत पढ़ने के अपने

असली उद्देश्य की याद भी आती रहती थी। इसलिए ६-७ महीने बाद ही पुलिस की वर्दी फेंक कर ये काशी को चल दिये। वहाँ तब तक हैज़ा शान्त हो चुका था और संस्कृत पढ़ने का इनका पक्का विचार था, लेकिन वह पाठशाला ही बन्द हो चुकी थी! इसलिए निराश होकर ये बनारस ज़िले के गाँवों में घूमने लगे और लगातार ७-८ दिन तक घूमते रहे।

सौभाग्य कहिये या दुर्भाग्य—इस बार भी इन्हें द्वारका नाम का एक अरकाटी मिल गया। उसने इनसे पूछा कि "नौकरी करोगे?" इन्होंने अपनी दुर्दशा का वर्णन किया और नौकरी से सहमति प्रकट की। उसने खूब दिखलावटी सहानुभूति प्रदर्शित की और कहा कि—"मेरे साथ चले-चलो; रोज़ जगन्नाथ जी के दर्शन करना और पूजा-पाठ, कथा-वार्ता करके अपनी आर्थिक समस्या को भी हल करना; उस स्थान को कोई फ़िजी कहते हैं और कोई जगन्नाथपुरी कहते हैं; तुमसे अगर कोई पूछे तो तुम कहना कि तुम फ़िजी जा रहे हो।" उसकी शब्दावली पर इन भोलेभाले युवक को कुछ भी सन्देह नहीं हुआ। इन्होंने फ़िजी का नाम पहिले कभी सुना नहीं था; सोचने लगे कि सम्भवतया जगन्नाथपुरी को ही अंग्रेज़ी में फ़िजी कहते हैं! अतः ये उसके साथ चल दिये।

बनारस से ये कलकत्ते आये और वहाँ जहाज़ पर चढ़े। उस जहाज़ पर इन्हीं की तरह बहका कर लाये हुए लगभग आठ-नौ सौ व्यक्ति ठूँसे हुए थे; अच्छी तरह लेटने की भी जगह नहीं थी; खाने-पीने का तो बहुत ही कष्ट था। किसी प्रकार राम-राम करके पूरे तीन महीनों के बाद फ़िजी पहुँचे और सब लोग अलग-अलग यूरोपियन कोठी वालों में बाँट दिये गये; स्त्री की क़ीमत थी ४०) और पुरुष की २०) से लेकर २५) तक! ये कुल २५ व्यक्ति राकीराकी स्थान की पेनाँग शुगर रिफ़ाइनिंग कम्पनी में नियुक्त किये गये—१ गढ़वाली, १८ नैपाली और ६ भारत के अन्य स्थानों के

लोग। इस प्रकार सन् १८८६ ई० में, जब कि ये २१ वर्ष की उम्र के थे, इन्होंने अपने फ़िजी-प्रवास को प्रारंभ किया।

फ़िजी का संघर्ष व गौरव से पूर्ण जीवन

उस फ़ैक्टरी में इन्हें खेती पर काम दिया गया। सुबह ६ बजे से शाम के ५ बजे तक काम करना पड़ता था; बीच में सिर्फ एक घंटे की छुट्टी मिलती थी; और मज़दूरी थी ।।) प्रति दिन। सारे काम में बहुत सख्ती व कठोरता का व्यवहार किया जाता था; गाली-गलौज व मार-पीट वहाँ की साधारण बात थी। ये भी विधाता का विधान समझ कर दिल कड़ा करके उस काम पर जुट गये और इस परिश्रम व होशियारी से काम करने लगे कि किसी को कभी शिकायत का मौका ही नहीं मिलता था। फिर भी इन्हें अनेक कष्ट भुगतने पड़े। कई बार मार-पीट तक की नौबत आई; लेकिन ये साहस व धैर्य के साथ कार्य करते रहे। कुछ समय बाद गन्ने के खेत से इनकी बदली लोहारखाने में कर दी गई।

उसी लोहारखाने से वास्तव में इनकी उन्नति शुरू हुई। दो वर्ष की मज़दूरी के बाद ही अपनी मितव्ययिता से इन्होंने इतना रुपया बचा लिया कि इन्होंने उन्हीं दिनों थोड़ी सी ज़मीन भी ख़रीद ली। धीरे-धीरे सन १८६४ ई० में इनका पांच साल का 'एग्रीमेंट' पूरा हुआ और ये अपनी शर्तबन्दी से मुक्त हुए। लेकिन उस कम्पनी से इनका स्नेह-सम्बन्ध-सा हो चुका था, इसलिये इन्होंने और पाँच वर्ष तक एक स्वतंत्र मज़दूर की हैसियत से वहाँ कार्य किया; अन्त में इनकी मज़दूरी ३।।) प्रतिदिन तक बढ़ गई थी। आख़िर सन १८६६ ई० में उन्होंने अन्तिम रूप से क़ुली का जीवन छोड़ा और फ़िजी के एक स्वतंत्र नागरिक बन गये।

अपनी मज़दूरी से इन्होंने जो रुपये कमाये थे वे अब इन्होंने ज़मीन खरीदने में लगाये; ये नौकरों द्वारा खेती कराते और स्वयं

देखभाल करते। जब उस योजना से इन्हें कुछ लाभ हुआ तो इन्होंने कुछ और ज़मीन ख़रीद ली और इस प्रकार ज्यों-ज्यों लाभ होता गया, ये अधिकाधिक ज़मीन खरीदते गये। कुछ वर्षों के बाद इन्होंने दूध का व्यवसाय भी शुरू किया और उसमें भी लाभ रहा। तब इन्होंने २०-२५ बीघे ज़मीन पर गन्ने की खेती की। आरम्भ में न लाभ रहा न घाटा, लेकिन ये निराश नहीं हुए। ये इतनी योग्यता व बुद्धिमानी से कार्य करते रहे कि इस दिशा में इन्हें आशातीत सफलता मिली और ये कुछ ही वर्षों में काफ़ी धनवान हो गये। उसके बाद इन्होंने हज़ारों बीघे ज़मीन पट्टे पर लेली, उसके कुछ हिस्से पर स्वयं खेती की व शेष हिस्से पर भारतीय आसामियों को बसा दिया।

ये एक हेल-मेली व्यक्ति थे, साफ़ सच्ची बात कहते थे और यथाशक्ति हर एक के दुख में सहायता देते थे। इस कारण फ़िजी भर में इनके अनेक मित्र बन गये। अंग्रेज भी इनका आदर करने लगे। उन दिनों वहाँ अवध इलाक़े के ही अधिक भारतीय थे; चूंकि ब्राह्मणों को अवध में 'महाराज' नाम से पुकारा जाता है, इसलिये ये 'बद्री महाराज' कहलाये जाने लगे और यह नाम फ़िजी द्वीप के घर-घर में पहुँच गया।

इधर भारत में अपने प्रवासी बंधुओं की कष्ट--गाथायें सुनकर ज़ोरदार जन-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ; विशेषकर दक्षिण अफ्रीका में 'कर्मवीर' श्री मोहनदास कर्मचन्द गांधी के नेतृत्व में प्रवासी भारतीयों ने अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सत्याग्रह-संग्राम छेड़ कर जब सफलता पाई, तब सभी उपनिवेशों के भारतीयों की ओर भारत व इगलैंड के उदारमना लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। तदुपरांत 'दीनबन्धु' श्री सी० एफ़० एण्ड्रयूज़ और मि० पियर्सन ने सब उपनिवेशों में जाकर 'शर्तबन्ध-क़ुली-प्रथा' के बारे में अपनी विस्तृत रिपोर्ट तैयार की। उसके फलस्वरूप यह

कलंकपूर्ण क़ुली-प्रथा सदा के लिए बंद कर दी गई, तथा प्रवासी भारतीयों का दशा में कुछ सुधार हुआ। दीनबंधु एण्डूयूज़ फ़िजी भी गये थे और वहाँ बद्री महाराज से भी मिले तथा इनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए। इसीलिए जब सन् १६१६-१७ में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने "प्रवासी भारतवासी" पुस्तक प्रकाशित की, तब उन्होंने उसकी भूमिका में लिखा था—The fact should be widely and extensively known that the Hon'ble Badri Maharaj, who went under indenture thirty years ago to Fiji, has risen by force of honesty and character to a distinguished place in the Colony. (यह तथ्य चारों ओर विस्तृत रूप से ज्ञात हो जाना चाहिये कि माननीय बद्री महाराज ने, जो तीस वर्ष पहिले शर्तबंध क़ुली-प्रथा के अंतर्गत फ़िजी गये थे, अपने चरित्र की शक्ति और सत्याचरण के बल-बूते पर उस उपनिवेश में एक सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है।)

उन्हीं दिनों फ़िजी के गवर्नर की सहायता के लिये एक लेजिसलेटिव कौंसिल की स्थापना हुई; और भारतीयों के सर्वमान्य नेता की हैसियत से ये उसके सदस्य नामज़द किये गये। ये २६ जनवरी, सन् १६१७ ई० की फ़िजी कौंसिल के सदस्य नामज़द हुए थे और 'माननीय' (ऑनरेबुल) कहलाने लगे। कौंसिल के अन्दर इन्होंने अत्यन्त योग्यता, निर्भीकता और स्पष्टवादिता से कार्य किया। ये कई कमेटियों और कमीशनों के सदस्य नियुक्त किये गये। विशेषकर शिक्षा-कमीशन की हैसियत से इन्होंने फ़िजी शिक्षा-विभाग में हिंदी को उच्च स्थान दिलाया और कई नये स्कूल खुलवाये। स्वयं भी अपने निवासस्थान—वेरूकू—में इन्होंने एक स्कूल चालू किया था और क़रीब २८ वर्ष तक उसका सारा भार उठाते रहे थे; सन् १६१७-१८ में जाकर उस स्कूल को गवर्नमेंट से कुछ सहायता

मिली। लेकिन फिर भी शेष खर्च का भार अन्त तक इन्हीं पर रहा। कौंसिल के अन्दर इनकी योग्यता व बाहर समाज में इनकी प्रतिष्ठा के कारण वहाँ के गवर्नर ने अपने ११ सितम्बर, सन १६१८ के भाषण में इनकी प्रशंसा की; और ये दो बार कौंसिल के लिए नामज़द किये गये।

यद्यपि एक ये नामज़द (नौमिनेटेड) सदस्य थे, लेकिन इनके विचार स्वतन्त्र थे और जब कभी भारतीयों के आत्म-सम्मान का कोई सवाल उठा, तब ये बड़ी से बड़ी क़ुर्बानी करने से नहीं चूके। उदाहरणस्वरूप, सन १६२३ में फ़िजी-गवर्नमेंट ने यूरोपियनों को छोड़कर शेष सब निवासियों पर 'पोल-टैक्स' (प्रति मनुष्य पर अतिरिक्त कर) लगाने का विचार किया। उस टैक्स का ग़रीब भारतीयों पर बहुत घातक प्रभाव पड़ता; इसलिए जब तत्सम्बन्धी बिल कौंसिल के समक्ष पेश किया गया, तब इन्होंने उसका तीव्र विरोध किया; लेकिन फिर भी सकारी पक्ष की प्रबलता के कारण वह स्वीकृत कर दिया गया। इन्होंने फ़ौरन उस अन्याय-पूर्ण टैक्स के विरोध में 'वाक-आउट' कर दिया और पूरे दो वर्ष तक कौंसिल में नहीं गये, और प्रबल आंदोलन चलाते रहे। दो वर्ष के बाद जब नए गवर्नर स्वयं इनके मकान पर आये और कहा कि—"उस पिछली घटना को भूल जाओ; वह टैक्स उठा दिया जाएगा।" तब ये फिर कौंसिल में प्रविष्ट हुए और पूर्ववत् निर्भीकता के साथ जनता के पक्ष का समर्थन करने लगे!

पारिवारिक जीवन और स्वदेश-यात्रा

इस प्रकार श्री बद्री महाराज फ़िजी-उपनिवेश में उन्नति की उस चरम सीमा पर पहुँच गए थे, जहां तक कि कोई भी अदम्य साहसी व सुयोग्य भारतीय पहुँच सकता था। राजा व प्रजा में इनका सम्मान था और आर्थिक दशा भी इनकी बहुत अच्छी थी।

शर्तबन्ध कुली-जीवन में ही सन १८६२ ई० में इन्होंने वहीं आज़मगढ़-निवासी श्री उजागिरि की पुत्री से विवाह कर लिया था। इनकी पत्नी लक्ष्मी-स्वरूपिणी थीं; अपने पति के आदर्श उत्थान में उन्होंने प्रशंसनीय भाग लिया और सन्तान की शिक्षा पर पूरा ध्यान दिया। उनसे ६ पुत्र और ३ पुत्रियां हुईं। इनके सब पुत्रों ने फिजी, न्यूज़ीलैंड, भारत व इंगलैंड में उच्च शिक्षा प्राप्त की तथा आजकल फ़िजी व न्यूज़ीलैंड में डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट, बैरिस्टर व इंस्पेक्टर ऑफ़ स्कूल्स सरीखे उच्च पदों पर नियुक्त हैं; साथ ही खेती का कारोबार भी पूर्ववत चला रहे हैं। पुत्रियों के विवाह फ़िजी के ही भारतीय परिवारों में इन्होंने कर दिये थे। ऐसे सुयोग्य पुत्र-पुत्रियों की माता और ऐसे आदर्श पति की पत्नी की ५८ वर्ष की अवस्था में १० फरवरी, सन १९२८ को मृत्यु हुई।

श्री बद्री महाराज ने भारत से ६४८२ मील दूर एक अज्ञात द्वीप में इतना उच्च पद व सम्मान प्राप्त कर लिया था; लेकिन इन्हें रह-रह कर अपनी मातृ-भूमि की याद आया करती थी। इसलिए सन १९२८ में ३९ वर्ष के लम्बे प्रवास के बाद ये फिर एक बार भारत में आए और लगभग एक वर्ष तक यहां रहे। ये अपने साथ शिक्षा-प्राप्ति के लिए भारतीयों की ९ लड़कियां और ११ लड़के भी लाए; उनमें स्वयं इनके दो पुत्र—श्री अंबिकानंद व श्री ज्ञानेश्वर तथा एक पुत्री श्री सरस्वती—भी थे। उन्हें इन्होंने जालंधर, देहरादून, कानपुर और वृन्दाबन की आर्यसमाजी शिक्षण-संस्थाओं में भर्ती कराया; क्योंकि यद्यपि स्वयं ये एक सनातन धर्मी थे, तथापि इनका विश्वास था कि आर्य-समाजी संस्थाओं में रह कर ही पुरातन भारतीय संस्कृति के गुण ग्रहण किए जा सकते हैं। भारत में यहां के सभी प्रमुख नेताओं से मिले और मुख्य-मुख्य तीर्थों तथा अन्य महत्वपूर्ण स्थानों का भी भ्रमण इन्होंने किया।

पर जिस गढ़वाल को छोड़े इन्हें पूरे ४२ वर्ष हो चुके थे, उसे

ये कैसे भुला सकते थे ? इतने वर्ष परदेश में रहकर और घरवालों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर भी ये पक्के गढ़वाली थे और इन्होंने अपनी सन्तान के हृदय में भी गढ़वालीपन खूब कूट-कूट कर भर दिया था। अतः सन् १९२८ में एक दिन ये फिर अपने उस पुरातन गाँव बमोली में पहुँचे और वहाँ की मिट्टी को मस्तक पर चढ़ाया ! घर और गाँव के लोग इन्हें भूल चुके थे; किसी को स्वप्न में भी विश्वास नहीं था कि ४२ वर्ष पहिले जो १८ वर्ष का एक नवयुवक एक रात भगोड़ की तरह अचानक घर से चल दिया था, वह फिर इतने धन व सम्मान के साथ उनके समक्ष आ खड़ा होगा !! सबने आश्चर्य से अपनी आँखें मलीं और भगवान को उसकी लीला के लिये धन्यवाद दिया। इनके माता-पिता तो न जाने कब गुज़र चुके थे; हां, छोटे भाई श्री बलभद्र बमोला मौजूद थे। उन्होंने अपने सगे-सम्बन्धियों को बुलाया और सब लोग बड़े प्रेम से मिले। कुछ महीनों तक ये बमोली में रहे और फिर उस भूमि की धूल अपने मस्तक पर रख कर पौड़ी, लैंस-डौन, देहरादून के रास्ते वापिस चले गए। गढ़वाल के लोगों ने स्थान—स्थान पर इनका यथेष्ट सत्कार किया। पर ये यहाँ की ग़रीबी और अशिक्षा को देखकर बहुत दुखी हुए; विशेषकर यहां की खेती की दुर्दशा देखकर और फ़िजी की उन्नत खेती से उसकी तुलना करके इनकी आंखों में आंसू आ गए !!!

फ़िजी लौटने के लगभग एक वर्ष बाद, अपने सुशिक्षित व सम्पन्न पुत्र-पुत्रियों तथा कृतज्ञ प्रवासी भारतीयों के मध्य, सितम्बर, सन १९३० ई० में, इन्होंने इहलीला संवरण की। वास्तव में श्री बद्री महाराज का जीवन-चरित्र दीन-हीन कुली-कबाड़ियों से लेकर बड़े-बड़े तपस्वियों के लिये एक प्रेरणा की वस्तु है; वह एक ऐसी गाथा है, जो युग-युग तक भारत व गढ़वाल के साहसी व्यक्तियों का मार्ग प्रकाशमान करती रहेगी।

(७) श्री भोलादत्त चंदोला

(निधन-तिथि—२४ अगस्त, सन १९३७ ई०)

"वे गढ़वाल के 'राइजिंग मैन' थे। उनमें अभिमान नहीं था। रात-दिन की पर्वाह उन्हें नहीं थी। धर्म न छोड़ते हुए वे सोलहों आना राष्ट्रीय थे। उनके कर्तत्व से भावी नेता की सम्भावना थी।"

जिन कवि तथा जन-सेवक श्री भोलादत्त चन्दोला के बारे में श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ, एम० एल० ए०, ने एक मुलाक़ात में ये शब्द कहे थे, उनका जन्म कृष्ण-जन्माष्टमी के दिन २६ अगस्त, सन १९०० ई० को कफोलस्यूँ पट्टी के थापली ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री भवानीदत्त चन्दोला पटवारी थे और उन्होंने पैडुलस्यूं पट्टी के धौंधरगाड नामक स्थान पर कुछ जमीन खरीद ली थी। वहीं इनका पालन-पोषण हुआ और फिर पिता के साथ इन्हें कई पट्टियों में रहने का अवसर मिला।

अंग्रेज़ी शिक्षा इन्होंने गवर्नमेंट हाइ स्कूल, श्रीनगर में प्रारम्भ की और वहीं से हाइ स्कूल परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। फिर क्रिश्चियन कौलेज, लखनऊ से एफ० ए० में उत्तीर्ण होने के बाद इन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में नाम लिखाया; लेकिन उन्हीं दिनों असहयोग आंदोलन प्रारम्भ हो गया और 'गांधी की आंधी' में उड़कर ये घर आ गये। बेगार-बर्दायश की कलंकपूर्ण प्रथा के विरुद्ध उन दिनों यहां एक जन-आंदोलन चल रहा था। इन्होंने बड़े उत्साह के साथ उसमें भाग लिया।

कुछ दिनों में वह प्रथा सदा के लिए समाप्त हो गई और गांव वालों के जंगलात-सम्बन्धी कष्ट दूर हो गए। अतः आंदोलन स्वतः शिथिल हो जाने के कारण इन्हें भी अपनी पढ़ाई का ध्यान आया। इन्होंने फिर अपने अध्ययन को प्रारम्भ किया तथा बनारस से बी० ए० व लखनऊ से एल-एल० बी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण करके ये सन

१९२७ ई० में गढ़वाल आ गये और पौड़ी में वकालत प्रारम्भ कर दी।

पौड़ी आकर ये व्यवस्थित रूप से सार्वजनिक कार्यों में निमग्न हो गये। पौड़ी तथा आसपास का कोई भी ऐसा जन-हितकारी कार्य नहीं था जिसमें इन्होंने सहयोग न दिया हो। कुछ वर्ष इस प्रकार इन्हें जन सेवा के कार्य करते हुये व्यतीत हुए ही थे कि सन १९३० का सत्याग्रह-आंदोलन आ गया। उन दिनों तो इनका मकान सारे ज़िले की हलचलों का केन्द्र बन गया था। दुगड्डा की सत्याग्रह-कान्फ्रेंस के बाद जब जून, सन १९३० में कुमाऊँ-परिषद् और गढ़वाल-सभा के अधिवेशन पौड़ी में हुए, तब ज़िला कांग्रेस कमेटी का भी संगठन किया गया और ये उसके तथा उसकी युद्ध-समिति (वार कौंसिल) के भी मंत्री नियुक्त किए गए।

अभी ये सत्याग्रह-आंदोलन को संगठित करने की तैयारी कर ही रहे थे कि जुलाई मास में पहिले श्री देवकी नंदन ध्यानी तथा फिर श्री अनुसूया प्रसाद बहुगुणा चमोली से गिरफ्तार करके पौड़ी जेल में लाये गए। श्री अनुसूयाप्रसाद बहुगुणा के साथ तो जेलर ने बहुत दुर्व्यवहार किया; अतः चारों ओर एक सनसनी सी फैल गई। उन दिनों जुलूस निकाल कर व नारे लगाकर धारा १४४ को तोड़ना आम बात हो गई थी। इस प्रकार का एक जुलूस कंडोलियाखाल की तरफ घूम रहा था कि अदवाणी वाली सड़क से घोड़े पर चढ़े हुए तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर कैप्टेन आइ० डबल्यू० इबटसन तशरीफ लाये; वे एक निरंकुश शासक तो थे ही; अतः जुलूस के बीच में घोड़ा दौड़ा दिया और दाँए-बाँए हण्टर भी चला दिए; इस पर भीड़ में से कुछ नवयुवकों ने उन पर धूल-कंकड़ फेंके। बस, साहब बहादुर का पारा चढ़ गया और रातों-रात वारंट तैयार करके ७ जुलाई, सन १९३० की सुबह तड़के पौड़ी के अनेक

प्रमुख व्यक्ति गिरफ़्तार कर लिये गए। कुल १८ व्यक्ति पकड़े गए थे; कांग्रेस-आंदोलन के संचालक होने के कारण ये उनमें अग्रगण्य थे। उन गिरफ़्तारियों ने सारे ज़िले में एक आग सी लगा दी और सत्याग्रह-आंदोलन स्वतः दूर-दूर तक फैल गया।

चूँकि कई निरपराध तथा अराजनैतिक व्यक्ति भी उस चक्कर में आ गए थे, इसलिये सब साथियों की सलाह लेकर इन्होंने व इनके साथियों ने अपने आपको ज़मानत पर छुड़ा लिया। इन्हें परेशान करने के लिये मुक़दमे की पेशियां लैंसडौन में लगाई गईं। इन्हें कई बार वहां जाना पड़ा। आख़िरी पेशी अक्तूबर मास में लगी और सब को कारावास की भिन्न-भिन्न सज़ायें दे दी गईं। इन्हें ६ मास के सपरिश्रम कारावास का दण्ड मिला। फ़ैसला सुनाते ही इन्हें हिरासत में ले लिया गया; फिर लगभग १० दिन तक पलटन की एक बैरक में रखने के बाद इन्हें फैज़ाबाद जेल भेज दिया गया। वहां से पूरी सज़ा भुगत कर ये रिहा हुए और वापिस पौड़ी आये।

गांधी-इर्विन-सन्धि-काल में यमकेश्वर (उदयपुर पट्टी) में गंगा-सलाण राजनैतिक सम्मेलन हुआ। उस अवसर पर ज़िला कांग्रेस कमेटी फिर दुबारा संगठित की गई और ये फिर उसके मन्त्री निर्वाचित हुये। उस हैसियत से इन्होंने सन् १९३१ व सन १९३५ के ज़िला बोर्ड चुनावों में कांग्रेसवादी सदस्यों के लिए ज़ोरदार प्रचार-कार्य किया। फिर फ़र्वरी, सन १९३७ में प्रान्तीय एसेम्बली का चुनाव हुआ और इन्होंने श्री अनुसूयाप्रसाद बहुगुणा को विजयी बनाने में अनथक उद्योग किया। एक प्रकार से उस अवसर पर ये समस्त पौड़ी तहसील के चुनाव-आंदोलन के व्यवस्थापक थे; और उस अवसर पर इन्होंने अपनी संगठन-शक्ति का अच्छा परिचय दिया था।

पर अब इनका स्वास्थ्य गिरने लगा था। एक तो हमेशा सार्व-जनिक कार्यों में व्यस्त रहते थे; फिर सरल स्वभाव होने के

कारण ये फीस लेने में दक्ष नहीं थे; इस कारण इनकी आर्थिक स्थिति चिन्ताजनक होती गई। उन दिनों इनके अन्दर जो स्वाभाविक धर्म-प्रेम था वह स्वभावतया और जाग्रत हुआ; और ये अपना अधिक समय पूजा-पाठ तथा धर्मग्रन्थों के पारायण में लगाने लगे। धीरे-धीरे इन्हें पौड़ी में रहना असम्भव हो गया और ये अपने 'शांतिकुञ्ज' (धौंधरगाड) चले गये। वहां इनकी बीमारी और बढ़ गई; और आखिर, कृष्ण-जन्माष्टमी के ही दिन, २४ अगस्त, सन १९३७ ई० को केवल ३७ वर्ष की ही आयु में ये काल-कवलित हो गये !

इनकी काव्य-रचना

ऊपर इनके राजनैतिक जीवन की झांकी दी गई है; लेकिन तथ्य यह है कि इनका साहित्यिक जीवन और भी महान था। इन्हें विद्यार्थी-जीवन से ही पद्य-रचना का शौक़ था और अक्सर अपने मित्रों को ये अपनी रचनायें सुनाया भी करते थे। फिर डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल व श्री रत्नाम्बर चन्दोला के सत्संग का भी इन पर प्रभाव पड़ा। श्री रत्नाम्बरदत्त चन्दोला के नाम में 'रत्नाम्बर' का समावेश था; अतः डा० बड़थ्वाल ने अपना उपनाम 'अम्बर' रखा और इन्होंने उससे आगे बढ़कर 'अम्बरीष' अपने लिए छांटा। इसी उपनाम से इन्होंने अपनी अधिकांश कवितायें लिखीं। बाद में इन्होंने 'उद्विग्न' उपनाम का भी उपयोग किया।

इन्होंने वैसे तो अनेक फुटकर कवितायें लिखीं, लेकिन दो कविताओं के कारण इनकी अधिक प्रसिद्धि हुई। पहिली कविता का शीर्षक है "बेजोड़-बीरा"। वह सर्वप्रथम सन् १९२८ ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। दूसरी कविता का शीर्षक है—'मानस-हंसिनी'; यह एक कविता नहीं, बल्कि कई कविताओं की मणि-माला है। इनके अतिरिक्त इन्होंने राष्ट्रीयता तथा प्रभु के

प्रति आत्म-समर्पण की भावना से परिपूर्ण अनेक कवितायें लिखीं। साथ ही 'गीत गोविंद-टीका' तथा 'दोहावली-टीका' शीर्षक भी इनकी रचनाएँ बताई जाती हैं। इन सब में श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के "प्रिय-प्रवास" की कोमल-कान्त-पदावली का स्पष्ट प्रभाव है।

इनकी 'बेजोड़-बीरा' कविता, यद्यपि दुर्भाग्यवश अपूर्ण है, तथापि उसमें गढ़वाल की उपत्यकाओं में गायें चराने वाले ग्वाल-बालों के जीवन का मर्मस्पर्शी वर्णन है, तथा साथ ही पर्वतीय सौन्दर्य की छटा शब्द-शब्द से फूटी पड़ती है। 'बीरा' प्रकृति की गोद में पली हुई एक 'अजान बाला' है, जिसे यह चिन्ता है कि

"विश्व पथिक कौन गले लगा लतिका को
गृहस्थ कुंज में जीवन आश्रित करेगा ?"

उधर एक गड़रिया-पुत्र है, जो 'बुढ़ापे की लाठी, जवानी का मन था, माता की कोख का लाल था'; और जिसके जोड़ का पास-पड़ोस में कोई 'माल' (मल्ल) न होने के कारण जिसे "बेजोड़" कहने लगे हैं। इस कविता में इन्हीं दोनों के सहज प्रेमाकर्षण का चित्रण किया गया है और गढ़वाल के ग्वाल-बालों की सजीव झांकी प्रस्तुत की गई है। 'पाँचवें पर्व' के कुछ पद इस प्रकार हैं—

"दुपहरी सिधाई श्यामा झरने तीर, जल-क्रीड़ा-रत ग्वालों का वहाँ विनोद;
तैर-तैर नहाना, अंजुलि बरसाना, तृप्त गाय, बीरा प्रथम कौतुक प्यासी,
सहमा दलबंदी, एक, घेरा सबने, जल अंजुलियाँ बरसाते सभी उस पर,
अट्टहासों से गूँजा निर्मल नाला, देखती थी बीरा अचञ्चल भाव से;
एक का हाथ पकड़ा, दूसरे का पाँव, तीसरे की गरदन गही बेजोड़ ने,
गहरी जल-राशि में ढकेला, डुबाया, हाथ जोड़े सभी ने, छुटकारा मिला;
घर को तैयार बेजोड़, भैंस पर चढ़े, यम-दूत ज्यों भीति हरने के लिए,
कहा बेजोड़ ने फूल तोड़ो भाई, पूजा बालण देवता की है घर पर;
घर लौटे वे माताओं के प्रिय लाल, गुणावली गूँजें, बेजोड़ की घर-घर,

चूम माँ ने दिये मंजु मानस-मोती, उल्लसित आँसू, आशीश की रागिनी;
'बेटा ! दूध दही छाँछ खीर स्वादु थी, बुलाओ साथियों को बालण पूजने,
बिन्दा भैंस ब्याने का सरस उत्सव मनाओ
कि न दाग लगे, दूध भी बढ़ै;'
चले ग्वाल-बाल बट तले बालण पास—'मान मेरे देवता, मलाई खा ले,
गाय-भैंस वियावें, दूध खूब देवैं, उत्सव होवैं, हम-तुम खावैं-खिलावैं,'
परोसे पकवान देवता के आगे, 'जय बालण की !' कह के प्रिय फूल डाले;
प्रेम से खाने लगा ग्वाल-बाल यूथ, 'नित गाय-भैंस बियावें बालण पूजैं।"

अपने 'मानस-हंसिनी' कविता-संग्रह में इन्होंने राधा व कृष्ण के प्रेम को उत्तराखण्ड की पवित्र भूमि में प्रतिष्ठित किया है। इस कारण जहाँ एक ओर इन दो मूर्तियों के ऐतिहासिक परिणय की गाथा गाई गई है, वहाँ साथ-साथ हिमालय की पर्वतीय सुषमा की पुट देकर एक अभिनव सौंदर्य की भी सृष्टि की गई है। श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा, एम० ए०, के शब्दों में—'मानस-हंसिनी' में राधा की स्मृतियाँ शीतलता लिए हैं; उनमें ताप नहीं, शीतलता है; उद्वेग नहीं, स्मृति-जन्य सुख है; वे दुःख की नहीं, आनंद की अभिनंदनीय वस्तु हैं। चाँदनी रात में हरे-भरे बनों के बीच शांत भाव से बहने वाली भागीरथी की भांति यह 'मानस-हंसिनी' है।" उसका अंतिम पद इस प्रकार है—

"न हो, नहिं छू पाऊँ तेरे चरणों को,
देवि ! त्रिवेणी तीर्थ में न नहा पाऊँ।
चुम्बन-पारद-निर्मित नहिं कर पाऊँ,
मैं बिम्बानुकारी अधर-पल्लवों को ॥ १ ॥
निहार सकूं उन पर मनहर प्रतिबिम्ब,
कल्पना-वेलि की लहलहीं अमर-छटा।
जीवन-ज्योति से न कर सकूं आलोकित,
प्राण-प्रतिमे तिहारी पतित-पावनता ॥ २ ॥

काव्योपवन की कल्पना-क्यारियों पर,
निर्जनता-नीरवता-बेलाओं बीच।
ज्योत्स्ने न हो, सुधा-प्रवर्षण न हो,
अमरता न पा सके समाधि स्वप्नावलि ॥ ३ ॥
न हो कंकण के, किंकिणि के नूपुर के,
सामवेदीय पतित-पावन गानों की—
झनकारों से, तानों से, गुंजारों से,
'उद्विग्न' कल्पना-कुँज गुँजारित न हो ॥ ४ ॥
नील-सलिला शैल-बालाओं के तीर,
किसलय-कलिका कुसुम-प्रसूता सरस रितु-
हेमालंकृत विपिनाच्छादित श्रेणियों के,
बीच बालारुण स्वर्णिमा तले अहो ॥ ५ ॥
विहंगम-कुल-कलरव कूजित प्रभात में,
प्रपात-तीर, कुसुम-कुटीर के द्वार पर—
न हो, हंसवाहिनी हंसमाला बीच,
चित्रित खड़ी न हो रस चेतन करने को ॥ ६ ॥
चैतन्यता के इस उपहर-हार को,
न हो ठुकरा दो, जीवन-तरणि डुबा दो।
अतएव केशर-क्यारियों की ये रचना,
कि मधुपी इन सुमनों को चूमती रहें" ॥ ७ ॥

"उसके जन्म पर" शीर्षक कविता में इन्होंने अपने पुत्र के जन्मोत्सव पर ये भाव व्यक्त किये थे—

"ओस-कणों पर जैसे शिशु हंस-माला
रंग भरी रंगी प्रभाती गाती हो।
ज्यों काव्य-कलापों की लोल लहरी पर
केलि करते हों कल्पना-वीचि-विलास ॥ १ ॥
मेरा गृहस्थ-निकुँज त्यों जगमगाने

स्वीय कलापों से, मृदुल उल्लासों से।
नहलाने सत-चित-आनन्द की लहरी—
से, मदीय पतित मद-मोह-चूर्ण आत्मा ॥ २ ॥
स्वर्ग-सुमन! अलख की सुरभी से सुरभित,
अखिलेश की स्वच्छन्द लहरी से लालित।
सती साध्वी के अर्पणों के कुसुम वर
खिलो, खेलो पतिव्रता के सुहाग पर ॥ ३ ॥
वसन्त-शैशवी की सरसता से सजना,
हे शिशु सुमन! सती की मनोरथ-लतिका।
बरसाना शिशु-केलि मय वारिद-माला,
विकल चातक हृदय की प्यास को हरना"॥ ४ ॥

यह प्रसन्नता की बात है कि श्री शम्भुप्रसाद बहुगुणा, एम०ए० ने अपनी 'विराट हृदय' पुस्तक के 'हिमवन्त-पुत्र' शीर्षक परिच्छेद के अन्तर्गत, तथा अपनी 'मानस-मन्दाकिनी' पुस्तक के 'मानस-हंसिनी' शीर्षक परिच्छेद के अन्तर्गत इनकी काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है।

इनके परिवार में पत्नी के अतिरिक्त दो भाई हैं; वे—श्री महिमादत्त चन्दोला व श्री अनुसूयाप्रसाद चन्दोला—इलाहाबाद में सरकारी नौकरियों पर हैं; इनके एकमात्र पुत्र श्री क्रांतिकुमार चंदोला उन्हीं के साथ पढ़ रहे हैं।

(८) श्री तारादत्त गैरोला

(निधन-तिथि—२८ मई, सन १९४० ई०)

"पं० तारादत्त गैरोला का निधन मेरे लिए एक व्यक्तिगत क्षति है, जिसकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। मैं उनको अपना गुरु और हितचिंतक समझता आया हूं। परामर्श, प्रोत्साहन, और सहायता के रूप में उन्होंने

जिस प्रकार मुझे साहित्यिक जीवन में आगे बढ़ाया है, उसके लिए उनके प्रति पूर्ण कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। अध्यात्मिक क्षेत्र में वे एक जगमगाते रत्न थे। उनके ग्रन्थ 'दि साम्स ऑफ़ दादू' का उतना ही मान है, जितना टैगोर के 'हंड्रेड पोयम्स ऑफ़ कबीर' का है। वे गढ़वाल के महर्षि थे। अपने तपोमय जीवन से वे हमारे लिए एक आदर्श छोड़ गये हैं। आज निश्चय ही वे परम शांत के पद में पहुंच गये हैं, परन्तु उनका आदर्श सदैव हमें कर्तव्य-पथ पर प्रेरित करता रहेगा।"

डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने जिन श्री तारादत्त गैरोला के निधन पर उपरोक्त शब्द लैंसडौन की शोक-सभा में कहे थे, उनका जन्म ६ जून, सन् १८७५ ई० को टिहरी-गढ़वाल राज्य की बडयारगड पट्टी के दालढुंग गाँव में हुआ था। इनके पिता का शुभ नाम श्री ज्वालाराम गैरोला था।

स्थानीय स्कूलों में प्रारम्भिक शिक्षा पाने के बाद इन्होंने बरेली कौलेज में अध्ययन किया। वहाँ से सन १८९७ में इन्होंने बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की और कौलेज भर में सर्वप्रथम रहने के कारण 'टम्पलटन'-स्वर्णपदक प्राप्त किया। तदुपरांत ये म्योर सेंट्रल कौलेज, इलाहाबाद चले गये; वहाँ से सन् १८९९ में एम० ए० तथा सन १९०० में ये वकील हाइकोर्ट की परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए।

इस प्रकार शिक्षा और डिग्रियों से सुसज्जित होकर इन्होंने सन १९०१ से देहरादून में वकालत शुरू की। परिश्रमी और अध्यवसायी ये थे ही; इसलिए इनकी प्रैक्टिस चमक उठी और ये एक प्रथम श्रेणी के वकील गिने जाने लगे। देहरादून में वहीं इन्होंने अपने सार्वजनिक व साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ किया। कतिपय उत्साही युवकों के साथ मिलकर इन्होंने १९ अगस्त, सन १९०१ ई० को 'गढ़वाल यूनियन' अथवा 'गढ़वाल-हित-प्रचारिणी सभा' की स्थापना की, और ये उसके मंत्री चुने गये। उसी 'यूनि-

यन' की ओर से मई, सन १६०५ में मासिक 'गढ़वाली' का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। ये उसके सम्पादक-मण्डल के एक सदस्य चुने गये। उन दिनों श्री तारादत्त गैरोला, श्री चंद्रमोहन रतूड़ी और श्री गिरजादत्त नैथाणी की त्रिमूर्ति (ट्रायमवरेट) ने गढ़वाली' और 'गढ़वाल यूनियन' के द्वारा सुधार और जागृति का संदेश सुप्त गढ़-समाज के कानों तक पहुँचाया। ये विभिन्न समस्याओं पर गवेषणापूर्ण लेख लिखा करते थे। बहुत कुछ इन्हीं की योग्यता के कारण उन दिनों 'गढ़वाली' एक प्रथम श्रेणी का पत्र समझा जाने लगा था और उस समय के हिंदी समाचारपत्रों ने उसकी उत्साहवर्धक आलोचना की थी।

इस प्रकार देहरादून में ये अपना निवास-स्थान बना ही चुके थे कि अचानक १५ मई, सन् १६०६ को इनकी माता का देहांत हो गया; और उसके छै दिन बाद ही इनकी प्रथम पत्नी भी स्वर्ग सिधार गईं! इसलिए देहरादून से विदाई लेकर इन्होंने पौड़ी को स्थायी केंद्र बना लिया। इनके पास मुवक्किलों की भरमार रहने लगी और शीघ्र ही इनकी वकालत शिखर पर पहुँच गई। पर अपने मुवक्किलों को सताने या व्यर्थ की मुकदमे-बाज़ी बढ़ाने पर इनका विश्वास नहीं था; ये हमेशा नम्रता की मूर्ति रहे, कम से कम फ़ीस ली और अक्सर यह कोशिश की कि दोनों पक्षों में राज़ीनामा हो जाय।

ये क़ानून के विद्वान थे। विशेषकर कुमाऊँ प्रदेश के क़ानूनों व नियमों के संशोधन कराने तथा उनको लिपिबद्ध (कोडीफ़ाइ) कराने के लिये इन्होंने प्रबल प्रयत्न किया। जिन दिनों ये प्रांतीय कौंसिल के सदस्य थे, उन दिनों कुमाऊँ प्रदेश के माली व स्थानीय क़ानूनों को लिपिबद्ध करने के लिए 'स्टौवल कमेटी' की नियुक्ति की गई; उस समिति के एक सदस्य की हैसियत से इन्होंने महत्वपर्ण कार्य किया। कांग्रेसी मंत्रिमंडल द्वारा सन १६३८ में एक

'कुमाऊँ लौज़-कमेटी' नियुक्त की गई थी; ये एक विशेषज्ञ के रूप में उसके साथ सम्मिलित किए गए थे। इसके अतिरिक्त इनके समय तक कुमाऊँ की अदालतों में माली मुक़दमों पर जो महत्वपूर्ण फैसले हुए थे, इन्होंने परिश्रम के साथ उनका संग्रह किया और गवर्नमेंट ने अपने ख़र्चे पर उन्हें प्रकाशित कराया। उस पुस्तक का नाम है—"सेलेक्टेड लैंड रेवेन्यू डिसीशन्स औफ़ कुमाऊँ"। उस पुस्तक की प्रस्तावना बोर्ड औफ़ रेवेन्यू के तत्कालीन सीनियर मेंबर सर डिग्बी ड्रेकब्रुकमैन ने लिखी है; और वह कुमाऊँ प्रदेश के वकीलों के लिए एक पथ-प्रदर्शिका पुस्तक है।

इनकी बहुमुखी जन-सेवायें

गढ़वाल-आगमन से लगभग सन १६२० तक ये यहां के सार्वजनिक जीवन में सर्वोच्च स्थान को ग्रहण किए रहे। उन दिनों मिण्टो-मौर्ले-सुधारों के अन्तर्गत प्रांतीय कौंसिल के लिये सारे कुमाऊँ प्रान्त से एक ही सदस्य नामज़द किया जाता था। उस पद पर सन १६०६ से सन १६१३ तक महाराज कीर्तिशाह रह चुके थे। उनकी मृत्यु के बाद गवर्नमेंट ने इन्हें नामज़द किया और ये 'औनरेबल' (माननीय) कहलाने लगे। एक ग़ैर-सर्कारी गढ़वाली का उस पद पर नियुक्त होना सारे गढ़वाल के लिये गौरव की बात थी। ये उस पद पर सन १६१४ से सन १६२० तक रहे और वहां इन्होंने बड़ी योग्यता से कार्य किया।

कौंसिल से बाहर ये पौड़ी रहते हुए भी 'गढ़वाल यूनियन' को सहयोग देते रहे तथा 'गढ़वाली' के सम्पादन-कार्य में सहायता देते रहे। बाद में जब गढ़वाल की सब संस्थाएँ मिलाकर 'गढ़वाल सभा' की स्थापना हो गई, तब ये उसके भी सहायक और स्तम्भ बन गये। उन्हीं दिनों कुमाऊँ के तीनों ज़िलों के समान हितों की रक्षा के लिये 'कुमाऊँ परिषद' का जन्म हुआ। उसका प्रथम अधिवेशन

दिसम्बर, सन १९१७ में कोटद्वार में हुआ था; तब ये उसके स्वागताध्यक्ष थे। अगले वर्ष उसका अधिवेशन हल्द्वानी में मनाया गया और ये उसके सभापति चुने गये। उस अवसर पर जनता में इनके प्रति इतना उत्साह था कि जिस गाड़ी पर बैठकर इनका जुलूस निकलने वाला था, लोगों ने उसके घोड़े खोल दिये और स्वयं अपने हाथों से खींच कर उसे सभा-मण्डप तक ले गये !

कुली-बेगार की अमानुषिक प्रथा को मिटाने के लिए ये सतत प्रयत्नशील रहे। इस उद्देश्य से लेखनी व भाषणों से आंदोलन करने के अतिरिक्त इन्होंने श्री जोधसिंह नेगी को 'कुली एजेंसी' की स्थापना में सहयोग दिया तथा उनके चम्पावत परिवर्तित हो जाने के बाद उसका सेक्रेटरी-पद संभाला, जिसे ये कई वर्ष तक योग्यता के साथ निभाते रहे। कौंसिल के अंदर, नम्र स्वभाव होते हुए भी, इस विषय पर इन्होंने 'गरमपंथी' वक्तृता दी। यहां तक कि जब ३० मार्च, सन१९१९ई० को श्रीनगर में प्रथम विश्व-महायुद्ध में विजय-प्राप्ति का तथा उसके साथ ही कुमाऊँ में ब्रिटिश अधिकार के एक सौ वर्ष पूरे होने का 'कुमाऊँ शताब्दी उत्सव' मनाया गया, तब कमिश्नर व ज़िलाधीश आदि उच्च अधिकारियों की उपस्थिति होते हुए भी इन्हें सर्वप्रमुख गैरसर्कारी व्यक्ति होने के नाते उस समारोह का अध्यक्ष चुना गया। लेकिन उस मंच से भी इन्होंने उस प्रथा को ब्रिटिश शासन के लिये कलंक घोषित करते हुए उसके तुरंत समूल उन्मूलन की मांग की ! सुनने वाले स्तब्ध रह गये !!

प्रथम विश्व-महायुद्ध में अधिकांश भारतीय नेताओं की तरह ब्रिटिश सर्कार को सहयोग देने में ही इन्हें भारत की मुक्ति की आशा हुई, अतः इन्होंने सहर्ष सहयोग दिया। ये 'ज़िला युद्ध सहायक समिति' के मन्त्री और 'ज़िला फ़ौजी पत्रिका' (डिस्ट्रिक्ट वार शीट) के सम्पादक नियुक्त किए गए। उसी उपलक्ष्य में इन्हें सन १९१७ में "रायबहादुर" की पदवी प्रदान की

गई । उन्हीं दिनों सन १६१७-१८ का कुख्यात अकाल पड़ा । उस अवसर पर विभिन्न सहायता-समितियों के कार्य को व्यवस्थित करने के लिए एक 'केन्द्रीय अकाल निवारक समिति' स्थापित की गई और ये उसके मन्त्री नियुक्त किए गए । उस पद पर इन्होंने सन १६२० तक कार्य किया और बाद को बचे हुए रुपयों के सदुपयोग के लिए एक स्थायी 'फ़ेमीन रिलीफ़ कमेटी' बनवा दी । ये स्वयं मृत्युपर्यन्त उस कमेटी के सदस्य रहे और वह अब भी विद्यमान है । अकाल-सहायता-सम्बन्धी कार्यों के लिए गवर्नमेंट ने इन्हें 'क़ैसरे-हिंद' पदक प्रदान किया ।

शिक्षा-प्रसार के हर कार्य में ये सहयोग देते थे । लेकिन इस दिशा में इनका सबसे बड़ा कार्य 'श्री चंद्रबल्लभ स्मारक छात्रवृत्ति ट्रस्ट' की स्थापना कराना था । इस ट्रस्ट की सन १६४० की रिपोर्ट में लिखा गया है कि—"गैरोला जी का शुरू से ही इस ट्रस्ट से बड़ा घना सम्बन्ध रहा है । उसकी व्यवस्था और नियम बनाने में उनका बहुत बड़ा हाथ था । यदि इस कोष के दानी रायबहादुर पं० घनानन्द खंडूड़ी को पं० तारादत्त जी दूसरी सलाह देते, तो यह सम्भव था कि बजाय छात्र-वृत्ति-वितरण-संस्था के यह ट्रस्ट कोई अन्य रूप धारण करता । सम्भव था कि यह स्मारक अस्पताल का रूप धारण कर लेता । इस ट्रस्ट के सन् १६२१ में स्थापित होने से सन १६३३ तक वे इसके सेक्रेटरी रहे ।"

लेकिन सन १६२० के बाद सारे देश की तरह गढ़वाल में भी उग्र राजनीति की बाढ़ आ गई, उसमें इन्होंने अपने आपको अनुकूल वातावरण में नहीं पाया । जब तक 'नामज़दगी' और 'विशेषज्ञता' की प्रणाली प्रचलित थी, तब तक ये गढ़वाल ही नहीं बल्कि सारे कुमाऊँ प्रान्त में अग्रणी रहे; लेकिन जब उग्र राजनीति के साथ-साथ सार्वजनिक चुनावों का युग आया तब इन्हें सफलता नहीं मिल पाई । उदाहरणस्वरूप, ये सन १६१४ से कौंसिल के सदस्य

चले आ रहे थे; लेकिन सन १९२० के आम निर्वाचन में इन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। फिर भी अपने ढंग से अन्त तक ये कार्यक्षेत्र में डटे रहे।

मन्दिरों के सुधार में ये सतत प्रयत्नशील रहे। तत्सम्बन्धी साहित्य का गहरा अध्ययन करने के कारण ये उस विषय के एक विशेषज्ञ बन गये थे। इसीलिए गवर्नमेंट इस बारे में इनकी राय लेती रहती थी। श्री बद्रीनाथ मंदिर सुधार के भी ये प्रबल पक्षपाती थे। सन १९३९ में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल ने इस विषय पर जो क़ानून बनाया वह बहुत कुछ इन्हीं के 'ड्राफ़्ट' पर आधारित था, और उस क़ानून के बन जाने पर इन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई थी।

जंगलों के प्रबन्ध व विकास के सम्बन्ध में भी ये एक विशेषज्ञ माने जाते थे। इसीलिए 'कुमाऊँ फ़ौरेस्ट कमेटी' की स्थापना से मृत्यु पर्यन्त ये उसके सदस्य रहे। पंचायती जंगलों के ये बहुत क़ायल थे; इन पञ्चायतों का प्रसार करने के लिए इन्होंने शासन पर बहुत ज़ोर डाला; यह कहा जाता है कि इस विषय पर आजकल जो विधान व नियमावली चालू है वह इन्हीं की तैयार की हुई है।

टिहरी-गढ़वाल-राज्य के ये पूरे सहायक थे। महाराज कीर्तिशाह से बरेली के विद्यार्थी-जीवन में इनका अच्छा परिचय हो गया था; वे इन्हें बहुत मानते थे और इसीलिए उन्होंने इन्हें अपने राज्य का क़ानूनी सलाहकार नियुक्त किया। उस पद पर ये लगभग १५ वर्ष तक कार्य करते रहे। लेकिन राज्य-शक्ति के प्रति आस्था रखते हुए भी ये प्रजा-हित के पक्षपाती थे और अन्याय व अत्याचार का विरोध करने से नहीं हिचकते थे। उदाहरण-स्वरूप, कुख्यात रंवाई गोली-कांड के सिलसिले में इन्होंने प्रजा-पक्ष का प्रबल समर्थन किया। उस अवसर पर निरीह व मूक प्रजा का समर्थन करने के कारण इन पर स्वयं मानहानि का मुक़दमा चल

गया था; लेकिन इन्होंने साहस व योग्यता के साथ परिस्थिति का मुक़ाबला किया और हाइकोर्ट से बरी हो गये।

ग्रामों के विकास, विशेष कर फल-फूल, शाक-सब्ज़ी आदि के प्रति, इन्हें शुरू से ही आकर्षण था। पौड़ी से ढाई मील दूर कफल-सैण में एक विस्तृत जंगल व सुन्दर बाग़ीचा लगाकर इन्होंने जनता का व्यवहारिक पथ-प्रदर्शन किया। इनके इसी ज्ञान के कारण सन १६३५ में ये ज़िला फल-उत्पादक संघ के मंत्री नियुक्त किये गये और उस हैसियत से कई वर्षों तक उत्साहपूर्वक इन्होंने कार्य किया। सन १६३८ में नवीन ग्राम-सुधार योजना के अन्तर्गत कांग्रेसी मंत्रिमण्डल ने इन्हें 'ज़िला ग्राम-सुधार एसोसियेशन' का चेयरमैन मनोनीत किया; लेकिन कतिपय कारणों से इन्होंने शीघ्र ही अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

श्रीनगर के प्रति इन्हें गहरा स्नेह था। इनकी इच्छा थी कि इस उजड़ी हुई राजधानी को फिर उन्नत किया जाय। गंगा-तट पर एक सुन्दर बाटिका और बंगला बनाकर इन्होंने अपनी कल्पना को व्यावहारिक स्वरूप दिया। उसके बाद जब वहाँ टाउन एरिया कमेटी की स्थापना हुई, तब ये उसके सर्वप्रथम चेयरमैन चुने गये और सन १६२६ से सन १६३४ तक उस पद पर रहे। उस पद से वहाँ की सुन्दरता व सुविधा में वृद्धि करने की इन्होंने पूरी कोशिश की।

इनकी साहित्य--सेवा

लेकिन इनके सार्वजनिक जीवन से भी इनका साहित्यिक जीवन महानतर है। वैसे तो ये शुरू से ही हिंदी व अंग्रेज़ी पत्रों के लेखक थे और 'गढ़वाली' के सम्पादन के द्वारा काफ़ी कार्य कर चुके थे, तथापि सन १६२० के बाद जब सार्वजनिक जीवन का भार कुछ हल्का हुआ, तब इन्होंने इस ओर विशेष ध्यान दिया।

इनकी प्रकाशित पुस्तकों में से 'सदेई' गढ़वाली भाषा का एक उच्च कोटि का करुणा-रस-प्रधान काव्य है; उसमें ५ परिच्छेद और १२५ श्लोक हैं। इस पुस्तक के सम्बन्ध में श्री गिरिजादत्त नैथाणी ने लिखा था—"इस पुस्तक में पण्डित जी ने मातृभूमि-प्रेम की पराकाष्ठा, भक्तिभाव का अतिरेक, भाई-बहिन की अगाध प्रीति, माता के वात्सल्य का उत्कृष्ट नमूना, ऐसी मार्मिक भाषा में व्यक्त किया है कि बड़े से बड़ा निष्ठुर प्राणी या अबोध बालक भी बिना आंसू बहाये पुस्तक आद्योपान्त नहीं पढ़ सकेगा। मैं ने अपने आठ वर्ष के बालक को यह पुस्तक सुनाई; सुनते ही उसकी आंखों से आँसुओं की झड़ी लग गई।" वास्तव में इन्होंने वर्तमान ग्राम-गीत को संशोधित करके उसमें नये प्राण भर दिये हैं। उसकी निम्नलिखित पंक्तियाँ गढ़वाल के गीत-साहित्य की एक अमर निधि बन गई हैं। कहते हैं कि इन्हें एक बार मसूरी में सुनकर महामना मालवीय जी की आँखों में आँसू भर आये थे—

"हे ऊँची डांड्यो, तुम नीसि जावा,
घणी कुलायो, तुम छांटि होवा।
मीं कू लगीं छ खुद मैतुड़ा की;
बाबा जि को देखण देश देवा॥"

इस पद के सम्बन्ध में श्री गिरिजादत्त नैथाणी ने 'पुरुषार्थ' में लिखा था—"ईसा मसीह के 'सच्चे विश्वास' की परीक्षा में जैसे पहाड़ इधर से उधर हो जाता है, मातृभूमि की सच्ची प्रेम-परीक्षा में भी ऊँची पहाड़ियों का ज़मीन की तरह बैठ जाना, पेड़ों का दृष्टि-पथ से हट जाना, असंभव नहीं। हम जैसे प्रेम और विश्वास-शून्य हृदय के लोग भी इतना तो अवश्य ही मान जाते हैं कि सच्चे प्रेम-पथिक के मार्ग में अग्नि का प्रचंड पहाड़ भी बाधा नहीं डाल सकता और सच्चे विश्वासी मनुष्य को पत्थर में भी परमेश्वर मिल जाता है। मातृ-भूमि के प्रेम में इससे अधिक मस्ताना

गीत नहीं बन सकता।"

इनकी दूसरी प्रकाशित पुस्तक 'गढ़वाली कवितावली' है। इसमें इन्होंने 'गढ़वाली' में समय-समय पर प्रकाशित गढ़वाली भाषा की कविताओं का सम्पादन किया है। इस पुस्तक में स्वयं इनकी पांच गढ़वाली कवितायें व गीत हैं—'आरती' इनके श्रद्धालु हृदय का उद्‌गार है; 'झुमैलो' में सदेई अपने 'मैत' की याद करके प्रकृति का वर्णन करती है; 'जीतू' में अपनी माता की शिक्षा के विरुद्ध वह 'छामा चौंरुड़ी' में जाता है और वहाँ 'अछरियों' द्वारा 'हर' लिया जाता है; 'मेरी लाड़ली' में एक मातृ-हृदय के करुणा-पूर्ण उद्‌गार हैं, जब कि वह सुबह उठकर रात में सोई अपनी पुत्री को अकस्मात् सांप से डंसा मरा हुआ पाती है; और 'फ्यूंली रौतेली' में सौरीकोट की एक सुन्दर नाग-कन्या का भूपति रौतेला से प्रेम-परिचय होता है—इस अन्तिम कविता में गढ़वाली ग्राम-साहित्य की सब उत्कृष्ट उपमाओं का समावेश किया गया है।

अंग्रेज़ी में इनकी प्रकाशित पुस्तकों में से 'दि साम्स औफ़ दादू' का बड़ा नाम है। इस पुस्तक में इन्होंने हिंदी के सुप्रसिद्ध भक्त-कवि दादूदयाल की वाणियों का सरल मुहावरेदार अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है। सुप्रसिद्ध भारत-सेविका डा० एनी बीसेंट ने उसकी प्रस्तावना लिखी है तथा हालैंड की डच भाषा में भी उसका अनुवाद हो चुका है। इस लेख के प्रारम्भ में डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल का जो उद्धरण दिया गया है उसमें उन्होंने इस पुस्तक को डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर की प्रसिद्ध पुस्तक 'हंड्रेड पोयम्स औफ़ कबीर' के बराबर महत्व दिया है। डा० बड़थ्वाल स्वयं संत-साहित्य के विशेषज्ञ थे; अतः उनकी सम्मति इस संबंध में बड़ी मूल्यवान है।

अंग्रेज़ी भाषा में इनकी दूसरी पुस्तक 'हिमालयन फ़ोकलोर' है। इन्हें विद्यार्थी-जीवन से ही दंत-कथाओं के प्रति आकर्षण था। फर्वरी, सन १६०६ के 'गढ़वाली' में इन्होंने लिखा था कि—"जब मैं

म्यूअर सेंट्रल कालेज में पढ़ता था, मैं ने एक रोज़ अपने प्रोफेसर जेनिंग साहब को अपने देश की एक-दो भड़वाली सुनाईं। उक्त प्रोफेसर साहब, जो स्वयं कवि हैं, उनको सुनकर बहुत आनंदित और अचम्भित हुए और कहने लगे—'यह तो बिल्कुल होमर के 'ईलियड' की कहानियां हैं। तुम्हारे देश में कहां से गई हैं ?' उनको ये कहानियां सुन कर बड़ा शौक़ पैदा हुआ और उन्होंने मुझे उपदेश दिया कि इन सब कहानियों को संग्रह कर प्रकाशित करो। अगर 'क्रौनिकल्स औफ़ इंगलैंड' न होते तो शेक्सपियर कवि के अद्भुत नाटक भी न होते। और यूनान में कहानियों का प्राचीन संग्रह न होता तो होमर से 'ईलियड' भी न होता।" अतः ये तभी से उस कार्य पर जुट गए। अपनी युवावस्था की अनेक बहुमूल्य रातें इन्होंने 'जागरियों' और 'हुड़कियों' के गीत सुनने और 'नोट्स' लेने में बिताईं; इसीलिए ग्राम-गीतों, पंवाड़ों तथा दन्तकथाओं का इनके पास बहुमूल्य संग्रह हो गया।

इनसे पहिले मि० ट्रेल ने 'जरनल औफ़ दि रौयल एशियाटिक सोसाइटी' में प्रकाशित अपने कुछ लेखों में इन पंवाड़ों और दन्तकथाओं का विवरण दिया था। उनकी सन् १८२३ ई० की बन्दोबस्ती रिपोर्ट में भी इनका कुछ उल्लेख मिलता है। उनके बाद सन् १८८४ में मि० एटकिनसन ने अपने प्रसिद्ध गज़ेटियर में इन पर कुछ प्रकाश डाला। तदुपरान्त अल्मोड़ा के श्री गंगादत्त उप्रेती ने इस दिशा में कार्य किया और अपनी पुस्तक 'दि फ़ोकलोर औफ़ कुमाऊं' प्रकाशित की। अल्मोड़ा के ही सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ मिशनरी रेवरेंड ई० एस० ओकली को श्री उप्रेती का संग्रह मिल गया था और स्वयं उन्होंने भी अच्छा संग्रह कर लिया था। उन्होंने वह सब मसाला इन्हें दे दिया और इन्होंने उनकी व अपनी सब सामग्री की छानबीन कर के 'हिमालयन फ़ोकलोर' पुस्तक की रचना की। इसमें इन्होंने ३२ अपनी और ६५ रेवरेंड ओकली के

संग्रह से कथायें दी हैं; इनकी अपनी ३२ दन्त-कथाओं में से २८ पंवाड़े (वीर-गाथायें) हैं। इस पुस्तक की प्रस्तावना में इन्होंने उस वीर-गाथा-काल के गढ़वाल की राजनैतिक व सामाजिक परिस्थिति पर भी प्रकाश डाला है। इसे गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद ने सरकारी तौर पर प्रकाशित किया था।

इनकी अप्रकाशित पुस्तकों में से 'ग्लिम्पसेज़ इन्टु दि हिस्ट्री ऑफ़ गढ़वाल' सब से महत्वपूर्ण है; गढ़वाल के इतिहास पर अपने गम्भीर और विस्तृत अध्ययन का निचोड़ इन्होंने इस पुस्तक में रख दिया है। इस पुस्तक के दो परिच्छेद इन्होंने गढ़वाल साहित्य परिषद् के अधिवेशनों में पढ़े भी थे—(१) 'गढ़वाल के आदिम निवासी, इसमें इन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि यहां के मूल निवासी, 'खसिया' लोग हैं, 'डोम' नहीं; जैसा कि मि० एटकिनसन तथा अन्य इतिहास-लेखकों ने माना है; (२) 'गढ़वाल में गोरखा-शासन' वैसा खराब नहीं था जैसा कि 'गोरख्याणी' शब्द तथा अंग्रेज लेखकों द्वारा चित्रित किया गया है; इनकी सम्मति में चूंकि अंग्रेज़ अधिकारी जनता पर अपने शासन का प्रभाव जमाना चाहते थे, इसलिये उन्होंने जान-बूझकर उसे बुरे से बुरे रंगों में रंगा है।

इन्होंने हिमालय प्रदेश के तंत्र-शास्त्र का भी खूब गहरा अध्ययन किया था; और उसके आधार पर 'हिमालयन मैजिक' नाम से एक पुस्तक अंग्रेज़ी में तैयार की थी, लेकिन यह पुस्तक भी अप्रकाशित ही रह गई।

ये श्री चन्द्रमोहन रतूड़ी के बड़े प्रशंसक थे और उन्हें एक आदर्श कवि, लेखक व विचारक मानते थे। उनके जीवन की घटनाओं और पत्रों का संकलन इन्होंने अपनी अंग्रेज़ी भाषा की पुस्तक 'लाइफ़ ऐण्ड ल्यटर्स ऑफ़ ए गढ़वाली पेट्रिअट' (एक गढ़वाली देशभक्त की जीवनी और पत्र) में किया है; यह पुस्तक

भी प्रकाशित नहीं हो पाई।

उपरोक्त पुस्तकों के अतिरिक्त इनके पास और बहुत सी मूल्यवान सामग्री थी, जिसकी सहायता से कई पुस्तकों का मसाला तैयार किया जा सकता था। ये साहित्यिक रुचि रखने वाले व्यक्तियों को सहर्ष अपना संग्रह दिखलाते थे और उन्हें प्रोत्साहित करते रहते थे। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल को इन्होंने बहुत सहायता पहुँचाई थी, जिसे उन्होंने स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है। साथ ही जब सन १६३७ में कतिपय साहित्य-प्रेमी युवकों ने 'गढ़वाल साहित्य परिषद' की स्थापना की, तब इन्होंने उसे अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया और अन्त समय तक उस के स्थायी सहायक व पष्ठ-पोपक रहे।

अन्तिम यात्रा तथा चरित्र-विश्लेषण

इस प्रकार इनकी प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी, लेकिन इनका जीवन बड़े कष्ट में बीता। लगभग ३६ वर्ष की आयु में इन्हें बात-व्याधि (गठिया) ने पीड़ा देना शुरू की और लगभग ३० वर्ष तक ये उस भयंकर रोग से साहसपूर्वक संघर्ष करते रहे। इनका कष्ट इसलिये और भी अधिक बढ़ गया था, क्योंकि ये औषधियों पर विश्वास नहीं करते थे। प्राकृतिक चिकित्सा पर इनका अटल विश्वास था। उस रोग को दूर करने के लिये एक बार इन्होंने जल-चिकित्सा का आश्रय लिया; एक बार लगातार लगभग १२ वर्ष तक इन्होंने नमक का सेवन नहीं किया ! लेकिन बीमारी बढ़ती ही चली गई और अन्तिम दस वर्षों में तो उसने और भी कष्टप्रद स्वरूप धारण कर लिया था।

आखिर वह निश्चित घड़ी आ पहुँची। २७ मई, सन १६४० ई० की आधी रात में नींद खुली। इन्होंने सब परिवार वालों को बुलाकर चाय पी तथा अपने प्रिय दादू का निम्न लिखित पद धीरे-धीरे

अस्पष्ट स्वरों में गाया—

"बटाऊ रे चलना आजि कि कालि।
समुझि न देखै, कहां सुख सोवै, रे मन राम संभालि।
जैसे तरवर विरस बसेरा, पंखी बैठे आइ।
ऐसे यहु सब हाट पसारा आप आप कौं जाइ॥
कोइ नहिं तेरा सजन संगाती जिन खोवे मन भूल।
यहु समार देखि जिन भूलैं सबही सेंवल फूल॥
तन नहिं तेरा धन नहिं तेरा कहा रह्यो इहि लागि।
दादू हरि बिन क्यों सुख सोवै काहे न देखे जागि॥
बटाऊ रे चलना आजि कि कालि॥"

इसी आशय की अन्तिम मुग़ल सम्राट बहादुरशाह की रची हुई एक उर्दू ग़ज़ल भी इन्होंने गुनगुनाई और फिर कहा—"स्थिर और शान्त!" बस, इन शब्दों के साथ ही इनकी आँखें सदा के लिए मुंद गईं!!

देहावसान के समय इनके मुख पर ये शब्द थे—"स्थिर और शान्त!" और देखा जाय तो ये ही दो शब्द इनके जीवन की आधार शिलाएँ थीं। अध्यवसाय की मात्रा इनमें अत्यधिक थी; इस दिशा में इन्होंने वह कर दिखलाया जो साधारण मानवों के लिए असंभव है। रात बहुत कम सोना, कुछ घंटे ईश्वराराधना में लगाना और शेष सारा समय दिमाग़ी तथा साहित्यिक कार्यों पर जुटे रहना--यह इनकी दिनचर्या थी। इसी अध्यवसाय के कारण ये अपने सार्वजनिक जीवन के पूर्वार्ध में एक साथ कई संस्थाओं का संचालन कर लेते थे। महाराष्ट्रियों की तरह संस्थाओं को चलाने तथा उनके लिए अपना जीवन खपा देने की इनमें आदत थी।

अध्यवसाय के साथ-साथ इनमें सिद्धांतों की स्थिरता थी। उस 'स्थिरता' (कनसिस्टेन्सी) के पीछे 'अविचलता' का एक और गुण इनमें था। जिस बात पर ये एक बार विश्वास कर लेते थे,

फिर चाहे वह गवर्नमेंट, राजा या स्वयं जनता की इच्छा के ही विरुद्ध क्यों न हो, ये टससे मस न होते थे ! ये अपनी बात पर ध्रुव नक्षत्र की तरह अटल रहते थे और बिना किसी भय या ममता के (विद्आउट फ़ियर और फेवर) ये अपने विचार प्रकट कर देते थे। ऐसे अवसरों पर शांति व साहस के साथ सार्वजनिक रोष का मुक़ाबला करने तक के लिए ये तैयार हो जाते थे; साथ ही कठिन से कठिन विरोध के समय भी ये शांत रहते थे।

अपने प्रतिद्वन्द्वियों के प्रति इन्होंने हमेशा उदारता और सहनशीलता का व्यवहार किया। श्री जोधसिंह नेगी से खुले चुनाव में हार जाने के बाद भी इनका भाईचारा पूर्ववत जारी रहा; और जब उनकी मृत्यु के बाद पौड़ी में शोक-सभा हुई, तब इन्होंने उनके व्यक्तित्व के प्रति अपनी श्रद्धा और आदर के भाव प्रदर्शित किये। श्री मुकन्दीलाल के साथ इनका मतभेद रहा; लेकिन उन्होंने स्वयं लिखा है—"राजनैतिक मतभेद रखते हुए और चुनाव में एक-दूसरे के विरुद्ध होते हुए भी किस तरह देश के शुभचिंतक परस्पर मैत्री रख सकते हैं—इसका दीप्तिमान उदाहरण वे थे।" 'सरोला सभा' के प्रश्न को लेकर श्री चन्द्रमोहन रतूड़ी व श्री गिरिजादत्त नैथाणी से इनका खुला वाद-विवाद हुआ, लेकिन वे दोनों इनके सर्वोत्तम मित्रों में से रहे। श्री गिरिजादत्त नैथाणी ने स्वयं लिखा है—

"जिन दिनों मैं 'गढ़वाली' का सम्पादक था, मैं देहरादून में पं० तारादत्त जी के वासस्थान पर उनके ही आश्रय में रहता था। मैं उनका अतिथि बनकर, उनकी रसोई में उनके अन्न को जीमता हुआ, महीनों वहां पड़ा रहता। उनके दफ़्तर में उन्हीं की स्टेशनरी से उनकी 'सरोला-सभा' की कड़ी आलोचना करता और पंडित जी के विरुद्ध लेख लिखकर 'गढ़वाली में छपवाता रहता था। यदि कोई दूसरा होता तो अपने वासस्थान ही से नहीं, बल्कि गढ़वाली

की सम्पादकता से भी मुझे अलग कर देता, पर वे पं० तारादत्त जी ही थे जिनके चेहरे पर भी कभी इस विरोध-भाव का असर पड़ा हुआ नजर न आया !"

ये अपने पीछे अपना भरापूरा परिवार छोड़ गये हैं। ज्येष्ठ पुत्र श्री रमेशचन्द्र का मार्च, सन १९४१ में देहांत हो चुका है। दूसरे पुत्र श्री रवीन्द्रचन्द्र पौड़ी में वकालत करते हैं और साहित्य के प्रेमी युवक हैं। तीसरे पुत्र श्री शेखरानन्द, एम० एस-सी०, फ़ौज के सिगनेल विभाग में लेफ़्टनेन्ट-कर्नल हैं। चौथे पुत्र श्री गोविन्द-बल्लभ, बी० ए० भी फौजी तोपखाने में लेफ़्टनैंट हैं। पांचवें पुत्र श्री कृष्णचन्द्र, देहरादून के फौजी स्कूल में सामुद्रिक सेना की शिक्षा पा रहे हैं। यह आशा है कि इनके सुशिक्षित पुत्र अपने दिवंगत पिता की अप्रकाशित पुस्तकों को—जिन्हें ये अपना 'मानस-पुत्र' (इन्टेलेक्चुअल चिल्डरन) कहा करते थे—शीघ्र प्रकाशित करायेंगे, ताकि साहित्य-भंडार की श्रीवृद्धि हो, और इनकी आत्मा को स्वर्ग में शांति प्राप्त हो।

---

(६) श्री कलमसिंह नेगी

(निधन-तिथि—९ सितम्बर, सन १९४२ ई०)

"The Council of the Servants of India Society places on record its deep sense of loss at the untimely death of Mr. Kalam Singh Negi. During his ten years of membership of the Society, Mr. Negi had to his credit solid public service in the fields of Harijan uplift and rural reconstruction. His sincerity, devotion to duty and self-effacement struck every one who came

into contaet with him. His death has cut short a public career of considerable promise and much usefulness."

"भारत-सेवक-समिति की कार्यसमिति श्री कलमसिंह नेगी के असामयिक निधन पर हानि की अपनी गहरी भावना को अंकित करती है। समिति की दस वर्ष की सदस्यता के दौरान में, श्री नेगी ने हरिजन उद्धार और ग्राम-पुनर्निर्माण के क्षेत्रों में ठोस सार्वजनिक सेवा करके यश प्राप्त किया था। जो उनके सम्पर्क में आया वह उनकी सच्चाई, कर्तव्य-परायणता और आत्म-बलिदान से अवश्य प्रभावित हुआ। उनके निधन से अधिक आशाओं तथा बहुत उपयोगिता वाला एक सार्वजनिक जीवन बीच में ही समाप्त हो गया है।"

जिन श्री कलम सिंह नेगी की अकाल मृत्यु पर भारत सेवक समिति ने उपरोक्त शोक-प्रस्ताव स्वीकार किया था, उनका जन्म पट्टी मौंदाड़स्यूँ के ईड़ा ग्राम में १० अगस्त, सन १६०६ ई० को हुआ था। इनके पिता श्री भूपाल सिंह नेगी का इनके बचपन में ही देहान्त हो गया था; अतः माता ने ही इनका पालन-पोषण किया और फिर इनके मामा श्री हरेन्द्र सिंह रावत, भूतपूर्व अध्यक्ष, ज़िला बोर्ड की सहायता से इन्हें शिक्षा दिलाई। बड़खोलू (पट्टी मन्यारस्यूं) के श्री जयकृत सिंह विष्ट, अवकाश-प्राप्त कमिश्नर, इनके फुफेरे भाई थे; उन्होंने भी इन्हें सहायता दी।

इस प्रकार सन १६२४ में बलवन्त राजपूत कौलेज आगरा से इन्होंने हाइ स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की। फिर सन १६२८ में ये बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और सन १६३० में लखनऊ विश्वविद्यालय से इतिहास का विषय लेकर ये एम० ए० हुए और अपना विद्याध्ययन समाप्त किया। विद्यार्थी-जीवन में ये एक शान्त व परिश्रमी छात्र थे तथा सर्वदा अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण होते रहे।

माता-पिता के ये एकमात्र पुत्र थे; अतः सब की स्वाभाविक इच्छा थी कि ये सर्कारी नौकरी कर लें और वह इन्हें आसानी से मिल भी जाती; लेकिन इन्हें तो विद्यार्थी-जीवन से ही जनता-जनार्दन की सेवा करने की लौ लग गई थी। इन्होंने उसी दिशा को अपनाया। कुछ दिनों इन्होंने जहरीखाल में खादी व राष्ट्रीय साहित्य की एक दूकान चलाई; लेकिन फिर उसे देहरादून ले जाना पड़ा। दो-तीन वर्ष इस प्रकार की कठिनाइयों से संघर्ष करने के बाद ये इलाहाबाद डा० हृदयनाथ कुंजरू के पास गये। वे भारत भर के एक उच्च विद्वान राज-नीतिज्ञ हैं और आजकल भारत-सेवक-समिति के स्थायी प्रधान हैं। उन दिनों वे समिति की उत्तर-भारतीय शाखा के प्रधान थे। वे इनकी योग्यता और लगन को देखकर खूब प्रभावित हुए और इन्हें समिति का आजीवन सदस्य नियुक्त कर दिया।

वह समिति सन १६०५ में भारत-प्रसिद्ध श्री गोपाल कृष्ण गोखले द्वारा स्थापित की गई थी; पूना में उसका मुख्य केन्द्र है; और उसका उद्देश्य है कि भारत की सेवा के लिए आत्मोत्सर्ग की भावना वाले युवकों को शिक्षित किया जाय और उन्हें आर्थिक निश्चिन्तता प्रदान करके भारत के उत्थान में प्रवृत्त किया जाय। इसमें प्रविष्ट होने वाले प्रत्येक नए सदस्य को तीन वर्ष तक किसी 'सीनियर मेम्बर' के साथ काम सीखना पड़ता है, और फिर यदि उसे स्वीकृत कर लिया गया तो उसे कम से कम बीस वर्ष तक अपना जीवन समिति के सिपुर्द कर देना होता है। इस प्रकार स्थायी सदस्य हो जाने के बाद वह भारत के किसी भी भाग में किसी एक विषय को लेकर कार्य प्रारम्भ करता है तथा समिति उसे हर प्रकार का सहयोग और निश्चित मासिक भत्ता प्रदान करती है। इस संस्था में श्री गोखले, श्री श्रीनिवास शास्त्री व श्री ठक्कर बापा सरीखी दिवंगत विभूतियों के सिवाय इस समय डा० हृदयनाथ कुंजरू, श्री एन०

एम० जोशी, श्री श्रीराम बाजपेई व श्री ए० डी० मणि सरीखे दिग्गज महानुभाव कार्य कर रहे हैं। जब महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे थे, तब उन्होंने स्वयं इस समिति का आजीवन सदस्य बनने की इच्छा प्रकट की थी ! इसी एक बात से इस संस्था का महत्व सिद्ध होता है।

सन १६३३ में ये भारत-सेवक-समिति में प्रविष्ट हुए और मृत्यु-पर्यन्त उसी पद पर कार्य करते रहे। उस सदस्यता के कारण जहां एक ओर इन्हें आर्थिक निश्चिन्तता प्राप्त हुई, वहाँ दूसरी ओर विद्वान व कर्मठ लोक-सेवकों के निकटतम सम्पर्क में आने तथा देश की विभिन्न समस्याओं का गहरा अध्ययन करने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। अस्थायी सदस्यता के तीन वर्ष इन्होंने इलाहाबाद में बिताये और डा० हृदयनाथ कुंजरू की संरक्षता में कार्य करते रहे। सन १६३६ में इन्हें समिति ने अपना स्थायी सदस्य बना लिया; फिर भी ये लगभग एक वर्ष तक इलाहाबाद ही में रहे।

सन १६३७ में इन्होंने मुरादाबाद को अपना कार्यक्षेत्र छाँटा और वहां के मजदूरों के संगठन में सफलता पाई। अभी ये वहाँ अपना कार्य जमा ही रहे थे कि समिति के लिए लखनऊ में एक सदस्य को रखना अनिवार्य हो गया; अतः लगभग एक वर्ष बाद ये वहां चले गये। वहां भी इन्होंने मजदूर-संगठन की ओर ही विशेष ध्यान दिया। सन १६४० के प्रारम्भ में ये गढ़वाल आ गये और कोटद्वार में इन्होंने ग्राम-पुनर्निर्माण का केन्द्र स्थापित किया; और फिर मृत्यु-पर्यन्त यहीं रहे।

समिति के सदस्य के रूप में

इनका मुख्य कार्यक्षेत्र भारत-सेवक-समिति की सदस्यता के अंतर्गत आ जाता है। उस कार्य को करते हुए इन्हें भारत के विभिन्न भागों को देखने तथा विशिष्ट व्यक्तियों से मिलने का

अवसर मिला। समय-समय के इन भ्रमणों के अतिरिक्त वर्ष भर में एक वार जून के महीने में समिति की वार्षिक बैठक पूना में हुआ करती थी। उस अवसर पर देश भर के विभिन्न केन्द्रों में सेवा-कार्य करने वाले सदस्यों के साथ अनुभवों के आदान-प्रदान करने तथा विचार-विनिमय करने का इन्हें पूरा अवसर मिलता था।

इलाहाबाद के चार वर्षों के जीवन में इन्होंने संयुक्त प्रान्तीय हरिजन-सेवक-संघ के संयुक्त मंत्री के पद पर कार्य किया। उन दिनों इन्हें प्रांत के अनेक ज़िलों का दौरा करना पड़ा; साथ ही संघ के केन्द्रीय कार्यालय की देखभाल भी करनी पड़ी। सन १९३३ में महात्मा गांधी ने हरिजन-सेवा-कार्य को प्रगति देने के लिए संयुक्त प्रांत का दौरा किया; उसका प्रबन्ध करने में इनका विशेष हाथ था। मई, सन १९३६ में उसी हैसियत से अखिल भारतीय हरिजन-सेवक संघ के प्रधान मन्त्री श्री ठक्कर बापा के साथ इन्होंने गढ़वाल का दौरा किया; उस अवसर पर इन्होंने एक सप्ताह तक कोटद्वार, दुगड्डा, डाडामंडी व पलायन-ढौंटियाल आदि स्थानों पर आम सभाएँ कराईं, तथा गढ़वाल में हरिजन-सेवा कार्य को पुनर्संगठित किया।

इलाहाबाद के प्रवास में इन्होंने अखिल भारतीय सेवा-समिति व बालचर-संस्था के कार्यों में भी सहयोग दिया; विशेषकर इलाहाबाद माघ मेला, हरिद्वार कुम्भ मेला और स्काउट जम्बूरियों में इन्होंने बड़ा भाग लिया और सेवा-संचालन में सहायता दी। सन-१९३४ में इन्होंने बिहार जाकर भूकम्प-पीड़ितों की सहायता का कार्य किया। उन दिनों इन्हें डा० हृदयनाथ कुंजरू के सहकारी का कार्य भी करना पड़ा। वे उन दिनों 'कौंसिल ऑफ स्टेट' के सदस्य थे (और अब भी हैं); ये उनके साथ कौंसिल की बैठकों के अवसर पर दिल्ली रहा करते थे। डा० कुंजरू एक उच्च कोटि के

विद्वान राजनीति-वेत्ता माने जाते हैं; विशेषकर रक्षा तथा वित्त सम्बन्धी उनके भाषणों की बहुत क़द्र है। कहना न होगा कि उन दिनों उनके लिए आँकड़े व अन्य आवश्यक सामग्री एकत्र करने के लिए इन्हें सर्कारी रिपोर्टों तथा अन्य पुस्तकों की अनवरत छानबीन करनी पड़ती थी। इसलिये तथा स्वयं अपनी अध्ययनशीलता के कारण इन्होंने सार्वजनिक प्रश्नों पर सुलझे हुए स्पष्ट विचार प्रकट करने की अपनी योग्यता और भी अधिक बढ़ा ली।

मुरादाबाद के लगभग एक वर्ष के कार्य-काल में इन्होंने रेलवे तथा क़लई-बर्तन-व्यवसाय के मज़दूरों का अच्छा संगठन किया। इन्हें विशेषकर क़लई-व्यवसाय के क्षेत्र में काफी सफलता मिली। उससे पहिले उस व्यवसाय के मज़दूरों का जीवन कठिन, कार्य दुरूह, समय अनिश्चित और वेतन असन्तोष-जनक था। इनके उद्योग से अपना संगठन करके उन्होंने मालिकों के समक्ष संयुक्त रूप में अपनी माँगें पेश कीं और उनके अस्वीकृत हो जाने पर सामूहिक हड़ताल कर दी। अपने ढंग की वह पहिली हड़ताल थी और इन्होंने उसका योग्यतापूर्वक संगठन किया; अतः कई दिनों की हड़-ताल के बाद मालिकों ने मज़दूरों की अधिकाँश मांगें स्वीकार कर लीं; फलस्वरूप उनकी स्थिति में बहुत कुछ सुधार हो गया। आज भी मुरादाबाद के क़लई-मज़दूर इनका नाम श्रद्धा और कृतज्ञता के साथ लिया करते हैं।

लखनऊ के लगभग दो वर्ष के कार्य-काल में इन्हें मुख्य-तया वहां स्थित समिति के कई कार्य देखने पड़े, लेकिन वहां भी अपनी रुचि के कारण इन्होंने वहां के मज़दूर-कार्यकर्ताओं को ठोस सहयोग दिया।

गढ़वाल के लगभग ढाई वर्ष के जीवन में इन्होंने कोटद्वार में प्रसिद्ध 'सर्धिडिया फ़ार्म' स्थापित किया। वहां पहिले लम्बी लिखा-पढ़ी के बाद सुखरौ की नहर के किनारे इन्होंने ख़ाम से लगभग

८० बीघा भूमि प्राप्त की और फिर वहां बड़ी लगन के साथ एक सुरुचिपूर्ण भवन का निर्माण कराया; उसके निर्माण में इन्होंने स्वयं अपनी जेब से सैकड़ों रुपये ख़र्च किये। उस फ़ार्म में इन्होंने उन्नत श्रेणी के धान व लाई आदि बीजों का परीक्षण कराया, ताकि भाबर के किसान उनका उपयोग करके लाभ उठा सकें। वहां इन्होंने फलदार पौधों, मुर्ग़ी-पालन तथा मधु-व्यवसाय की वैज्ञानिक प्रणालियां भी चालू कीं, ताकि उन उद्योग-धन्धों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित हो। इन्हें दिन-रात यही चिन्ता रहती थी कि किस प्रकार उस फ़ार्म को ग्रामीण जनता की सेवा के लिये एक सर्वोपयोगी केन्द्र बनाया जाय।

गढ़वाल के सार्वजनिक जीवन में

इन्हें विद्यार्थी-जीवन से ही अपने इस पिछड़े हुए प्रदेश की सेवा करने की लगन थी। बाद को भारत-सेवक-समिति के सदस्य की स्थिति में भी इन्हें गढ़वाल की चिन्ता रहती थी। इसीलिये ज़ब मार्च, सन १६३६ में उन्नतिशील राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका 'कर्मभूमि' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, तब उसके सँरक्षक, लेखक व सम्पादक-मण्डल के सदस्य की हैसियतों से इन्होंने बहुमूल्य सहायता प्रदान की; इनके परामर्श बहुत उपयोगी व व्यावहारिक होते थे और इनकी यह हार्दिक अभिलाषा थी कि वह पत्रिका उन्नति करे और उसके द्वारा इस प्रदेश की अधिकाधिक सेवा की जाय।

गढ़वाल आने के बाद कोटद्वार में इनका केन्द्र होने के कारण इन्हें भाबर की समस्याओं की ओर ध्यान देने का मौक़ा मिला। वहां अपने फ़ार्म के द्वारा जन-समाज की इन्होंने सेवा की ही, उसके अतिरिक्त अन्य विशालतर समस्याओं की ओर भी इन्होंने ध्यान दिया। वहां के किसानों की स्थिति के बारे में इन्होंने 'कर्मभूमि'

में एक लेख-माला प्रकाशित की; उस में इन्होंने आर्थिक पुनर्संगठन सम्बन्धी अपने बहुमूल्य विचार बड़ी तर्कपूर्ण और प्रभावपूर्ण भाषा में प्रस्तुत किये।

लेकिन उपरोक्त कार्यों से भी अधिक इनका कार्य हरिजन-सेवा के क्षेत्र में था। इस ओर ये अपने इलाहाबाद के प्रवास से ही ध्यान दे रहे थे। उन दिनों प्रांतीय हरिजन सेवक-संघ के मंत्री की हैसियत से इन्होंने इस जिले के संघ को आर्थिक सहायता दिलाई। सन १९३९ में ये श्री ठक्कर बापा को गढ़वाल के दौरे पर लाये और यहां के हरिजन-सेवा-कार्य को व्यवस्थित किया।

अभी ये स्थायी रूप से गढ़वाल आये ही थे कि डोला-पाल्की की समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया; यह आंदोलन कई वर्षों से चला आ रहा था, लेकिन बिंजोली (पट्टी गुराडस्यूँ) और मैंदोली (पट्टी कौड़िया) की बारातों के कारण स्थिति जटिल हो गई। इसी अड़चन के कारण महात्मा गांधी को व्यक्ति-गत सत्याग्रह-आंदोलन कुछ दिनों के लिये जिला गढ़वाल में स्थगित कर देना पड़ा। तुरन्त ही सारे देश का ध्यान मानों बिजली का बटन दबाते ही इस ओर आकर्षित हो गया और स्वयं गढ़वाल के हर दृष्टिकोण के व्यक्तियों में हलचल पैदा हो गई। फलस्वरूप २३ फर्वरी, सन १९४१ को लैंसडौन में एक सर्वदल सम्मेलन हुआ, जिसमें 'बिठ' (सवर्ण) जनता ने हरिजन भाइयों के इस सामाजिक अधिकार को स्वीकार किया। उस सम्मेलन द्वारा एक स्थायी समिति बनाई गई और ये उसके संयोजक चुने गये। उस पद से इन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया तथा अनेक बारातों को सकु-शल निकलवाने में सहायता पहुँचाई। इस विषय पर "डोला-पालकी सवाल" शीर्षक से इन्होंने एक पुस्तिका भी प्रकाशित कराई।

सन १९४१ में इनके निमंत्रण पर श्री ठक्कर बापा और श्रीमती रामेश्वरी नेहरू ने गढ़वाल का दौरा किया; वे इनके साथ कोटद्वार,

दुगड्डा, लैंसडौन, देवप्रयाग, श्रीनगर और पौड़ी आदि मुख्य केन्द्रों में गये और अधिकारियों व सार्वजनिक कार्यकर्ताओं से मिल कर हरिजन-सेवा की एक नई योजना तैयार की। उसके अनुसार गढ़वाल में ये सीधे अखिल भारतीय हरिजन-सेवक-संघ के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने लगे। इन्होंने कई हरिजन बालकों को दिल्ली की हरिजन उद्योगशाला में प्रविष्ट कराया। साथ ही जहरीखाल तथा पौड़ी में शिल्पकार-छात्रावास खुलवाये; उनमें निशुल्क निवास के अतिरिक्त कुछ छात्रवृत्तियों का भी प्रबन्ध किया गया। बाद में इसी प्रकार के छात्रावास कर्णप्रयाग व देहरादून में भी खोले गये। इस तरह हरिजनों की शिक्षा तथा अन्य दिशाओं में इन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किये।

गढ़वाल में इनके इस प्रकार के बहुमुखी रचनात्मक कार्यों के कारण सब दलों व विचारों के लोग इनका आदर करने लगे। अतः जुलाई, सन १९४२ में पौड़ी में जब "गढ़वाल-कान्फ्रेंस" के नाम से एक सर्वदल-सम्मेलन आयोजित किया गया, तब इन्होंने उसका सभापतित्व किया। अपनी लोकप्रियता के कारण ये उसके स्थायी प्रधान निर्वाचित हुए और इन्हें स्वयं अपनी कार्य-समिति मनोनीत करने का अधिकार दिया गया।

× × × ×

तथ्य यह है कि ये एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। शुद्ध खादीधारी, सरल स्वभाव, निरभिमानी, शान्त, हंसमुख और अध्ययनशील—प्रत्येक प्रश्न पर ये गम्भीरता के साथ विचार करके निर्णय करते थे; इनकी इस आदत के कारण साथी लोग कभी-कभी खीज उठते थे, लेकिन इनके निर्णय की व्यावहारिकता और इनके हृदय की पारदर्शी आदर्शवादिता के सम्मुख सब को सिर झुकाना पड़ता था! सिद्धान्त को ये व्यक्तित्व से ऊँचा समझते थे; अपने विचारों को बहुत संयत, तर्कपूर्ण और प्रभावोत्पादक शैली में

प्रस्तुत करते थे। इनकी लेखनशैली उत्कृष्ट थी; 'कर्मभूमि' में प्रकाशित लेख इसके प्रमाण हैं। इनसे भविष्य में गढ़वाल को अनेक आशायें थीं; और यह विश्वास किया जाता था कि गढ़वाल से बाहर भी ये प्रांतीय तथा सार्वदेशिक क्षेत्रों में अपना उचित स्थान प्राप्त करेंगे। लेकिन दुर्भाग्य से वह आशा पूर्ण नहीं हो सकी।

इनकी माता का सन १६३६ में देहान्त हो गया था। इनकी पत्नी पीपली (पट्टी मवालस्यूँ) के श्री बिशन सिंह नेगी जमादार की सुपुत्री थीं; उन्हें निस्सन्तान होने का बहुत दुख था; उसी वेदना को हृदय में लेकर वे बीमार पड़ीं और मार्च, सन १६४२ में दुगड्डा अस्पताल में उनका देहान्त हो गया। अगस्त, सन १६४२ में ये कार्यवशात देहरादून गए और वहाँ से लौटते समय नजीबाबाद में ही बीमार पड़ गये; वहीं नहान फाउंड्री वाले मकान में इनका इलाज कराया गया, लेकिन डबल न्यूमोनिया हो जाने के कारण, केवल ३६ वर्ष की ही अल्पायु में, ६ सितम्बर, सन १६४२ ई० को ये दिवंगत हो गये !!

ये निस्सन्तान थे; लेकिन 'सर्विंडया फ़ार्म' का पौधा इन्होंने अपने हाथों से लगाया था; वह मुरझाने-सा लगा है। आवश्यकता है कि उस पौधे को बलिष्ठ बनाकर इनके प्रति वास्तविक श्रद्धाञ्जलि अर्पित की जाय, ताकि इस प्रदेश के विकास में भी सहायता हो सके।

---

(१०) श्री अनुसूया प्रसाद बहुगुणा

(निधन-तिथि—१२ मार्च, सन १६४३ ई०)

निस्वार्थ, निर्भीक, प्रभावशाली राष्ट्रीय नेता श्री अनुसूयाप्रसाद बहुगुणा का जन्म चमोली से लगभग १० मील दूर पट्टी मल्ला नागपुर के पुण्यतीर्थ अनुसूया देवी में हुआ था। ये मूलतः नन्द-

प्रयाग के निवासी थे; लेकिन इनका जन्म उस तीर्थस्थान में हुआ, अतः इनका नाम उसी के अनुकूल रखा गया। इनके पिता प्रसिद्ध सेठ श्री गोकुलानन्द बहुगुणा थे। इनका परिवार गढ़वाल जिले के अत्यधिक सम्पन्न परिवारों में से एक था।

प्रारम्भिक शिक्षा नन्दप्रयाग में ही पाने के बाद ये मिशन स्कूल चोपड़ा (पौड़ी) में प्रविष्ट हुये और वहाँ से इन्होंने सन १९१० में हाइ स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की। दो वर्ष बाद इन्होंने रैमज़े कौलेज अल्मोड़ा से एफ० एस-सी० परीक्षा उत्तीर्ण की और इलाहाबाद चले गये। वहाँ म्योर सेंट्रल कौलेज से ये सन १९१४ ई० में बी० एस-सी० परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। फिर दो वर्ष बाद वहीं के विश्वविद्यालय से इन्होंने एल-एल० बी० की परीक्षा में सफलता पाप्त की।

इस पकार शिक्षा से विभूषित होने के बाद इन्होंने व्यावहारिक जीवन में प्रवेश किया। पिता इन्हें ऊँची सरकारी नौकरी दिलाना चाहते थे और इन्हें नायब तहसीलदारी का पद तो मिल ही रहा था; लेकिन इन्हें तो विद्यार्थी-जीवन से ही देश-सेवा की लौ लग गई थी। जब ये मिशन स्कूल. पौड़ी, के छात्र थे, तब इन्होंने वहाँ एक 'युवक संघ' (यंगमन्स यूनियन) स्थापित किया था और उसके मंत्री के नाते छात्रों में समाज-सेवा के लिए जागृति पैदा की थी। फिर विश्वविद्यालय के जीवन में इन्हें देश भर में चल रहे राजनैतिक आंदोलनों के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला। अतः इन्होंने वकालत का पेशा अख़्तियार किया और इस पर्वतीय प्रदेश के सार्वजनिक जीवन में एक नई हलचल पैदा कर दी।

ये एक सफल वकील थे; विशेषकर फ़ौजदारी के मुक़दमों में इनकी सूझ-बूझ और दलालत का सब लोग लोहा मानते थे। कहते हैं कि एक बार कुमाऊँ के कमिश्नर के समक्ष ये किसी

अपील के सिलसिले में उपस्थित हुए; वह अधिकारी इनके उग्र विचारों के कारण इनसे नाराज़ था, अतः खुली अदालत में मुँह फेर कर बैठ गया; लेकिन ये विचलित नहीं हुए; इन्होंने इतने अच्छे तर्क अपनी प्रभावपर्ण भाषा में प्रस्तुत किये कि साहब बहादुर सम्हल कर बैठ गए और इनके पक्ष में ही अपील का फैसला दिया ! इसी प्रतिभा के कारण इनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी; लेकिन धीरे-धीरे इनकी सार्वजनिक सेवा का क्षेत्र विस्तृततर होता गया और उस व्यस्तता के कारण ये वकालत की ओर ध्यान नहीं दे पाये।

सार्वजनिक जीवन में इनका सबसे पहिला प्रशंसनीय कार्य कर्णप्रयाग अंग्रेज़ी मिडिल स्कूल का स्थायीकरण था। इनके विद्यार्थी जीवन में ही उसकी स्थापना हो चुकी थी; लेकिन प्रांतीय सर्कार ने यह शर्त लगा दी थी कि जब सब आवश्यक भवन पूर्णतया बन जावेंगे तभी वह उसे लेने पर विचार कर सकेगी ! उन्हीं दिनों स्कूल के संस्थापक श्री महेशानन्द नौटियाल और फिर कुंवर शिवसिंह का सन १६१८ में देहांत हो गया; अतः प्रबन्ध-समिति के मन्त्री के नाते सारा भार इन पर आ पड़ा। उन दिनों इन्होंने अपनी वकालत भी प्रायः छोड़ दी और स्थान-स्थान पर जाकर लगभग ३५०००) एकत्र कराए। इन्होंने उन रूपयों से अपनी देखभाल में सब भवनों का निर्माण कराया। जब सब शर्तें पूरी हो गईं, तब प्रांतीय सर्कार ने उसे अपने हाथ में ले लिया। लेकिन उसके बाद भी ये उसकी उन्नति के लिये प्रयत्न करते रहे; अतः कुछ वर्षों बाद वह हाइ स्कूल में परिवर्तित कर दिया गया।

इस काम से निबटे ही थे कि सन् १६१६-२० का असहयोग आंदोलन चल पड़ा। पर्वतीय ज़िलों में उसने बेगार-बर्दायश-विरोधी आंदोलन का स्वरूप लिया। उन दिनों इन्होंने, विशेषकर चमोली तहसील के इलाक़े में, घूम-घूमकर असहयोग का अलख जगाया और

एक अभूतपूर्व जागृति पैदा कर दी। विशेषकर दशजूला पट्टी के ककोड़ाखाल स्थान पर तो इन्होंने जनता का ऐसा संगठन किया कि अधिकारियों को बेगारी नहीं मिल पाए और कई दिन उन्हें रुक कर 'कुली एजेंसी' के कुली मंगाने पड़े। साथ ही इन्होंने जंगलात के कष्टों के विरुद्ध भी ज़ोरदार आंदोलन संगठित किया। उस आंदोलन का परिणाम यह हुआ कि बेगार-बर्दायश की प्रथा सदा के लिए समाप्त हो गई और जंगलात के कष्ट भी बहुत कुछ कम हो गए।

दिसम्बर, सन् १९१९ में अमृतसर में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ था, उसमें ये एक डेलीगेट के रूप में सम्मिलित हुए; और उसके बाद प्रायः प्रत्येक अधिवेशन में पहुँचते रहे। उन दिनों इन्होंने अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ जो नाता जोड़ा, वह मृत्यु-पर्यन्त अटल रहा और ये दृढ़ता के साथ उस से सम्बंधित रहे। खादी व रचनात्मक कार्यों के प्रति इनका इसीलिए स्नेह था। उन्हीं दिनों मई, सन् १९२१ में 'गढ़वाल नवयुवक सम्मेलन' की श्रीनगर में स्थापना हुई और ये उसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

अपने इस प्रकार के जोश के ही कारण गया-कांग्रेस के अवसर पर ये 'अपरिवर्तनवादी' (नो-चेंजर) थे; और जब श्री मोतीलाल नेहरू ने 'स्वराजिष्ट पार्टी' की स्थापना करके कौंसिल-प्रवेश का कार्यक्रम प्रचारित किया, तब इन्होंने ८५ फुलस्कैप पृष्ठों का एक ख़रीता जोशपूर्ण अंग्रेज़ी में उनके पास भेजा; पर बाद में जब सारे देश ने कौंसिल-प्रवेश के कार्यक्रम को अपना लिया, तब सन् १९२३ के कौंसिल-चुनाव में इन्होंने स्वराजिष्ट पार्टी के उम्मीदवार श्री मुकन्दीलाल को पूरी सहायता दी।

फिर सन १९३० का सत्याग्रह-आंदोलन आया। ये नन्दप्रयाग में ही थे कि नमक-सत्याग्रह शुरू हुआ और दुगड्डे की सत्याग्रह कांफ्रेंस के बाद जून में पौड़ी के सम्मेलन हुए। उसके बाद ही उस

संग्राम की सर्वप्रथम बलि के रूप में श्री देवकीनन्दन ध्यानी चमोली में गिरफ़्तार कर लिए गए। इन्होंने भी धारा १४४ के प्रतिबंध को भंग करके भाषण दिए और गिरफ़्तार कर लिए गए। उसके बाद इन्हें चार मास की क़ैद की सज़ा देकर पौड़ी जेल में पहुँचाया गया। वहां जेलर के दुर्व्यवहार के कारण इनका उसके साथ झगड़ा होगया। उस घटना को लेकर नगर में एक आवेश का वातावरण फैल गया तथा श्री भोलादत्त चंदोला व श्री कोतवालसिंह नेगी प्रभृति अट्ठारह महानुभाव गिरफ्तार कर लिए गए! इनका पौड़ी जेल में रखना निरापद न समझ कर इन्हें फ़ैज़ाबाद जेल को स्थानांतरित कर दिया गया।

वहां से छूटकर ये गढ़वाल लौटे ही थे कि सन् १९३० का कौंसिल-चुनाव आ गया। कांग्रेस के एक अनुशासित सैनिक होने के कारण ये सिद्धांततया उसमें भाग नहीं ले सकते थे; लेकिन चूँकि श्री मुकन्दीलाल, बैरिस्टर, ने कांग्रेस-आदेश की अवहेलना करके उस चुनाव में उम्मीदवारी की थी, इसलिए इन्होंने उनके विपक्षी श्री नारायणसिंह नेगी के पक्ष में ज़ोरदार प्रचार किया। इनके उस समर्थन के कारण चुनाव-परिणाम पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

अगले वर्ष सन १९३१ में ज़िला बोर्ड के चुनाव हुए और ये चेयरमैन चुने गए। इन्होंने उस पद पर नवम्बर, सन १९३५ तक कार्य किया। उन दिनों इन्होंने पौड़ी को ही अपना स्थायी निवास-स्थान बना लिया था और वहीं से ज़िले भर में दूर दूर तक लम्बे-लम्बे दौरों पर जाया करते थे। अपने उस कार्य-काल में इन्होंने गैरसैण (लोहबा) का अस्पताल खुलवाया; कालीमठ आदि के कई नए पुल बनवाए; नलगांव के झूले को पक्का बनाने का प्रयत्न किया; और नंदप्रयाग व घाट के डाकबंगलों का निर्माण कराया। साथ ही इन्होंने गाड़ी-सड़क के लिए बड़ा प्रयत्न किया। अपने कार्यकाल के अंतिम दिनों में इन्होंने फ़तेहपुर-गुमखाल गाड़ी-सड़क का सर्वे

करा लिया था।

इनके ही प्रयत्नों से 'हिमालय ऐयरवेज़' नाम की एक कम्पनी ने श्री बद्री-केदारधाम के यात्रियों की सुविधा के लिए हरिद्वार से गौचर तक हवाई सर्विस शुरू की। इनके ज़िला बोर्ड कार्य-काल में प्रसिद्ध उड़ाके श्री चावला ने गौचर की भूमि पर उतर कर उस हवाई कम्पनी का कार्य सरल बनाया। सन १६३४ में तत्कालीन वायसराय की पत्नी लेडी विलिंगडन विश्व-विख्यात पत्रकार श्री सेंट निहालसिंह के साथ हवाई जहाज़ से गौचर मैदान में उतरीं। इन्होंने गढ़वाल की ओर से उनका शानदार स्वागत किया; वे इनकी प्रबंधपटुता और जोश-खरोश को देख कर अत्यन्त प्रभावित हुई थीं।

तदुपरान्त नये विधान के अंतर्गत फ़र्वरी, सन १६३७ में जब प्रांतीय एसेम्बली के सामान्य चुनाव हुए, तब ये भी पौड़ी-चमोली तहसील के निर्वाचन-क्षेत्र से उम्मीदवार हुए और सफल हुये। प्रांतीय एसेम्बली में ये काँग्रेस-दल के सदस्य थे और यथाशक्ति गढ़वाल की उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहे।

ये एक धर्म-प्रेमी व्यक्ति थे; अनुसूया देवी और कालीमठ के अनन्य उपासक थे। इसी भावना से प्रेरित होकर इन्होंने सन १६-२१ में कैलाश व मानसरोवर की यात्रा की थी, और सन १६२७ में त्रिशूल पर्वत की जड़ तक गए थे। इसी कारण प्रायः प्रति वर्ष ये श्री बद्रीनाथपुरी में जाकर कुछ समय तक निवास करते थे; पर वहाँ की कुव्यवस्था को देखकर इन्होंने मंदिर-सुधार-आन्दोलन का समर्थन किया। बहुत-कुछ इन्हीं के ज़ोर डालने पर प्रान्तीय सर्कार ने सन १६३६ में 'श्री बद्रीनाथ मन्दिर प्रबन्ध क़ानून' को एसेम्बली में स्वीकृत कराया। प्रान्तीय असेम्बली के हिन्दू सदस्यों द्वारा उस क़ानून के अंतर्गत जो दो सदस्य चुने जाते हैं, सर्वप्रथम चुनाव में ये उस पद पर निर्वाचित हुये।

मई, सन १६३८ में श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपनी बहिन श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित के साथ गढ़वाल का दौरा किया। श्री नेहरू ने पहिले दिन हरिद्वार से हवाई जहाज़ द्वारा उड़कर श्री बद्री-केदार आदि पुण्यस्थानों तथा हिमालय की श्वेत चोटियों व घाटियों की झांकी ली; फिर गौचर मैदान में उतर कर सार्वजनिक समारोह में भाग लिया; तदुपरान्त फिर हवाई जहाज़ से उड़कर हरिद्वार वापस गए और वहां से मोटर दारा ऋषिकेश होते हुये उसी शाम देवप्रयाग पहुँचे। दूसरे दिन घोड़े पर श्रीनगर पधारे तथा अगले दिन भी वहीं रहे; साथ ही ज़िला राजनैतिक सम्मेलन में भाग लिया। चौथे दिन वे घोड़े पर श्रीनगर से पौड़ी पहुंचे। पाँचवें दिन वे फिर घोड़े पर सीधे देवप्रयाग गए और वहाँ से मोटर द्वारा शाम हरिद्वार पहुंच गये। इस प्रकार श्री नेहरू ने गढ़-वाल का अपना पाँच दिन का वह प्रसिद्ध भ्रमण सम्पन्न किया। उस अवसर पर इन्होंने गौचर में उनके स्वागत की शानदार व्यव-स्था की। फिर उनके श्रीनगर पहुंचने से पहिले ये घोड़ा दौड़ाकर श्रीनगर पहुंच गये तथा देवप्रयाग तक उनके साथ रहे। वास्तव में राष्ट्र-नायक श्री नेहरू के प्रति इनके हृदय में अगाध श्रद्धा थी और वे भी इन्हें मानते थे।

सन १६४० के अप्रैल में कर्णप्रयाग मेले के अवसर पर एक विशाल प्रदर्शिनी ग्राम-सुधार विभाग की ओर से आयोजित की गई; अपनी सर्वप्रियता के कारण इन्हें उसका उद्घाटन-संस्कार सम्पन्न करने का गौरव प्रदान किया गया। उसी अवसर पर चमोली तहसील राजनैतिक सम्मेलन भी हुआ; इन्होंने उसका भी सभापतित्व किया। उसके कुछ ही समय बाद व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ हो गया। अतः ११ दिसम्बर, सन १६४० को ये नन्दप्रयाग में गिरफ़्तार कर लिये गये और १४ दिसम्बर को चमोली के मजिस्ट्रेट ने इन्हें एक साल कारावास का दण्ड सुना दिया। पौड़ी

के रास्ते ये सेंट्रल जेल बरेली पहुँचा दिये गये। लेकिन कुछ समय बाद ही इनकी धर्मपत्नी बीमार पड़ गईं और अपने सम्बन्धियों की कोशिश पर ये २६ जुलाई, सन १६४१ को 'पैरोल' पर रिहा कर दिये गये। ये सीधे नन्दप्रयाग पहुंचे, लेकिन सेवा-सुश्रूषा के बावजूद भी ५ सितम्बर, सन १६४१ को इनकी पत्नी का देहान्त हो गया। अतः उस दुर्घटना के कारण सरकार ने इन्हें पूरी तरह मुक्त कर दिया।

ज़िला बोर्ड की चेयरमैनी के दिनों में ही सन १६३२ में ये एक प्रेस बम्बई से ख़रीद कर पौड़ी लाये थे; क्योंकि ये ज़िले में एक राष्ट्रीय समाचार-पत्र निकालना चाहते थे। लेकिन इन्हें कोई अच्छा कार्यकर्ता नहीं मिला। अतः कुछ वर्षों तक वह प्रेस यों ही पड़ा रहा। सन १६३४ में इनके अनुरोध पर श्री देवकीनन्दन ध्यानी ने 'स्वर्गभूमि प्रेस' के नाम से उसका डिक्लेरेशन दिया; पर शीघ्र ही उनका देहान्त हो गया। फिर नवम्बर, सन १६३६ में श्री महेशानन्द थपलियाल ने उसे चालू किया और वहाँ से 'उत्तर भारत' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। सन १६३६ में कतिपय महानुभावों ने 'गढ़वाल प्रकाशन मंडल' की योजना पेश की; उदारतावश इन्होंने उसमें सम्मिलित होना स्वीकार किया। उसकी ओर से कुछ दिनों तक 'नवप्रभात' का प्रकाशन होता रहा; लेकिन वह भी बन्द हो गया। इस प्रकार गढ़वाल में एक सुन्दर प्रेस व उत्कृष्ट समाचार-पत्र की अपनी आकांक्षा में इन्होंने अपने हज़ारों रूपये नष्ट कर दिये।

ये एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे; निर्भयता और तेजस्विता इन में कूट-कूट कर भरी हुई थी। इनकी भाषण-शैली प्रभावोत्पादक थी। इनके 'ड्राफ़्ट' लम्बे तथा प्रभावपूर्ण होते थे; कई महत्वपूर्ण विषयों पर इन्होंने एक सिलसिले में बैठकर सैकड़ों पृष्ठों के ड्राफ़्ट लिखवाये। कई बार इन्होंने सैकड़ों रूपयों के तार खटका

दिये। वैसे ये बहुत शान्त थे; लेकिन अन्याय व पक्षपात को देख कर इन्हें 'सात्विक क्रोध' (राइटियस इनडिगनेशन) आ जाया करता था। एक समय चमोली में एक ऐसे डिप्टी कलेक्टर तशरीफ़ लाये जो अपनी अकड़ में मुस्तगीसों व वकीलों का भी अपमान कर दिया करते थे; अन्य वकील तो ख़ून का घूंट पीकर किसी प्रकार काम चलाते रहे, लेकिन इन्होंने उनकी अदालत में जाना ही बन्द कर दिया और लम्बे-लम्बे तार व पत्र भेजकर गवर्नमेंट तक जनता की शिकायतें पहुँचाईं; आख़िर उन महाशय का तबादला हो गया। इसी प्रकार डिप्टी कमिश्नर कैप्टन इबटसन के साथ भी इन्होंने भिड़न्त ली। एक बार इन्होंने यात्रा-लाइन में स्वास्थ्य-विभाग की दुर्व्यवस्था का क़िस्सा उच्च अधिकारियों तक पहुंचाया; लेकिन उल्टे इन पर मुक़दमा चला दिया गया; पर ये विचलित नहीं हुए और स्वयं अपनी पैरवी करके अपने को बरी कराया।

ऐसी अदमनीय साहसिकता के साथ-साथ इनमें निरभिमानता तथा सादगी थी। हमेशा शुद्ध खादी का बन्द गले का कोट पहिना करते थे और प्रत्येक छोटे-बड़े व्यक्ति से हंसते हुए प्रेमपूर्वक मिलते थे। विशेषकर राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं के लिये तो इनका द्वार हमेशा खुला रहता था; उन्हें ये यथाशक्ति आर्थिक सहायता दिया करते थे। अपनी इसी उदारता के कारण इनका जो लाखों रूपयों का उधार चारों ओर फैला हुआ था, उसे वसूल करने की इन्होंने चिन्ता नहीं की। परिणाम यह हुआ कि एक ओर घर की पैतृक सम्पत्ति समाप्त हो गई और दूसरी ओर इन्हें वकालत के लिये अवकाश न मिलने के कारण अंतिम वर्षों में इनकी आर्थिक दशा चिंतनीय हो गई; और यद्यपि एक लक्षाधीश के घर में इन्होंने जन्म लिया था तथापि अंत में इन्हें स्वयं ऋण लेना पड़ा।

सन् १९४०-४१ के जेल-प्रवास में इनका स्वास्थ्य बिगड़ गया

था; लेकिन ये उस संकट का शांति व धैर्य के साथ सामना करते रहे। जेल से रिहा होने पर इनकी पत्नी का देहांत हो गया और ये स्वयं भी बीमार रहने लगे। उसी बीमारी के दौरान में अगस्त, सन १९४२ का 'भारत छोड़ो' आंदोलन शुरू हो गया। ज़िले के प्रमुख कांग्रेसी नेता होने के कारण इनके लिए भी नज़रबन्दी का वारण्ट निकला; लेकिन इनको रोगग्रसित देखकर अधिकारियों ने इन्हें गिरफ़्तार करना उचित नहीं समझा। इस प्रकार ये उस बार जेल तो न जा सके; लेकिन सब नेताओं तथा साथियों के नज़रबन्द हो जाने के कारण रह-रह कर इन्हें आत्म-ग्लानि होती रही। फलस्वरूप इनका रोग बढ़ता चला गया, और आख़िर कई महीनों की बीमारी के बाद १२ मार्च, सन् १९४३ को अपने निवास-स्थान नन्दप्रयाग में इन्होंने अपनी इहलौकिक लीला समाप्त की !

× × ×

इनके एकमात्र पुत्र श्री द्वारिकाप्रसाद बहुगुणा, एम० ए०, राष्ट्रीय भावनाओं के युवक हैं; वे आजकल टिहरी-गढ़वाल ज़िले में डिस्ट्रिक्ट प्लानिंग अफ़सर हैं। इनके बड़े भाई सेठ गोपालदत्त का सन १९३२ में ही देहांत हो चुका था; उनके एकमात्र पुत्र श्री रामप्रसाद बहुगुणा एक उत्साही राष्ट्र-सेवी नवयुवक हैं; स्वयं स्वाधीनता-संग्राम में कारावास-यातना भुगत चुके हैं, तथा सुलेखक व कलाकार हैं।

---

(११) डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

(निधन-तिथि—२४ जुलाई, सन १९४४ ई०)

"डा० बड़थ्वाल की मृत्यु से हिन्दी-संसार की बहुत बड़ी क्षति हुई। उन्होंने हमारे वांगमय के एक विशेष क्षेत्र को, उस क्षेत्र को, जिसका सम्बन्ध आध्यात्मिक रचनाओं से है, अपने अध्ययन का विषय बनाया था। इस

दिशा में उन्होंने जो काम किया था उसका आदर विद्वत्समाज में सर्वत्र हुआ। यदि आयु ने धोखा न दिया होता तो वह गम्भीर रचनाओं का और भी सर्जन करते।"

—माननीय डा० संपूर्णानन्द, मंत्री, उत्तर प्रदेश।

"डा० बड़थ्वाल जी ने जो सेवायें हिन्दी साहित्य की की हैं वे महान हैं। गढ़वाल और हिन्दी-संसार के लिए डा० बड़थ्वाल अभिमान की वस्तु थे। उनके निधन से मुझे अत्यन्त दुख है।"

—गोस्वामी गणेशदत्त, प्रधान, हिन्दी साहित्य सम्मेलन।

इस युग में गढ़वाल के सर्वश्रेष्ठ साहित्य-वेत्ता, धुरन्धर विद्वान तथा सिद्धहस्त लेखक डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का जन्म लैंसडौन से केवल तीन मील दूर कौड़िया पट्टी के पाली ग्राम में १७ गते मार्गशीर्ष, सम्वत् १९५८ वि० (दिसम्बर, सन १९०१ ई०) को हुआ था। इनके पिता श्री गौरीदत्त बड़थ्वाल ज्योतिषी तथा कर्मकांडी ब्राह्मण थे।

प्रारम्भ में इन्होंने घर पर ही अपने पिता से संस्कृत का अध्ययन किया तथा 'अमर कोष' आदि ग्रन्थों का पारायण कर डाला। फिर समीपवर्ती एक विद्यालय में कुछ समय तक अध्ययन करने के बाद ये गवर्नमेंट हाइस्कूल श्रीनगर में प्रविष्ट हो गये। कुछ वर्षों बाद इन्हें लखनऊ जाना पड़ा और वहाँ कालीचरण हाई स्कूल से सन १९२० में इन्होंने सम्मान सहित मैट्रिक और हाइ स्कूल की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। उसी स्कूल में तत्कालीन हेडमास्टर के रूप में हिन्दी के दिग्गज विद्वान श्री श्यामसुन्दर दास से इनका सर्वप्रथम परिचय हुआ; बाद में वही परिचय साहित्यिक सहयोग में परिवर्तित हो गया, जिसके फलस्वरूप कई अनमोल ग्रन्थ-रत्न प्रकाश में आ सके। इण्टरमीडियेट के लिए ये कानपुर गये और वहां सन १९२२ में इन्होंने डी० ए० वी० कौलेज से एफ़० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। तदुपरान्त इन्होंने बनारस विश्वविद्यालय में नाम

लिखाया ही था कि इनके पिता का देहान्त हो गया और स्वयं इनका स्वास्थ्य बिगड़ गया; इसलिये इन्होंने लगभग दो वर्ष तक अपने गांव में ही विश्राम किया।

फिर दो वर्ष बाद ये बनारस विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुये और सन १६२६ में इन्होंने बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। सौभाग्य से उन्हीं दिनों हिन्दी में एम० ए० कक्षा प्रारम्भ हुई और ये उसके सर्वप्रथम दल में सम्मिलित हुए। श्री श्यामसुन्दर दास उन दिनों हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष थे; वे इन्हें कालीचरण हाइ स्कूल से ही जानते थे। इन्होंने सन १६२८ में एम० ए० परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया। उस परीक्षा के लिये इन्होंने "छायावाद" पर एक विस्तृत तथा विद्वतापूर्ण निबन्ध लिखा था, जिसके कारण श्री श्यामसुन्दर दास इन पर और भी प्रसन्न हुये। वे उसे विश्व-विद्यालय की ओर से छपाना चाहते थे, लेकिन विधान में वैसा कोई नियम न होने के कारण वह छपाया न जा सका। अतः इन्हें पुर-स्कार-स्वरूप हिन्दी-विभाग के अन्तर्गत शोध-कार्य (रिसर्च) पर नियुक्त कर दिया गया और ये जम कर कार्य करने लगे। दो वर्ष के बाद सन १६३० में इन्हें उसी विभाग में शिक्षक (लेक्च-रर) का पद मिल गया। उससे पहले सन १६२६ में ये एल-एल० बी० परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो चुके थे। यहाँ से इनकी हिंदी साहित्य-सेवा का वास्तविक कार्य प्रारम्भ हुआ।

अध्ययन-कार्य से इन्हें जितना भी समय मिलता था उसे ये शोध-कार्य पर लगाते रहे। इनकी उस अध्ययनशीलता को देखकर ही काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने इन्हें अपने खोज-विभाग के अवैतनिक संचालक (ऑनरेरी सुपरिन्टेण्डेन्ट, सर्च ऑफ़ हिन्दी मैनसक्रिप्ट्स) भी नियुक्त किया। ये उस पद पर कई वर्षों तक रहे तथा इनके संचालकत्व में उस विभाग ने सहस्रों महत्वपूर्ण ग्रन्थों का पता लगाया तथा उनकी परिचय-तालिकाएँ तैयार कीं; वे सब

सभा के संग्रहालय में वैज्ञानिक ढङ्ग पर सुरक्षित हैं।

उपरोक्त शोध-संचालन के साथ-साथ ये स्वयं भी 'डॉक्टरेट' की तैयारी करते रहे। २-३ वर्ष के परिश्रम के बाद इन्होंने सन १९३१ में अपना निबन्ध (थीसिस) "हिन्दी काव्य में निर्गुणवाद" विश्वविद्यालय को समर्पित किया। परीक्षक थे—ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के उर्दू-हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० टी० ग्राहम बेली; प्रयाग विश्वविद्यालय में दर्शन-विभाग के अध्यक्ष प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे; और श्री श्यामसुन्दर दास। अकेले डा० बेली ने राय दी कि वह निबन्ध पी-एच० डी० डिग्री के लिये ही उपयुक्त है; इस पर इन्होंने उसे वापिस ले लिया और फिर दुबारा कुछ दिनों तक अध्ययन करने के बाद संशोधित व परिवर्धित रूप में उसे प्रस्तुत किया। अब की बार परीक्षकों ने उसे डी० लिट्० (डॉक्टर ऑफ़ लेटर्स—साहित्याचार्य) की पदवी के लिए सर्वथा उपयुक्त बतलाया और मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। अतः दिसम्बर, सन १९३३ ई० के दीक्षान्त-समारोह (कन्वोकेशन) में इन्हें वह पदवी प्रदान की गई।

शुद्ध हिन्दी साहित्य के विषय को लेकर 'डॉक्टरेट' पाने वाले ये सर्वप्रथम व्यक्ति थे; अतः सर्वत्र इनकी प्रसिद्धि फैल गई। साथ ही अनेक पुस्तकों के प्रकाशन तथा पत्र-पत्रिकाओं में इनके गवेषणापूर्ण लेख निकलने के कारण सब लोग इनका आदर करने लगे। ये हिन्दी के अधिकारपूर्ण विद्वानों की श्रेणी में गिने जाने लगे और जगह-जगह सभा-सम्मेलनों में इन्हें आदरपूर्वक निमन्त्रित किया जाने लगा। सन १९३७ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का शिमला-अधिवेशन हुआ; उसकी साहित्य-शाखा में निबन्ध-पाठ के लिए इन्हें विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया। मार्च, सन १९४० में ओरियण्टल कौन्फ्रेंस (प्राच्य विद्या-सम्मेलन) का अधिवेशन तिरुपति (मद्रास राज्य) में हुआ; ये उसके हिन्दी विभाग के

सभापति मनोनीत किये गए। उस मञ्च से इन्होंने हिन्दी सन्त-साहित्य की निरंजनी धारा का मौलिक विश्लेषण किया। इसी प्रकार अनेक महत्वपूर्ण अवसरों पर इन्होंने हिन्दी साहित्य पर गवेषणापूर्ण निबन्ध पढ़े; वे सब संग्रह और अध्ययन की वस्तु हैं।

उन सभा-सम्मेलनों के अतिरिक्त अध्यापक के रूप में भी इन्होंने अपनी प्रतिभा प्रदर्शित की। ये प्रतिदिन शिक्षार्थियों के समक्ष हिन्दी साहित्य के क्रम-विकास और उसके गूढ़ रहस्यों पर प्रकाश डाला करते थे। इनकी अध्यापन-शैली प्रभावपूर्ण और मनोमुग्धकर थी। इनके भाषणों के 'नोट्स' लेकर कई शिक्षार्थियों ने बाद में 'डॉक्टरेट' प्राप्त कीं।

इनकी रचनाओं का परिचय

इन्होंने कई पुस्तकें लिखीं। अपने दो वर्ष के अनध्याय-काल में इन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली से अपने आप को रोगमुक्त किया था; उन दिनों के अपने व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर तथा अनेक अंग्रेजी पुस्तकों का सहारा लेकर इन्होंने "प्राणायाम-विज्ञान और कला" तथा "ध्यान से आत्म-चिकित्सा" पुस्तकें लिख कर प्रकाशित कराईं।

उपरोक्त पुस्तकों के अतिरिक्त इन्होंने "कबीर-ग्रंथावली" तथा "रामचन्द्रिका" का सम्पादन किया। "गद्य-सौरभ" पुस्तक इन्होंने श्री रामचन्द्र शुक्ल के सहयोग से लिखी। अपने गुरु श्री श्याम-सुन्दर दास के सहयोग से इन्होंने दो पुस्तकें प्रकाशित कीं—'गोस्वामी तुलसीदास' और 'रूपक-रहस्य'; प्रथम में इन्होंने हिन्दी के महाकवि गोस्वामी तुलसीदास की जीवनी और कविता की अनुपम विवेचना की है; द्वितीय पुस्तक में इन्होंने भारतीय नाट्य-शास्त्र की विशद व्याख्या की है। "गोरखबानी" का इन्होंने स्वतः सम्पादन किया तथा उसकी गवेषणापूर्ण प्रस्तावना लिखी; उस पुस्तक

में इन्होंने प्रसिद्ध समाज-सुधारक तथा पंथ-प्रणेता गुरु गोरखनाथ की जीवनी और 'बाणियों' पर प्रकाश डाला है; अपने ढंग की यह एक बेजोड़ पुस्तक है।

लेकिन जिस पुस्तक के कारण ये हिन्दी-साहित्य में अपना अक्षय स्थान सुरक्षित कर गए हैं और जिसके द्वारा इन्हें हिन्दी का सर्व-प्रथम 'डॉक्टर' होने का गौरव प्राप्त हुआ था, वह मूलतः अंग्रेजी में है—"दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री।" उसके कुछ अंशों का हिंदी अनुवाद "हिन्दी काव्य में निर्गुण धारा" शीर्षक से इन्होंने स्वयं कर लिया था, लेकिन ये उसे प्रकाशित नहीं कर पाये। उस पुस्तक का परिचय श्री श्यामसुन्दर दास ने पुस्तक की प्रस्तावना में इस प्रकार दिया है—

"वर्तमान रचना हिन्दी अध्ययन के क्षेत्र में एक बड़ी कमी की पूर्ति करती है। यह हिन्दी के रहस्यवादी कवियों की एक विशेष शाखा, जो साधारणतया निर्गुण कवियों के नाम से सम्बोधित की जाती है, का वर्णन करती है। हिन्दी के इन कवियों का अभी तक कोई विधिपूर्वक अध्ययन नहीं हुआ था! साधारणतया यह विश्वास किया जाता था कि उनकी दार्शनिकता में कोई व्यवस्था नहीं है तथा वे आध्यात्मिक क्षेत्र के विभिन्न विषयों पर अस्पष्ट विचार रखते हैं। डा० बड़थ्वाल ने इस वर्ग के साहित्य का गंभीर और विस्तृत अध्ययन किया है और अनेक बहुमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थों का पारायण किया है। उनके लिए यह बहुत प्रशंसनीय बात है कि उन्होंने इन सन्त कवियों के उपदेशों में दार्शनिकता और आचार-शास्त्र की एक विशेष धारा को खोज निकाला है। उन्होंने एक ऐसी दार्शनिकता का विवेचन किया है, जो यद्यपि बहुत ऊँची और गम्भीर है, तथापि निश्चिततया व्यावहारिक है। उन्होंने हिंदी कविता की इस धारा पर खूब प्रकाश डाला है और हमारे तत्सम्बन्धी ज्ञान में बहुत अभिवृद्धि की है। उनकी विषय-प्रतिपादन

की शैली सूक्ष्म और मनोरंजक है। मैं उन्हें उनकी सफलता पर बधाई देता हूं।"

इनका उपरोक्त 'थीसिस' जब प्रस्तुत किया गया, तब काशी विश्वविद्यालय के तत्कालीन प्रो-वायस चांसलर तथा सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री आचार्य ध्रुव ने ऐतराज़ करते हुए कहा था कि— कहीं हिंदी पर भी डॉक्टरेट मिल सकती है!" लेकिन बाद में होंने उसका अवलोकन किया तो मुग्ध हो गए। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध प्राच्य-विद्या विशारद व क़ानून-शास्त्री डा० सर बेरीडेल कीथ महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा ने भी उसे उच्च कोटि किया। स्वयं इनके परीक्षकों ने तो इनकी मुक्तकण्ठ से सराहना की ही। प्रोफेसर रानाडे ने लिखा—"श्री बड़थ्वाल का निबन्ध, जहां तक मैं जानता हूँ, हिंदी रहस्यवाद के प्रतिपादन का सर्वप्रथम गम्भीर प्रयत्न है। श्री बड़थ्वाल ने मनस्तात्विक पद्धति का अवलम्बन किया है और खूब सफलता पाई है।.........केवल हिन्दी साहित्य की विवेचना के लिये ही नहीं, अपितु रहस्यवाद के सर्वजनीन दर्शन-शास्त्र के लिए भी श्री बड़थ्वाल की रचना एक वास्तविक देन है।"

डाक्टर टी० ग्राहम बेली ने यह सम्मति अंकित की थी कि— 'यह एक सुन्दर रचना है, जिसके लिए बहुत शोध की आवश्यकता हुई है और जिससे ज्ञान की वास्तविक वृद्धि हुई है। जब हम सोचते हैं कि लेखक एक विदेशी भाषा का प्रयोग कर रहे हैं, तब उनकी शैली की भी प्रशंसा करनी पड़ती है। इस विषय पर और कहीं भी इतनी अधिक सामग्री नहीं पाई जा सकती।" इससे यह सिद्ध होता है कि अंग्रेज़ी लिखने की भी इनकी शैली उत्कृष्ट थी।

उपरोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने दर्जनों उच्च कोटि के निबंध लिखे। वे हिंदी की सुप्रसिद्ध त्रैमासिक तथा मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे। इनके प्रत्येक निबंध पर इनके परिपूर्ण

अध्ययन और मनन की छाप है। श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा, एम० ए०, के शब्दों में—"डा० बड़थ्वाल के निबंध अकाट्य तर्क, विस्तृत रोचक विषय-प्रतिपादन और सजीव भाषा को लेकर बड़े सुष्ठु एवं दृढ़ हुए हैं। भाषा पर जैसा अधिकार डा०बड़थ्वाल का था, वैसा संभवतः हिंदीके किसी अन्य आलोचक का नहीं। प्रखर व्यंग्य भी साहित्य के रूप में ढलकर आता था।..... एक-एक पंक्ति को प्रकाशित होने से पहिले बीस-बीस, तीस-तीस बार लिखते मैंने उन्हें देखा है। पाठकों को शायद विश्वास न होगा कि 'सुरति और निरति', जो चार या पांच पेज का निबन्ध है, पूरे ग्यारह वर्ष के परिश्रम का फल है!"

उपरोक्त प्रकाशित रचनाओं के अतिरिक्त इन्होंने और भी कई पुस्तकें तैयार कर ली थीं; लेकिन वे प्रकाशित नहीं हो पाई। उनमें इनके 'थीसिस' का हिंदी अनुवाद—"हिंदी काव्य में निर्गुण धारा" सबसे महत्वपूर्ण है। इसके सिवाय इन्होंने "कबीर की साखी और सर्वांगी", "हरिदास जी की साखी", "रैदास जी की साखी", "हरिभक्त-प्रकाश", और "सेवादास" के संपादित संस्करण तैयार कर लिए थे। "नैपाली साहित्य" का इन्होंने इतिहास तैयार किया था। गढ़वाल में गोरखा-शासन तथा यहाँ की वीरगाथाओं पर भी इन्होंने एक पुस्तक तैयार की थी थी। इनके अतिरिक्त कुछ अंग्रेजी निबन्ध भी इनके अप्रकाशित रह गये।

अपने प्रदेश की सेवा और कवितायें

डा० बड़थ्वाल ने उपरोक्त प्रकार विस्तृत हिन्दी-संसार की सेवा की, लेकिन ये अपने मातृ-प्रदेश गढ़वाल को नहीं भूले। इन्हें विद्यार्थी-जीवन से ही इस ओर रुचि थी। श्रीनगर के स्कूली जीवन में इन्होंने 'मनोरंजनी' नामक एक हस्तलिखित पत्रिका का सम्पादन किया तथा वाक्वर्धनी सभा में प्रमुख भाग लेकर साथी छात्रों में

जागृति पैदा कर दी। कानपुर के विद्यार्थी-जीवन में इन्होंने पर्वतीय छात्रों की ओर से निकलने वाली "हिलमैन" शीर्षक अंग्रेज़ी पत्रिका का सम्पादन किया। उन दिनों भी ये गर्मियों की छुट्टियों में गढ़वाल आकर छात्रों व नवयुवकों का संगठन किया करते थे। इसीलिये विशेषकर इन्हीं के उत्साह से १५ मई, सन १९२१ को श्रीनगर में "गढ़वाल नवयुवक सम्मेलन" की स्थापना की गई और ये उसके मन्त्री निर्वाचित हुए।

उस सम्मेलन का ध्येय था—"गढ़वाल के नवयुवकों को ऐक्यता के सूत्र में बांध कर सदाचार का उपदेश करना, जातीय शिक्षा देना तथा सच्चे भावी नागरिक बनाने का यथाशक्ति उद्योग करना।" गढ़वाल का सामाजिक उत्कर्ष उसका प्रधान लक्ष्य था। फिर २० मई, सन १९२२ को उसका दूसरा अधिवेशन दुगड्डा में सम्पन्न हुआ। उस बैठक में इन्होंने अपनी जो प्रथम वार्षिक रिपोर्ट सुनाई थी, उसके अनुसार सम्मेलन ने सबसे अधिक ध्यान अकाल-सहायता-कार्य में दिया और विभिन्न केन्द्रों में लगभग ५० स्वयंसेवक प्रदान किये। कहना न होगा कि मुख्यतया इन्हीं की प्रेरणा से उसने कुछ वर्षों तक अच्छा कार्य किया और जब ये फिर अध्ययन के लिए बनारस चले गये तो वह भी शिथिल हो गया!

ये स्थानीय समाचार-पत्रों में गढ़वाल की विभिन्न समस्याओं पर विचारपूर्ण लेख भी लिखा करते थे। विशेषकर श्री गिरजादत्त नैथाणी द्वारा सम्पादित मासिक 'पुरुषार्थ' के साथ इनका घनिष्ट सम्बन्ध था; उसमें ये अक्सर लिखा करते थे। जिन दिनों ये सन १९२२ से सन १९२४ तक अस्वास्थ्य के कारण विश्राम कर रहे थे, उन दिनों इन्होंने कुछ महीनों तक उसका सारा सम्पादन-भार स्वयं निभाया। उन दिनों इन्होंने उस समाचार-पत्र को गढ़वाल का ही नहीं, बल्कि सारे हिंदी-संसार का एक प्रमुख पत्र बनाने का प्रयत्न किया। उसमें इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र तथा साहित्य

आदि पर इनके कई विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित हुये। गढ़वाल और भारत का ऐसा कोई विषय नहीं था, जिस पर उन दिनों इन्होंने अपनी चमत्कारपूर्ण लेखनी द्वारा प्रकाश न डाला हो। गंभीर लेखों व टिप्पणियों के अतिरिक्त ये 'विलोचन' व 'व्योमचन्द्र' उपनाम से गद्य-काव्य और 'अम्बर' उपनाम से पद्य भी लिखा करते थे।

डा० बड़थ्वाल एक कवि भी थे—इसे बहुत कम लोग जानते हैं। लेकिन साहित्यिक शिखर पर पहुँचने से पहिले इन्होंने कविताओं द्वारा भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया था। बाद में खोज-कार्य की तल्लीनता के कारण ये उस ओर ध्यान नहीं दे पाये; लेकिन इनके गद्य में भी पद्य की सी सरलता तथा रोचकता की पुट अन्त तक विद्यमान रही। 'पुरुपार्थ' में प्रकाशित 'हे हृदय' कविता के अन्तर्गत इन्होंने लिखा था—

"अन्यायियों का वज्र बनकर कर विभंजन हे हृदय !
पर दीन-जन-दुख-ताप सम्मुख मोम बन तू हे हृदय !
सम्राट तू बन, इन्द्रियां हों तव प्रजाजन हे हृदय !
सत्कार्य में संलग्न संतत भूल तन-धन हे हृदय !"

'तिलक-बन्दना' शीर्षक में इन्होंने लिखा था—

जय-जय तिलक बाल गंगाधर भाल तिलक भारत के !
जय निर्भीक हृदय, धर्म-ध्वज, प्रिय त्राता भारत के !
दुखिया भारत के दुखहर्ता तेज-पुंज जय-जय-जय !
राष्ट्र-बेलि के पालन कर्ता, ज्ञान-कुंज जय जय जय !
तेंतीस कोटि जन भारत के इक स्वर जिसे सराहें,
भारत मां विछोह में जिसके, छोड़ रही है आहें !
देश हितार्थ विषम दुख को सुख स्वर्ग सम मानें,
जयति स्वाभिमानी, द्विज-कुल-मणि जिसके गुण जग जानें !
स्वातंत्र्य-मंत्र फिर-फिर फूंका मोहित वीर जगाए,
भारतीय हृदयों से भगवन् भाव भयादि भगाए

'जन्मसिद्ध अधिकार हमारा है स्वराज्य' दिखलाया ,
लोकमान्य ! भूले भटकों को सीधा पथ दिखलाया !"

इधर सन १९२६ से सन् १९३३ तक इनके गहरे अध्ययन-काल में इनका ध्यान गढ़वाल की ओर बहुत कम जा सका। लेकिन जब इन्हें 'हिन्दी के सर्वप्रथम डॉक्टर' होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो गढ़वाल की शिक्षित जनता का ध्यान और भी प्रबल वेग से इनकी ओर आकर्षित हुआ। देहरादून, लैंसडौन व पौड़ी आदि केन्द्रों में सार्वजनिक रूप से इनका अभिनन्दन किया गया, और इन्होंने भी फिर अपने पिछड़े हुये प्रदेश की ओर पहिले से कुछ अधिक समय देने का निश्चय किया।

उसके कुछ बाद ही "गढ़वाल साहित्य परिषद" की स्थापना हुई और गढ़वाल के सर्वश्रेष्ठ साहित्य-सेवी के नाते ये उसके स्थायी अध्यक्ष निर्वाचित हुये। इन्होंने सब उदीयमान गढ़वाली कवियों, लेखकों तथा कलाकारों को प्रोत्साहन दिया। साथ ही उस परिषद् की ओर से श्री शालिग्राम वैष्णव द्वारा लिखित "गढ़वाली पखाणे" (गढ़वाली लोकोक्तियाँ) पुस्तक का भी प्रकाशन कराया। उसके बाद जब सन १९३९ में साप्ताहिक 'कर्मभूमि' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, तब इन्होंने उसका संरक्षक बनना स्वीकार किया और सर्वदा उपयोगी सुझाव देते रहे।

गढ़वाल के पंवाड़ों (वीर-गाथाओं), तंत्र-मंत्र, ग्राम-गीत व इतिहास का इन्होंने गहरा अध्ययन किया था और उन पर एक पुस्तक भी तैयार करली थी। इनका विचार उन वीर-गाथाओं के आधार पर 'वेभरली नौवल्स' की तरह के उपन्यास लिखने का था; इन्होंने 'विशुद्धानन्द' उपनाम से इस तरह के कुछ कथानक तैयार भी किये थे। इस ओर इन्होंने श्रीनगर के अपने विद्यार्थी-जीवन में ही कार्य प्रारम्भ कर दिया था। वे पंवाड़ों का भाषा-शास्त्र की दृष्टि से सम्पादन करना चाहते थे। इन्होंने स्थानीय

कथानकों के आधार पर गढ़वाली भाषा में कुछ नाटक भी लिखे थे। इन कार्यों के लिये ये कई केन्द्रों में गये थे और यहाँ के अनेक वृद्ध साहित्यिकों से इन्होंने विचार-विनियम किया था। 'उत्तराखंड में संत-मत और संत-साहित्य' शीर्षक निबन्ध इन की उसी खोज का परिणाम था।

× × × ×

लेकिन उपरोक्त गौरवपूर्ण साहित्यिक जीवन के विपरीत इनका व्यक्तिगत जीवन बड़े कष्ट में बीता। एक तो इनका स्वास्थ्य पहिले ही सामान्य कोटि का था; उस पर दिन-रात अविश्रान्त परिश्रम तथा बढ़ता हुआ परिवार; दूसरी ओर काशी विश्वविद्यालय की हिन्दी-लेक्चररी की छोटी-सी तनख्वाह! मजबूर होकर इन्हें परीक्षा-कापियों की जांच का नीरस कार्य-भार स्वीकार करना पड़ा, जिसके कारण इन्हें गर्मी की छुट्टियों में भी विश्राम मिलना प्रायः असम्भव हो गया। जब बनारस में वेतन की उपयुक्त बढ़ोतरी की कोई आशा नहीं रही और महामना मालवीय जी आदि ने हिन्दी अध्यापकों को अन्य विषयों के समकक्ष वेतन-सम्बन्धी दर्जा देने से इन्कार कर दिया, तब मजबूर होकर इन्हें विरोध-स्वरूप सन १६३८ में लखनऊ विश्वविद्यालय में लेक्चररी का पद स्वीकार करना पड़ा।

लेकिन वहां काशी का सा निःशंक अपनत्वपूर्ण वातावरण नहीं था। धीरे-धीरे, न जाने कैसे, इनके दिमाग़ में यह बात बैठ गई कि इनकी साहित्यिक सामग्री की चोरी होने वाली है! दिन-रात इन्हें यही वहम घेरे रहता। परिणाम यह हुआ कि उन्निद्र रोग हो गया और कुछ-कुछ विक्षिप्तता के से लक्षण दिखाई देने लगे। ऐसी हालत में काम करना असम्भव हो गया, और ये छुट्टी लेकर घर चले आये। कुछ दिनों बाद ठीक हुये, तो फिर लखनऊ चले गये। लेकिन फिर तबीयत बिगड़ी और इन्हें दुबारा घर लौट

आना पड़ा। इस प्रकार का क्रम २-३ वर्षों तक चलता रहा। लेकिन जब फ़र्वरी, सन १९४४ ई० में ये छुट्टी लेकर घर आये, तब फिर वापिस नहीं जा सके; कई बीमारियों ने इन्हें एक साथ घेर लिया; औषधोपचार चलता रहा, लेकिन तथ्य यह है कि आर्थिक संकट और मानसिक चिन्ताओं के कारण जमकर इलाज नहीं हो पाया और हालत बिगड़ती ही चली गई। आखिर २४ जुलाई, सन १९४४ ई० को अपने पितृस्थान पाली में इनकी अमर आत्मा ने इस नश्वर मानवी चोले से विदाई ले ली!

इनके असामयिक निधन पर लैंसडौन में एकत्र होकर गढ़वाल के प्रमुख नागरिकों व साहित्य-प्रेमियों ने "डा० बड़थ्वाल स्मारक ट्रष्ट" की स्थापना की। उस ट्रष्ट को हिन्दी के सब महारथियों ने सहयोग का आश्वासन दिया। लेकिन खेद है कि इस दिशा में शीघ्र विशेष प्रगति नहीं हो पाई। केवल इनके सन्त-साहित्य सम्बन्धी कुछ निबन्धों का संग्रह "योग-प्रवाह" के नाम से सन १९४६ ई० में श्री काशी विद्यापीठ, बनारस ने प्रकाशित किया और माननीय डा० सम्पूर्णानन्द ने उसका सम्पादन किया।

ट्रष्ट की ऐसी शिथिलता देखकर इनके सम्बन्धियों के प्रयत्नों से अवध पबलिशिंग हाउस, लखनऊ, ने इनकी सब अप्रकाशित पुस्तकों के प्रकाशन का भार स्वीकार किया है। पिछले वर्ष ये पुस्तकें निकली हैं—(१) 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' —यह इनके 'थीसिस' का हिन्दी अनुवाद है; अनुवाद श्री परशुराम चतुर्वेदी (बलिया) ने किया है और सम्पादन डा० भगीरथ मिश्र लखनऊ विश्वविद्यालय) ने; (२) 'मकरंद' (निबन्ध-संग्रह) और (३) 'सूरदास' (जीवन-सामग्री); इनका सम्पादन भी डा० भगीरथ मिश्र ने किया है। शीघ्र ही कुछ अन्य पुस्तकें भी प्रकाशित होने की आशा है। इसके अतिरिक्त अक्टूबर, सन

१९४४ में कतिपय उत्साही युवकों ने लैंसडौन में 'बड़थ्वाल सांस्कृतिक संघ' की स्थापना की। उस संघ की ओर से समय-समय पर विभिन्न विषयों पर विशेष व्याख्यानों तथा वाद-विवादों का आयोजन किया जाता है; साथ ही लैंसडौन में एक पुस्तकालय व वाचनालय भी चल रहा है। लेकिन वास्तविक कार्य इनकी शेष अप्रकाशित रचनाओं तथा स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन तथा इनके प्रकाशित ग्रन्थों का प्रचार है।

इनकी पत्नी तथा बच्चे अपने गांव में किसी प्रकार जीवन-निर्वाह कर रहे हैं। इनके तीन पुत्रों व चार पुत्रियों में से एक बड़ी पुत्री व दो पुत्र तो गूँगे से हैं; जो एक 'ठीक' (नौर्मल ढंग का) पुत्र था, उसकी इन्हीं के जीवन-काल में मृत्यु हो चुकी थी, जिससे इन्हें गहरा धक्का लगा था। शेष तीन पुत्रियों में से दो के विवाह हो चुके हैं।

---

(१२) श्री श्रीदेव सुमन

(निधन-तिथि—२५ जुलाई, सन १९४४ ई०)

"रियासती जनता के स्वाधीनता-संग्राम के वीर योद्धा श्रीदेव सुमन की स्मृति में मैं अपनी श्रद्धांजलि प्रेषित करता हूं।"

—श्री जवाहरलाल नेहरू।

"मैं 'सुमन' को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखता हूं। उनकी अकाल मृत्यु पर मुझको बड़ा दुख हुआ। परमात्मा उनकी आत्माको शान्ति देवे।'

—महामना पं० मदन मोहन मालवीय।

"युवा सुमन उन फूलों में से एक थे जो कि बिना देखे मुर्झा जाने के लिए पैदा होते हैं। लेकिन वे अपने पीछे अपनी सुगन्धि छोड़ गये हैं। सुमन ने जो सेवायें कीं वे चिरकाल तक रहेंगी।"

—डा० पट्टाभि सीतारमैय्या।

"स्वाधीनता-हित धीरता से दूं झुका 'जगदीश' को।
मां के पदों में सुमन-सा कर दूँ समर्पण शीश को ॥"

जननी-जन्मभूमि के प्रति ऐसी बलिदानी भावना रखने वाले, तरुण तपस्वी, अमर शहीद श्री श्रीदेव सुमन का जन्म टिहरी गढ़वाल ज़िले की पट्टी बमुण्ड के ग्राम जौल में २५ मई, सन १९१६ ई० को हुआ था। इनके पिता श्री हरिराम बडोनी अपने इलाक़े में अच्छे लोकप्रिय वैद्य थे। उनके अन्दर सेवा-भावना इतनी अधिक थी कि सन १९१९ की गर्मियों में जब चारों ओर हैज़ा फैला हुआ था, उन्होंने अपनी पर्वाह न करते हुए भी रोगियों की चिकित्सा की; फलस्वरूप वे ३६ वर्ष की अल्पायु में ही स्वयं भी हैज़े के शिकार हो गये! लेकिन दृढ़-निश्चयी साध्वी माता ने धैर्य के साथ बच्चों के उचित पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया। तथ्य यह है कि इन्होंने अपने पिता से लोक-सेवा और अपनी माता से दृढ़ निश्चय के संस्कार पैतृक संपत्ति के रूप में प्राप्त किये थे।

अपने गाँव व चम्बाखाल में प्रारंभिक शिक्षा पाने के बाद इन्होंने सन १९३१ में टिहरी से हिंदी मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की। उसी विद्यार्थी-जीवन में सन १९३० के नमक-सत्याग्रह के दिनों में ये कार्यवशात् देहरादून गए हुए थे कि सत्याग्रही जत्थों की भीड़-भाड़ देखकर ये भी उनमें सम्मिलित हो गए, अतः इन्हें १४-१५ दिन जेल में रखा गया और कुछ बेतों की सज़ा देकर छोड़ दिया गया।

सन् १९३१ में ये देहरादून गये और वहाँ नैशनल हिंदू स्कूल में अध्यापकी करने लगे; साथ ही अध्ययन भी करते रहे। कुछ महीनों के बाद ये लाहौर चले गए और वहाँ पञ्जाब विश्वविद्यालय की हिंदी परीक्षाओं की तैयारी में व्यस्त हो गए। लेकिन कुछ ही समय के बाद ये अपने भाई श्री परशुराम बडोनी के पास दिल्ली

आ गये और बाद में अधिकांश समय वहीं बिताया।

इन्हें बचपन से ही गहरा साहित्य-प्रेम था। देहरादून में रहते समय इन्होंने छोटी कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए 'हिंदी पत्र-बोध' नाम की एक पुस्तिका प्रकाशित की थी। दिल्ली पहुँचने पर ये उस क्षेत्र में और आगे बढ़े। इन्होंने पञ्जाब विश्वविद्यालय की क्रमशः 'रत्न', 'भूषण' और 'प्रभाकर' परीक्षायें सम्मान-सहित उत्तीर्ण कीं और फिर हिंदी साहित्य सम्मेलन की 'विशारद' और 'साहित्य-रत्न' परिक्षाओं में भी उत्तीर्ण हुए। तदुपरान्त इन्होंने कुछ मित्रों के सहयोग से दिल्ली में 'देवनागरी महाविद्यालय' की स्थापना की और उसके द्वारा युवक-युवतियों में उच्च हिंदी साहित्य के प्रति रुचि पैदा करने का सफल प्रयत्न किया। वहीं से सन १९३७ में इन्होंने "सुमन-सौरभ" नाम से अपनी कविताओं का संग्रह प्रकाशित किया; उस पुस्तिका में इनकी राष्ट्रीय भावनापूर्ण फुटकर कवितायें संग्रहीत हैं। इस लेख के प्रारंभ में उद्धृत पद उसी संग्रह से लिया गया है। उसकी 'जननी जन्मभूमि' शीर्षक कविता के दो पद इस प्रकार हैं—

"जिस जननी के शुचि रज-कण से, तन-मन है, यह जीवन है।
जिसके निस्सीम अनुग्रह से, मिलता उर को नित भोजन है॥
शुभ स्नेहमयी जिस गोदी में, विश्राम हमें मिलता नित है।
जिस राष्ट्र-ध्वजा के तले अहा! बन मोदमयी खिलता चित है॥

× × × ×

वह प्रेम की मूर्ति मनोरम हा! सुख-शान्ति से हीन अहो! अब है।
मुख मंजुल कान्तिविहीन बना उसको सुख हाय मिला कब है?
अकुला मत माँ! मन में अब तू, ललना ये जगीं, तव लाल जगे।
शुभ स्वच्छ 'सुमन' पद-पद्म चढ़ा, चित में नव चाव चढ़ाने लगे॥"

उन्हीं दिनों पत्रकार-कला की ओर ये आकर्षित हुये। उस सिलसिले में इन्होंने कुछ महीनों तक भाई परमानन्द की संरक्षता

में साप्ताहिक 'हिंदू' में सम्पादन-कार्य किया और फिर कुछ समय तक जगत्गुरु श्री शंकराचार्य के अंग्रेज़ी साप्ताहिक 'धर्म-राज्य' में भी कार्य किया। फिर आ गया सितम्बर, सन १९३७ वाला हिंदी साहित्य-सम्मेलन का शिमला-अधिवेशन। उस अवसर पर स्वागत समिति के कार्यालयाध्यक्ष की हैसियत से इन्होंने योग्यता व परिश्रम से कार्य किया; अतः सम्मेलन के तत्कालीन अध्यक्ष तथा हिंदी के यशस्वी पत्रकार श्री बा० वि० पराड़कर ने इनके कार्य की खूब प्रशंसा की।

देवनागरी-महाविद्यालय के कारण ये दिल्ली में लोकप्रिय हुए थे और शिमला-अधिवेशन के कारण ये अनेक अखिल भारतीय नेताओं और साहित्यिकों के सम्पर्क में आए। उन्हीं की प्रेरणा से सन १९३७ के शीत-काल में इन्होंने वर्धा जाकर राष्ट्रभाषा-प्रचार कार्यालय में काम लिया और काका कालेलकर आदि अनेक नेताओं के प्रिय पात्र बने। कुछ महीनों के बाद ये इलाहाबाद चले आए और वहां श्री लक्ष्मीधर बाजपेयी द्वारा संचालित साप्ताहिक 'राष्ट्र-मत' के सहकारी संपादक का कार्य करने लगे।

क्रियात्मक राजनीति तथा प्रारम्भिक संघर्ष

इस प्रकार ये साहित्यिक क्षेत्र में अच्छी गति से आगे बढ़ रहे थे, लेकिन जनता-जनार्दन की क्रियात्मक सेवा के बिना इन्हें चैन कैसे पड़ सकता था ? इस दिशा में कार्य करने के लिए इन्होंने सर्व-प्रथम सन १९३० में 'गढ़देश-सेवा-संघ' की स्थापना दिल्ली में कराई; वही बाद में 'हिमालय-सेवा संघ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फिर इन्होंने ज़िला गढ़वाल के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं से संपर्क स्थापित किया। इसी उद्देश्य से ये मई, सन १९३८ में श्रीनगर आए और ज़िला राजनैतिक सम्मेलन में सम्मिलित हुये। उस अवसर पर प्रथम बार इन्होंने श्री जवाहरलाल नेहरू को टिहरी-

गढ़वाल राज्य की दुर्दशा से परिचित कराया । वहीं से इन्होंने राज्य-गढ़वाल व ज़िला गढ़वाल की एकता का नारा बुलंद किया।

अब ये पूरी तरह पर सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट हो गए। इन्होंने ऋषिकेश, राजपुर, और मसूरी की कान्फ्रेंसों में भाग लिया और टिहरी के कष्टों के बारे में प्रस्ताव स्वीकृत कराये । उसके बाद ही २३ जनवरी, सन १९३९ को देहरादून में "टिहरी राज्य-प्रजा-मण्डल" की स्थापना हुई और ये उसकी संयोजक-समिति के मन्त्री निर्वाचित हुए । तदुपरांत उसी फर्वरी मासों में अखिल भारतीय देशी राज्य-लोक-परिषद् का ऐतिहासिक अधिवेशन लुधियाना (पंजाब) में सम्पन्न हुआ; श्री जवाहरलाल नेहरू उसके अध्यक्ष थे । ये उस अधिवेशन में सम्मिलित हुए और टिहरी तथा अन्य पहाड़ी रियासतों की समस्या को इन्होंने अखिल देश के मंच पर पहुँचा दिया । वहीं ये हिमालय प्रान्तीय देशी राज्यों की ओर से परिषद् की स्थायी समिति के विशेष सदस्य मनोनीत किए गये और अन्त तक उस पद पर रहे । २४ वर्ष से भी कम उम्र के एक युवक के लिए यह एक बड़े गौरव की बात थी; लेकिन उस पद पर रह कर इन्होंने जिस लगन के साथ कार्य किया, परिषद् के प्रधान मन्त्री लोक-नेता श्री जयनारायण व्यास ने इन शब्दों में उसकी प्रशंसा की है—"अखिल भारतीय देशी राज्य लोक-परिषद् की स्थायी समिति के ये यद्यपि सदस्य नहीं चुने जा सके थे, पर इनके सिवा टिहरी और शिमला की पहाड़ी की दूसरी रियासतों का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई नहीं था; अतः इन्हें हमेशा उन रियासतों का प्रतिनिधित्व करने के लिए बुलाया जाता था । इन्होंने कई चुने हुए मेम्बरों से ज्यादा दिलचस्पी ली, अतः इनके प्रति पण्डित जी (पं० जवाहर लाल नेहरू) और परिषद के सभी कार्य कर्ताओंका प्रेम-भाव था ।"

अब ये जमकर पर्वतीय प्रांतों और विशेषकर पहाड़ी रियासतों

के लिए दिन-रात काम करने लगे। 'हिमालय सेवा-संघ' के अन्तर्गत इन्होंने "हिमालय प्रांतीय देशी राज्य-प्रजा-परिषद्" की स्थापना कराई और उसके द्वारा पर्वतीय जनता में जागृति व चेतना लाने का इन्होंने अनथक प्रयत्न किया। उस परिषद् के एक विशेष अधिवेशन का सभापतित्व केन्द्रीय एसेंबली में कांग्रेस पार्टी के नेता ख्यातनामा श्री भूलाभाई देसाई ने किया। उन्हीं दिनों १६ जुलाई, सन १६३६ को शिमला के पास जब प्रजा का एक समूह धामी राज्य के राजा के पास अपनी मांगें पेश करने जा रहा था कि अचानक निहत्थी जनता पर गोलियों की बौछार कर दो गई! उस 'धामी गोलीकांड' का समाचार सुनकर ये तत्काल शिमला पहुँचे, घायलों की मरहम-पट्टी और सेवा-सुश्रूषा का प्रबन्ध किया तथा लोक-परिषद् की ओर से गोलीकांड की जाँच की। उस जाँच-समिति के अध्यक्ष श्री दुनीचन्द, एडवोकेट, एम० एल० ए० (पंजाब) थे और ये मन्त्री थे। उस जांच-समिति की रिपोर्ट के द्वारा इन्होंने शिमला की पहाड़ी रियासतों व विशेषकर धामी के काले कारनामों का पर्दा-फाश कर दिया। उस रिपोर्ट के बाद स्वभावतया लोक-परिषद् का ध्यान उस इलाक़े की समस्याओं के प्रति विशेष रूप से आकर्षित हुआ।

इधर ये इस प्रकार विस्तृततर कार्यक्षेत्र में संलग्न थे, उधर टिहरी-गढ़वाल राज्य के निवासियों की स्थिति "कर्मभूमि" में प्रकाशित इनके एक लेख के अनुसार इस प्रकार थी—"प्रजा की स्थिति आज यह है कि उसे आंतरिक पीड़ा है, पर वह रो नहीं सकती; कहीं बैठकर अपना दुखदर्द किसी को सुना नहीं सकती। वहां न कोई प्रेस है न प्लेटफ़ार्म। तरह-तरह के टैक्सों से आर्थिक शोषण चरम सीमा पर पहुँच गया है। उद्योग-धन्धों के अभाव में बेकार प्रजा अधिकांश छोटी-मोटी नौकरी के निमित्त बाहर पड़ी रहती है। भीतर बेगार व प्रभुसेवा की अमानवीय प्रथाएँ आज भी चालू हैं। पौनटोटी कर काफ़ी कष्टदायी हो चला है। शराब, अफ़ीम के ठेकों

का भी काफ़ी प्रचार है। युद्ध के बहाने प्रजा से जन-धन के लिये मनमानी हो रही है। विद्यार्थियों का दमन जारी है। इस तरह आज अपने ही राज्य में उसे पशु से भी पतित जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य किया जा रहा है!"

अतः उस 'पशु से भी पतित जीवन' में क्रियात्मक सुधार करने के उद्देश्य से इन्होंने सीधे टिहरी-गढ़वाल राज्य के अन्दर जम कर कार्य करने का संकल्प किया। इसी उद्देश्य से ये लैंसडौन से प्रकाशित राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका "कर्मभूमि" के सम्पादक-मंडल में सम्मिलित हो गये और उसके कालमों में राज्य की समस्याओं पर कई विचारपूर्ण लेख लिखे। फिर बनारस में 'हिमालय राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद्' की स्थापना कराके उसकी ओर से "हिमाञ्चल" नाम की एक पुस्तिका प्रकाशित कराई और उसको रियासत की जनता में वितरित कराया।

अब तक राज्याधिकारी इनकी ओर से कुछ लापरवाह थे; लेकिन जब स्वयं टिहरी में पहुँच कर इन्होंने इस प्रकार काम करना शुरू किया तो उनका माथा ठनका। उन्होंने झट से 'रजिस्ट्रेशन ऑफ़ एसोसियेशन्स एक्ट' के अन्तर्गत भाषण देने व सभा करने आदि की इन पर पाबन्दी लगा दी और पुलिस की गारद इन पर तैनात कर दी। जहां कहीं ये जाते छाया की तरह पुलिस इनका पीछा करती। लेकिन ये अपने पथ से विचलित नहीं हुए; 'यरवदा-चक्र' लेकर ये राज्य के अनेक भागों में घूमे और जनता पर छाये हुए आतंक को दूर करने का प्रयत्न किया। उन दिनों की एक मनोरंजक घटना श्री परिपूर्णानन्द पैन्यूली, पत्रकार, के अनुसार इस प्रकार है—"एक बार रात के ग्यारह बजे एक मिस्त्री के घर पर सशस्त्र पुलिस ने छापा मारा। पुलिस को सूचना मिली थी कि सुमनजी उस मिस्त्री के यहां लोगों को भड़का रहे हैं। वहां जाकर पुलिस वाले क्या देखते हैं कि एक बीमार स्त्री ज़मीन पर पड़ी कराह रही है

और सुमन जी पास बैठकर उसका माथा सहला रहे हैं। गृहपति वहां नहीं थे; फिर भी घर की तलाशी ली गई। बेचारी वृद्धा ज्वर से तड़प रही थी; फिर भी पुलिस वालों ने उससे उल्टे-सीधे प्रश्न किये। वह बेचारी क्या उत्तर देती? सुमन जी ने ही उनसे बातें कीं। आखिर उन लोगों को वहां से चुपचाप अपना-सा मुंह लेकर वापिस जाना पड़ा!"

इस प्रकार अनेक अड़चनों के बावजूद भी ये अपनी सेवा व तपस्या द्वारा जनता के हृदय पर अधिकार जमाये रहे; अतः राज्याधिकारियों ने नई पैंतरेबाज़ी बदली। पहिले तो इन्हें ललचाया गया कि—"तुम राज्य की नौकरी स्वीकार कर लो; तुम्हें ग्राम-सुधार अफ़सर बना दिया जायेगा; तब तुम कताई-बुनाई आदि का खूब प्रसार कर सकोगे।" पर ये उस झांसे में नहीं आये। अंत में क्रुद्ध होकर अधिकारियों ने इन्हें राज्य से निर्वासित कर दिया। तीन बार ये राज्य से बाहर निकाले गये और हर बार फिर अन्दर जाकर ये अपना काम शुरू कर देते। मई, सन १६४१ में अपने पहिले निर्वासन पर इन्होंने लिखा था—"यह कैसे संभव हो सकता है कि एक ओर तो प्रजा पर मनमानी चलती रहे और दूसरी ओर राज्य के सच्चे लोक-सेवकों पर अनावश्यक शक करके उन्हें निर्वासन दे दिया जाय और वे वैसे ही चुपचाप निश्चिंत होकर बैठ जायं? हमें यदि मरना ही है तो अपने सिद्धांतों और विश्वासों की घोषणा करते हुए मरने में ही श्रेय है!" अन्त में इनकी दृढ़ता देखकर राज्याधिकारियों ने इन्हें राज्य में घूमने-फिरने और प्रजामण्डल को रजिष्ट्री कराने का प्रयत्न करने की अनुमति दे दी। इस प्रकार संघर्ष के प्रथम दौर में ये विजयी हुये और यह प्रतीत होने लगा कि प्रजा को अपना संगठन करने और अपनी आवाज़ उठाने का पूरा मौक़ा मिलेगा। लेकिन दुर्भाग्यवश वह आशा शीघ्र ही निराशा में परिणित हो गई।

अगस्त-आंदोलन तथा अन्तिम आहुति

उसी बीच अगस्त, सन् १९४२ का भयंकर राजनैतिक झंझा-वात आ गया; और कांग्रेस के 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के साथ-साथ लोक-परिषद ने भी 'सार्वभौम सत्ता से नाता तोड़ो' और 'प्रजा से नाता जोड़ो' के नारे बुलन्द कर किए। उस अवसर पर परिषद की स्थायी समिति में भाग लेने के लिए ये बम्बई गए हुए थे; वहां से लौटकर इनका विचार टिहरी जाकर कार्यकर्ताओं की एक बैठक में भाग लेने का था, लेकिन ये अचानक २६ अगस्त को देवप्रयाग में गिरफ्तार कर लिये गये तथा लगभग दस रोज़ मुनीकीरेती में रखकर ६ सितम्बर को भारतीय पुलिस के हवाले कर दिये गये; उसने इन्हें देहरादून जेल में पहुँचा दिया। ये स्वयं टिहरी जेल में रहना चाहते थे, ताकि वहां साथी कार्यकर्ताओं का एक मजबूत मोर्चा क़ायम कर सकें; पर टिहरी दर्बार ने संयुक्त प्रांतीय सर्कार से मिलकर सब नैतिक व राजनैतिक नियमों के प्रतिकूल इन्हें ब्रिटिश हिरासत में दे दिया था। खैर, ये क़रीब ढाई महीने देहरादून जेल में रहे और फिर अन्य कार्यकर्ताओं के साथ सेंट्रल जेल, आगरा को परिवर्तित कर दिए गए। वहां ये लगभग पन्द्रह मास तक नज़र-बन्द रहे।

लगभग सवा वर्ष के जिस दौरान में ये ब्रिटिश भारतीय जेलों में रहे, उन दिनों टिहरी-गढ़वाल राज्य में दमन का बोलबाला रहा। इनकी गिरफ़्तारी के बाद ही लगभग ४० शिक्षित युवकों को बिना मुक़दमा चलाए ही जेल में ठूंस दिया गया; यही नहीं, जिस किसी पर ज़रा भी शक हुआ कि उसकी शामत आई। उस पर जेल में उन युवकों के साथ ऐसा कठोर बर्ताव किया गया जैसा कि नाज़ी जर्मनी के तथाकथित 'कन्सेन्ट्रेशन कैम्पों' में भी शायद नहीं किया गया होगा! इसीलिये बाद में एक अवसर पर श्री जवाहरलाल

नेहरू ने कहा था कि—"टिहरी राज्य के क़ैदखाने दुनिया में मशहूर रहेंगे, लेकिन इससे दुनिया में रियासत की कोई इज्ज़त नहीं बढ़ सकती !" ख़ैर, किसी प्रकार उन युवकों को लगभग एक साल की ग़ैरकानूनी नज़रबन्दी के बाद धीरे-धीरे रिहा कर दिया गया। लेकिन जेल के दुर्व्यवहार के कारण वे हड्डियों के ढांचे मात्र रह गए थे और अधिकांश का स्वास्थ्य हमेशा के लिए ख़राब हो गया था। उस पर भी उन्हें भारी-भारी ज़मानतों पर अपने गांवों में सीमित कर दिया गया और पुलिस को नियमित हाज़िरी देने आदि की अपमानपूर्ण शर्तें लगा दी गईं।

ऐसी परिस्थितियों के बीच ये अपने साथियों के साथ आगरा जेल से १६ नवम्बर, सन् १६४३ को रिहा हुए। अन्य साथी तो अपने उजड़े घर बसाने तथा अपने थके-मांदे शरीरों को विश्राम देने में लग गए, लेकिन इन्होंने अपनी अन्तरात्मा की पुकार सुन कर राज्य के अन्दर जाने का निश्चय किया। मित्रों और शुभ-चिन्तकों ने समझाया कि क्यों आग की धधकती भट्टी में अपने आप को झोंकते हो ? लेकिन इनके शब्द थे—"मैं अपने शरीर के कण-कण को नष्ट हो जाने दूँगा, किन्तु टेहरी के नागरिक अधिकारों को न कुचलने दूँगा !"

ऐसी अदमनीय साहसिकता के साथ ये राज्य में घुसे। प्रवेश करने से पहले ही इन्होंने अधिकारियों को सूचित कर दिया था कि दर्बार व प्रजामण्डल के बीच ये एक सम्मानपूर्ण समझौता कराना चाहते हैं और अपनी व अन्य सब कार्यकर्ताओं की सारी ताक़त रचनात्मक कार्यों पर लगाना चाहते हैं। लेकिन राज्याधिकारी उस सन्धि-प्रस्ताव को क्यों स्वीकार करने वाले थे ? उनका तो एक-मात्र ध्येय प्रजा के संगठन को सदा के लिये कुचल देना था ! अतः राज्य की सीमा में प्रविष्ट होते ही पुलिस का एक दस्ता इनका पीछा करने लगा। १८ दिसम्बर को ये अपने गांव पहुँचे और अपनी

ममतामयी माता के आंचल की छाया में दस दिन तक विश्राम किया; पुलिस का पहरा उस बीच बराबर लगा रहा। आखिर २७ दिसम्बर को इन्होंने टिहरी की ओर प्रस्थान किया; लेकिन ये चम्बाखाल में पुलिस द्वारा रोक दिये गये। इन्होंने वहीं बैठकर राज्याधिकारियों को पत्र लिखे और एक बार फिर रचनात्मक कार्यक्रम की अपनी बात को दुहराया। साथ ही उस पत्र के अन्त में इन्होंने लिखा कि—"यदि एक भी व्यक्ति अपने आदर्श पर स्थिर रहेगा तो वह भी असली उद्देश्य का पूर्ण प्रतिनिधित्व करेगा। किसी प्रतिबंध के साथ मुझे केवल बन्दी की स्थिति में ही रखा जा सकता है; अन्यथा नहीं!" इनके उस सन्धि-प्रस्ताव का उत्तर टिहरी-सर्कार ने इनकी गिरफ्तारी से दिया; ३० दिसम्बर की शाम एक बन्द मोटर-कार में इन्हें रखकर अंधेरे में ही सीधे टिहरी जेल पहुँचा दिया गया, जहां से कि फिर इनका शव ही बाहर निकल सका!

३० दिसंबर, सन् १६४३ से २५ जुलाई, सन् १६४४ तक के २०६ दिन इन्होंने उस नारकीय जेल में बिताये। इन्हें शुरू से ही परेशान किया गया और माफ़ी मंगाने की कोशिश की गई। जब ये नहीं माने, तब दौड़धूप के बाद टिहरी-राज्य-संग्रह की धारा १२४ (अ) के अन्तर्गत मुक़द्दमा दायर कर दिया गया; डरा-धमका कर गवाह तैयार किये गये; इन्होंने स्वयं अपने मामले की पैरवी की और एक लिखित बयान पेश किया। उसमें इन्होंने कहा था—"मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि मैं जहां अपने भारत देश के लिये पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय में विश्वास करता हूँ, वहां टिहरी-राज्य में मेरा व प्रजामण्डल का उद्देश्य वैध व शांतिपूर्ण उपायों से श्री महाराज की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन प्राप्त करना और सेवा के साधन द्वारा राज्य की सामाजिक, आर्थिक तथा सब प्रकार की उन्नति करना है। हां, मैं ने प्रजा की भावना के विरुद्ध वाले क़ानूनों और कार्यों की अवश्य आलोचना की है और मैं इसे प्रजा

का जन्मसिद्ध अधिकार समझता हूँ।" अन्त में इन्होंने लिखा था—"यदि यह बयान देकर मैं आपको तथा श्री महाराज को इस झूठे अभियोग व दोष से निर्दोष होने का विश्वास न करा सका, तो यहीं अपना जीवन देकर भी मैं अपने देश, उद्देश्य, सिद्धांत व संस्था की रक्षा करूँगा! मैं प्राण रहते इस प्रकार इस राज्य के सार्वजनिक जीवन का अंत न होने दूँगा!!" इस पर भी २१ फ़र्वरी, सन १९४४ को मजिस्ट्रेट ने इन्हें दो वर्ष का कारावास और २००) जुर्माने की सज़ा सुना दी, क्योंकि वह तो अपने उच्च अधिकारियों से 'आदेश' लेकर आया था!

अब ये एक सज़ायाफ्ता क़ैदी हो गये और इनके साथ उसी प्रकार का व्यवहार किया जाने लगा। उस दुर्व्यवहार से खीझ कर इन्होंने २९ फर्वरी से २१ दिन का उपवास प्रारम्भ किया; चौथे दिन जेल-कर्मचारी कुछ झुक गए और आश्वासन दिया कि ये प्रजा-मण्डल के प्रश्न पर श्री महाराज से लिखा-पढ़ी कर सकेंगे; तथा कष्ट भी कुछ कम कर दिए गए। ये एक मास तक प्रतीक्षा करते रहे; लेकिन कोई परिणाम न निकला; और धीरे-धीरे व्यवहार में भी कठोरता आने लगी। इन्होंने मांग की कि मैं श्री महाराज तक अपनी बातें पहुँचाना चाहता हूँ; लेकिन उसके बदले इन्हें गालियाँ व बेंत मिले। इन्होंने और १५ दिन तक प्रतीक्षा की और जब किसी प्रकार का उत्तर नहीं मिला तो ३ मई, सन १९४४ से अपना ऐतिहासिक अनशन प्रारम्भ कर दिया!

जिस दिन से इन्होंने अनशन प्रारम्भ किया, इन पर अवर्णनीय अत्याचार प्रारम्भ हो गये। चौदह दिन के बाद जेल-कर्मचारियों ने ऊपर के अधिकारियों को खबर दी। अट्ठाईसवें दिन एक मजिस्ट्रेट व एक डाक्टर आये और इन्हें जबर्दस्ती दूध पिलाने की कोशिश की, पर सफल नहीं हुए। अड़तालीसवें दिन स्वास्थ्य व जेल-विभाग के मिनिस्टर तशरीफ़ लाए और इन्हें अनशन तोड़ने

की प्रेरणा की, लेकिन अपनी मांगें पूरी हुए बिना व्रत भंग करना इन्होंने स्वीकार नहीं किया। इधर जब किसी प्रकार इनके अनशन का समाचार बाहर पहुँचा तो कई स्थानों से तार भेजे गए तथा पूछताछ की गई; लेकिन पहिले तो अनशन की खबर ही न फैलने दी गई; फिर यह कहा गया कि ये नली से दूध पी रहे हैं और अंत में यह फैला दिया गया कि इन्होंने उपवास ही समाप्त कर दिया है, ताकि सब के उद्विग्न मन शान्त हो जायँ और अधिकारियों को अपनी लक्ष्य-प्राप्ति का पूरा मौक़ा मिल सके!

आख़िर ११ जुलाई को अनशन के सत्तरवें दिन फिर वे ही मिनिस्टर तशरीफ लाए और यह कहा कि—"श्री महाराज तुम्हारी तपस्या से बहुत दुखी हैं; इसी ४ अगस्त को उनका जन्म-दिवस है; उस दिन तुम रिहा कर दिए जाओगे। तुम क्यों नहीं अपना अनशन भंग कर देते?" इनमें अब बातें करने की भी ताक़त नहीं रह गई थी; फिर भी ये पूर्ण शक्ति संचित करके बोले—"क्या मैंने अपनी रिहाई कराने के लिए ही यह क़दम उठाया था? ऐसा माया-जाल डालकर आप मुझे विचलित नहीं कर सकते। अगर प्रजा-मण्डल को रजिस्टर्ड किये बिना मुझे रिहा कर दिया गया तो फिर भी मैं अपना अनशन जारी रखूँगा!" निदान वे चले गए। इधर इनकी हालत बिगड़ती चली गई। कर्मचारियों ने यह प्रसिद्ध कर दिया कि इन्हें न्यूमोनिया हो गया है; लेकिन आश्चर्य की बात है कि इन्हें क़ुनैन के 'इन्ट्रावीनस' इन्जेकशन लगाए गये। अतः इनके सारे शरीर में खुश्की फैल गई और ये पानी-पानी चिल्लाने लगे। आख़िर उसी हालत में इन्हें २० जुलाई की रात से बेहोशी आने लगी। ये घण्टों बेहोश रहते और फिर कुछ देर के लिये होश में आ जाते। आख़िर २५ जुलाई, सन १९४४ की शाम क़रीब चार बजे इन्होंने अपने देश, आदर्श व संस्था का नाम स्मरण करते हुए भगवान की गोद में अक्षय विश्राम लिया! और उसी रात इनकी

लाश एक कम्बल में लपेट कर चुपके से भिलंगना की जलधारा में प्रवाहित कर दी गई !!

१७ अक्तूबर, सन १६०६ ई० को दीपमालिका के दिन उसी भिलंगना की धारा में टिहरी नगर से क़रीब डेढ़ मील उत्तर की ओर भारत माता के एक और वरेण्य पुत्र स्वामी रामतीर्थ ने जल-समाधि ली थी। उसी भिलंगना की धारा में २५ जुलाई, सन १६४४ की रात को अमर शहीद श्रीदेव सुमन के शव को जल-मग्न किया गया। शायद इन दोनों महापुरुषों की आत्माओं में कोई चिरन्तन साम्यता थी !!!

× × × × ×

इनके बलिदान का चमत्कार

श्री सुमन की शहादत ने सारे देश पर मानों वज्रपात कर दिया। पहिले से सब समाचार दबाये गए थे अथवा तोड़-मोड़ कर प्रकाशित किए गये थे; अतः सब स्थानों में वह दुस्समाचार बड़ी वेदना से सुना गया। फिर सम्बन्धियों को इनका शव न दिए जाने के कारण रोष व असन्तोष की लहर दौड़ गई ! टिहरी दर्बार ने सरसरी जांच करके मामले पर लीपापोती की तथा देशी राज्य-लोक-परिषद् के मंत्री श्री जयनारायण व्यास तथा जांच-समिति के प्रधान श्री बद्रीदत्त पांडे, एम० एल० ए० (केन्द्रीय) आदि पर राज्य के अंदर प्रवेश करने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये । फिर भी उस समिति ने जांच करके वास्तविक तथ्यों का पता लगाया। इसीलिए ३१ दिसम्बर, सन १६४५ को उदयपुर में लोक-परिषद का एक विशाल अधिवेशन श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुआ; उसमें यह प्रस्ताव स्वीकृत किया गया —"गत साढ़े तीन वर्षों के दौरान में रियासतों में आजादी की लड़ाई में जिन शहीदों ने लड़ते हुये बलिदान किया है उनके प्रति यह कान्फ्रेंस

सम्मान प्रकट करती है। इन्हीं शहीदों में एक वीर-आत्मा श्रीदेव सुमन थे, जो टिहरी-गढ़वाल की जेल में जान-बूझ कर किये गए दुर्व्यवहार के शिकार बनाकर मार डाले गए। उन्होंने हिम्मत और त्याग का जो आदर्श उपस्थित किया, वह चिरकाल तक लोगों को याद रहेगा और रियासती जनता को अनुप्राणित करता रहेगा।"

इनके निधन पर इनके मित्रों ने इनकी स्मृति-रक्षा का आयोजन किया। प्रथम वार्षिक तिथि पर श्री सत्यदेव विद्यालङ्कार (दिल्ली) ने 'शहीद श्रीदेव सुमन' पुस्तिका प्रकाशित की; द्वितीय वार्षिक तिथि पर, लेखक ने 'सुमनाञ्जलि' पुस्तिका प्रकाशित की तथा तृतीय पुण्य तिथि पर, २५ जुलाई, सन १६४७ को, लेखक द्वारा सम्पादित 'सुमन-स्मृति-ग्रन्थ' प्रकाशित हुआ। साथ ही चम्बाखाल में स्थानीय जनता ने 'सुमन हायर सेकण्डरी स्कूल' चालू किया है; तथा शासन ने नरेन्द्रनगर के 'हेली अस्पताल' का नाम बदल कर 'सुमन-अस्पताल' रख दिया है।

इनका परिवार भी साधारणतया खुशहाल दशा में है—साध्वी माता जीवित हैं; पत्नी श्रीमती विनयलक्ष्मी ने कन्या गुरुकुल देहरादून में शिक्षा पाई है; बड़े भाई श्री कमलनयन घर का कारोबार देखते हैं; उनसे छोटे भाई श्री परशुराम बडोनी स्वयं एक राष्ट्रीय कार्यकर्ता हैं और जन-आंदोलन में कारावास-यातना भुगत चुके हैं।

लेकिन इनका सबसे बड़ा स्मारक स्वयं टिहरी-गढ़वाल का वर्तमान ज़िला है; क्योंकि इन्हीं के बलिदान के फलस्वरूप यहां जन-आन्दोलन की वह लहर आई कि कुछ दिनों बाद ही राज्याधिकारियों ने प्रजामण्डल को वैधानिक क़रार दे दिया; मई, सन १६४७ में टिहरी नगर में उसका प्रथम शानदार अधिवेशन हुआ; जनवरी, सन १६४८ में जनता ने उत्तेजित होकर कीर्तिनगर, देवप्रयाग व टिहरी पर अधिकार कर लिया तथा प्रजामण्डल का मंत्रि-

मण्डल स्थापित हुआ; और १ अगस्त, सन १९४९ को टिहरी-गढ़वाल राज्य का विलीनीकरण करके वर्तमान ज़िले का स्वरूप स्थिर हुआ। यह निश्चित है कि अपने आदर्शों की वेदी पर साहस और गौरव के साथ न्यौछावर हो जाने वाले नर-पुङ्गव शहीद की अमर आत्मा स्वर्ग में भी अत्यन्त सन्तुष्ट और प्रसन्न हो रही होगी। अतः आइये, श्री मनोहर लाल उनियाल 'श्रीमन' के शब्दों में हम भी कह उठें कि—

'अमर ज्योति के बुझे दीप ओ! अटल ध्येय के ध्रुव तारे।
युग-युग नयन करें अभिनन्दन नभ को देख तुम्हारे॥'

---

(१३) श्री महन्त लक्ष्मण दास

(निधन-तिथि—२४ अप्रैल, सन १९४५ ई०)

देहरादून के प्रसिद्ध मठाधीश तथा दानवीर श्री महन्त लक्ष्मणदास का जन्म मार्च, सन १८७३ ई० को टिहरी नगर से लगभग १० मील पश्चिम की ओर भागीरथी गंगा के दाहिने तट पर स्थित एक ग्राम में हुआ था। इनके पिता एक साधारण स्थिति के ग़रीब ब्राह्मण थे। उनकी कई सन्तानें पैदा होकर अल्पायु में ही कालकवलित हो चुकी थीं; अतएव बुढ़ापे की इस अन्तिम सन्तान का उन्होंने 'जोगी' (योगी) नाम रखा और धार्मिक श्रद्धा के अनुकूल श्री बद्रीनारायण की जंगम प्रतिमा 'बोलांदा बद्रीनाथ' श्री टिहरी-नरेश को भेंट चढ़ा दिया!

इन्हें बचपन से ही आध्यात्मिकता की ओर रुचि थी और साधु-सन्तों के सत्संग की ये तलाश में रहा करते थे। साथ ही अपनी सखा-मंडली का नेतृत्व करके ये सेवा-कार्यों को सम्पादित किया करते थे। टिहरी में उस ज़माने में एक वृद्ध उदासीन बाबा का गंगा-तट पर अखाड़ा था; ये वहीं प्रायः बैठा करते, उनकी

धूनी के लिए बड़े-बड़े लक्कड़ ला देते और उनके साथ कीर्तन किया करते थे। एक दिन सोलह वर्ष की आयु में अकस्मात् ये घर से निकल पड़े और महाराज की कृपा तथा अपनी ब्राह्मण-वृत्ति की चिंता न करते हुए ये उत्तराखंड के विभिन्न केन्द्रों में इस आशा से भ्रमण करने लगे कि कहीं किसी सच्चे आध्यात्म-वेत्ता के दर्शन प्राप्त हों, जो इन्हें मुक्ति के मार्ग पर ले जा सके। उसी भ्रमण के सिलसिले में इन्हें देहरादून पहुँच कर दर्बार श्री गुरु रामराय के तत्कालीन अध्यक्ष महन्त प्रयागदास के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे इनके शील, सदाचार और सेवाभाव पर मुग्ध हो गए और इन्हें अपने गुरुद्वारे में रहने की अनुमति दे दी। इनके कुछ समय तक वहाँ निवास करने के बाद वे इनके गुणों से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने अपने सम्प्रदाय विशेष की दीक्षा देकर इन्हें अपना चेला बना लिया और गुरुपद के लिए अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। और अपने गुरु के निधन के बाद १६ नवम्बर, सन १८६७ ई० को २४ वर्ष की आयु में ये गद्दीनशीन हुए। इस प्रकार एक ग़रीब भगोड़ बालक को एक सम्पत्तिशाली मठ का अधिकारी बनने का सुअवसर प्राप्त हुआ!

यह गुरुद्वारा महाराज फतेहशाह के शासन-काल में गुरु रामराय ने स्थापित किया था। ये गुरु रामराय सिक्खों के सुप्रसिद्ध दस गुरुओं में से नहीं थे; तथापि सिक्खों का एक बड़ा सम्प्रदाय उनका अनुयायी था, क्योंकि वे एक इतिहास-प्रसिद्ध करामाती योगी थे। चूंकि तत्कालीन सिक्ख-समाज का उनके प्रति सहयोग भाव नहीं था, अतः उन्होंने मुग़ल सम्राट औरंगज़ेब से सिफारिशी पत्र लिखा कर महाराज फतेहशाह के दर्बार में शरण ली। उन्होंने उदारतापूर्वक दून की समतल घाटी में कुछ गांव दान कर दिये। गुरु रामराय ने अपनी भक्त-मण्डली के साथ वहाँ पहुँच कर डेरा डाल दिया और गुरुद्वारे की स्थापना की। उसी 'डेरा' शब्द से

बिगड़ कर 'देहरा' बना और उसमें 'दून' (समतल घाटी) शब्द जोड़कर वर्तमान 'देहरादून' का जन्म हुआ। गुरु के वहाँ डेरा जमा लेने पर धीरे-धीरे आबादी बढ़ने लगी और कालान्तर में वह एक बड़ा नगर बन गया। जीवन के अन्तिम दिनों में वे उदासी साधु हो गए थे और निस्सन्तान होने के कारण उन्होंने अपने एक चेले को उत्तराधिकारी करके वर्तमान व्यवस्था चालू की; उस गद्दी के अधिकारी 'श्री महन्त सज्जादे नशीन' कहलाते हैं।

गुरु रामराय के देहावसान के बाद उनकी धर्मपत्नी श्रीमती पंजाबकौर ने वर्तमान विशाल गुरुद्वारे का भवन-निर्माण कराया, तथा बाद में जितने भी महन्त उस गद्दी पर विराजमान हुए, उन सबने उस स्थान को विस्तृत और सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया। गढ़वाल राज्य के महाराजाओं ने इस गुरुद्वारे को बाद में और भी कई गाँव प्रदान किए और इस प्रकार उसकी सम्पत्ति और प्रतिष्ठा में वृद्धि की। धीरे-धीरे इस संस्था ने अखिल भारतीय महत्व प्राप्त कर लिया और अब भी प्रति वर्ष होलियों के बाद चैत कृष्ण पञ्चमी को झंडे के मेले के अवसर पर हजारों व्यक्ति दूर-दूर से आकर यहाँ भेंट चढ़ाते हैं। श्री गुरु रामराय का निधन-दिवस प्रति वर्ष सितम्बर में 'गुरु पर्व' के नाम से मनाया जाता है; उस दिन भी विशेष समारोह किया जाता है। सिक्खों का एक वर्ग विशेष तो इसे अपने आराध्यदेव का पवित्र स्थान मानता ही है, साथ ही सामान्यतया सब हिंदू भी इसे आदर की दृष्टि से देखते हैं और भेंट चढ़ाया करते हैं। ये इस महत्वपूर्ण गद्दी के आठवें महन्त थे और इन्होंने अपनी सच्चरित्रता तथा योग्यता के द्वारा इसकी प्रतिष्ठा को और भी अधिक बढ़ाया। ये लगभग ४८ वर्ष के लम्बे समय तक उस गद्दी पर आसीन रहे और अपनी व्यवहार-कुशलता के द्वारा सब दिशाओं में सफलता प्राप्त की।

इन्होंने उपरोक्त प्रकार अध्यात्म-भावना का प्रसार करने के

साथ-साथ दर्बार साहब की सर्वतोन्मुखी उन्नति की। एक ओर इन्होंने अपव्यय की रोक-थाम की, दूसरी ओर अपने सुप्रबन्ध से उसकी सम्पत्ति तथा तज्जनित आय में भी वृद्धि की। इन्होंने गुडरिच, रुद्रपुर, गड्डूल, आदि कई नये गाँव खरीदे तथा मकान बनाए और साथ ही देहरादून नगर के उत्तरोत्तर विकास को दृष्टि-पथ में रखते हुये इन्होंने हज़ारों बीघे भूमि उत्सुक व्यक्तियों को बेच दी या 'लीज़' पर दे दी; साथ ही स्वयं भी कई मकान बनवाये और दुकानों का निर्माण कराया। इसी उद्देश्य से इन्होंने 'लक्ष्मण चौक' और 'लक्ष्मण नगर' की स्थापना कराई। इस प्रकार यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि वर्तमान विशाल देहरादून नगर का विकास अधिकांशतया इन्हीं की दूरदर्शिता और उदारता का परिणाम है।

आय बढ़ाने वाले मकानों तथा दुकानों के अतिरिक्त इन्होंने संगमरमर का फ़र्श आदि अन्य कई नई बातों को जोड़कर दर्बार साहब के सौंदर्य और आकर्षण में वृद्धि की। साथ ही इन्होंने अनेक बाग़ व बाटिकायें लगाईं; उनमें से चार-पांच बाग़ तो अपने ढंग की दर्शनीय चीज़ें हैं और देहरादून की शोभा हैं। किन्तु ये नियम के इतने पक्के थे कि अपने जीवन-काल में इन्होंने कभी एक भी फल उन बाग़ीचों से नहीं खाया! फल मंगा कर अपने हाथों से औरों को खिलाते रहते थे और पूछने पर कहते थे कि—"हम तो इन फलों के रखवाले मात्र हैं!!" इसी प्रकार दर्बार साहब के लंगर में ये अमीर, ग़रीब, फक्कड़, अपाहिज सब प्रकार के व्यक्तियों को बिना किसी भेद-भाव के दोनों समय भोजन कराया करते थे; साथ ही आवश्यकतानुसार मार्ग-व्यय, वस्त्र, कम्बल व नक़द धन भी ये स्वयं अपने हाथों से बांटते थे। इनके समय में याचकों तथा अभ्यागतों की दैनिक उपस्थिति एक हज़ार तक हो जाया करती थी।

उपरोक्त प्रकार के फुटकर दानों के अतिरिक्त शिक्षा के क्षेत्र में इन्होंने विशेष रूप से उत्साह दिखाया। चूंकि ये गुप्त दान के प्रबल पक्षपाती थे, इसलिये यह कहना कठिन है कि कितने छात्रों ने इनकी दानशीलता से लाभ उठाया; तथापि यह निश्चित है कि सैंकड़ों छात्रों ने इनसे आर्थिक सहायता प्राप्त की। विशेषकर निर्धन गढ़वाली छात्रों की तो इन्होंने अतुलनीय सहायता की; सैकड़ों की संख्या में वे दर्बार साहब के मकानों में निशुल्क रहते थे, लंगर से भोजन पाते थे, और उनकी फ़ीस व पुस्तकों के लिए अलग धन भी दिया जाता था। आज भी ऐसे अनेक बैरिष्टर, वकील, डाक्टर और उच्च पदों पर प्रतिष्ठित गढ़वाली तथा अन्य व्यक्ति मौजूद हैं, जो यह स्वीकार करते हैं कि यदि उन्हें इनसे सहायता नहीं मिलती तो वे अपनी शिक्षा पूर्ण नहीं कर सकते थे। स्वामी संतोषानन्द का लिखना है कि—"एक बार मैंने महाराज जी की सेवा में प्रार्थना की कि 'जितना व्यय आप शिक्षा सम्बन्ध से प्राइवेट रूप में करते हैं, उतने में एक स्कूल आसानी से चल सकता है और जितने रूपये पुस्तक-दान में प्रति वर्ष जाते हैं, उतने ही से दो-चार साल में एक अच्छा सम्पन्न पुस्तकालय बन सकता है।' ये दोनों वस्तुयें जन-समुदाय की दृष्टि से अधिक उपयोगी होंगी। यह सुन कर महाराज जी ने मुस्कराते हुए कहा—'स्वामी जी, दिखावे का धर्म श्रेयस्कर नहीं। मैं तो इस सिद्धांत को मानता हूँ कि नेकी कर कुयें में डाल !"

छात्रों की इस प्रकार सहायता करने के अतिरिक्त इन्होंने एक निशुल्क संस्कृत विद्यालय-की भी स्थापना की; उस संस्था से बहुत से छात्र संस्कृत की उच्चतम परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए। छात्रों के व्यायामादि के लिये इन्होंने स्वनिर्मित 'लक्ष्मण पार्क' में एक 'स्पोर्टस क्लब' भी चालू कराया। साथ ही फ़ुटबौल की अखिल भारतीय प्रतियोगिता इन्होंने प्रारम्भ कराई; उसे 'महन्त कप फ़ुटबाल टूर्नामेंट' कहते हैं

और उसमें प्रतिवर्ष भारत के विभिन्न स्थानों से टीमें सम्मिलित होती हैं। इसके साथ-साथ इन्होंने रोगियों की निशुल्क सेवा के लिये एक चिकित्सालय व रसायनशाला भी स्थापित की; इनमें विशेषकर छात्रों को अधिकतम सुविधा दी जाया करती थी। इन्हें कला से भी बड़ा स्नेह था। इनकी बैठक इसी कारण अद्भुत वस्तुओं का एक अच्छा संग्रहालय बन गई थी। इन्होंने स्थानीय कलाकारों को यथेष्ट प्रोत्साहन दिया और बाहर से जो भी संगीतज्ञ व चित्रकार देहरादून आये उनका खूब आदर-सत्कार किया।

इनकी इसी प्रकार की दानशीलता व पटुता के कारण केवल देहरादून में ही नहीं, बल्कि सारे देश में इनकी प्रतिष्ठा थी तथा राजा व प्रजा में इनका समान रूप से सम्मान था। देहरादून पधारने पर वायसराय व गवर्नर भी दर्बार साहिब को देखने आया करते थे। अपने उदासीन-मण्डल के ये सर्वश्रेष्ठ नेता थे; साथ ही साधु-समाज-सुधार के प्रवर्तक व समर्थक थे। सन् १६१६ ई० में अंग्रेज़ी सर्कार ने यह विचार प्रकट किया था कि हरिद्वार में गंगा की धारा पलट दी जाय; उसका परिणाम यह होता कि ब्रह्मकुण्ड में गंगा-जल का प्रवाह बहुत कम हो जाता। इस बात को लेकर सारे देश में एक आंदोलन उठ खड़ा हुआ। इन्होंने उसमें उत्साहपूर्वक भाग लिया। उस अवसर पर महामना श्री मदनमोहन मालवीय प्रभृति अनेक प्रमुख व्यक्ति हरिद्वार में एकत्र हुए और तत्कालीन वायसराय के समक्ष एक शिष्टमण्डल ले जाने का निश्चय हुआ। अपनी योग्यता और प्रभाव के कारण ये उस शिष्टमण्डल के नेता चुने गए और वायसराय ने यह मान लिया कि ब्रह्मकुण्ड में प्रवाह पूर्ववत निरविच्छिन्न रहेगा; और उस आश्वासन पर अभी तक अमल हो रहा है। हरिद्वार में इन्हीं के प्रयास से उस तीर्थ की पवित्रता की रक्षा के लिये 'गंगा सभा' की स्थापना हुई; वह संस्था अभी तक कार्य कर रही है।

इस प्रकार महन्त-पद के ४८ वर्ष इन्होंने बड़ी सफलता से व्यतीत किये। इनका बचपन का नाम 'जोगी' था; और ये सच्चे मानों में 'योगी' सिद्ध हुए। अपनी आध्यात्मिकता के कारण देश भर के साधु-सन्यासी व धर्मप्राण लोग इनका आदर करते थे; इसीलिये अपने जीवन में जब दो बार इन्होंने भारत के चारों धामों तथा उत्तराखण्ड के तीर्थस्थानों की यात्रा की तो सब स्थानों पर इनका विशेष स्वागत-सत्कार हुआ। इनकी दानशीलता की अन्त में इतनी प्रसिद्धि फैल गई थी कि लोग इन्हें 'उत्तर-भारत का कर्ण' कहने लगे थे। विशाल वैभव व सम्पदा के बीच भी ये प्रभु के एक सच्चे भक्त और जनता के एक विनीत सेवक थे; सादगी इनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी; एक साधारण व्यक्ति के निमंत्रण पर भी ये सहर्ष उसके यहाँ पहुँच जाते थे; वास्तव में महाराज जनक की भाँति ये वैभव में रह कर भी निर्लिप्त थे। इतना ऊँचा पद प्राप्त करने पर भी इन्हें अपने गढ़वाली होने का गौरव था; बोलचाल में हमेशा गढ़वालियों के साथ गढ़वाली बोली में वार्तालाप करते थे; इसी कारण इनसे पहिले जहाँ देहरादून के नये बसे हुये मैदानी लोग गढ़वालियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे, वहाँ इनकी योग्यता व कार्यकुशलता से प्रभावित होकर उनकी भावना में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया था। आखिर प्रभु का बुलावा आ गया; और ७२ वर्ष की आयु में २४ अप्रैल, सन १९४५ ई० की रात ९ बजे इन्होंने अपनी ऐहिक लीला संवरण करके परम धाम की यात्रा की।

यह परम सौभाग्य की बात है कि इन्होंने समय रहते अपनी ही जैसी लगन वाले एक गढ़वाली विद्यार्थी को सुयोग्य, सच्चरित्र व प्रगतिशील देखकर अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था; उन्हें इन्होंने अच्छी तरह दीक्षित किया तथा हिन्दी, संस्कृत व अंग्रेजी की उच्चतम शिक्षा से विभूषित कराया। वे अब महन्त श्री

इंदिरेश चरण दास के नाम से दर्बार श्री गुरू रामराय की गद्दी पर विराजमान हैं। वे एक सुशिक्षित, सुसंस्कृत, उदार, व्यवहार-कुशल तथा देशसेवी व्यक्ति हैं; स्वाधीनता-संग्राम में सक्रिय भाग ले चुके हैं और खादी व स्वदेशी के अनन्य उपासक हैं। उन्होंने दर्बार की सम्पत्ति का आदर्श प्रबन्ध करने के साथ-साथ स्वर्गीय महन्त जी की स्मृति में 'श्री लक्ष्मण विद्यालय हायर सेकण्डरी स्कूल' की स्थापना करके निशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की है। साथ ही देश व समाज-सुधार के प्रत्येक लाभकारी कार्य में अग्रगण्य भाग लेकर वे वर्तमान सब मठाधीशों के समक्ष एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

---

(१४) श्री चन्द्रकुंवर बर्त्वाल

(निधन-तिथि—१४ सितम्बर, सन १९४७ ई०)

"श्री चन्द्रकुंवर बर्त्वाल कब हिन्दी-संसार में आये और कब चले गये, इसका किसी को पता न लगा। पर उनके रूप में हिन्दी-संसार ने अपना सबसे बड़ा गीति-काव्य रचयिता पाया और खो दिया।...हिमालय में निश्चित समय पर गाने वाले 'काफल पाक्कू' पक्षी के गान की तरह चन्द्रकुंवर के सुरीले मुक्तक मन और आत्मा को काव्य-सौंदर्य के एक नये लोक में उठा देते हैं, और वह आनंद अंत में इस कारण और कसक के साथ समाप्त हो जाता है कि इस प्रकार के सौंदर्य का गान करने वाला कवि इतनी जल्दी हमसे विलग हो गया! उसकी वाणी के परिपाक से हमारी भाषा और भी धन्य होती, पर ऐसा न हो सका। जो कुछ भी अट्ठाईस वर्ष की आयु में उनसे हमें मिल सका, वह ही अद्भुत है। उनकी लिखी हुई कविताओं की संख्या लगभग सात सौ तक है और शुद्ध मुक्तक के आनंद की दृष्टि से कितनी ही इतनी सुन्दर हैं कि वे निखिल हिन्दी-संसार की सम्पत्ति कही जा सकती हैं।"

जिन श्री चन्द्रकुँवर बर्त्वाल के प्रति हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान तथा पुरातत्ववेत्ता डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने उपरोक्त शब्द लिखे हैं, उनका जन्म ज़िला गढ़वाल की तल्ला नागपुर पट्टी के मालकोटी ग्राम में वृहस्पतिवार, २० अगस्त, सन १९१९ ई० को हुआ था। इनके पिता श्री भूपाल सिंह बर्त्वाल ज़िला बोर्ड की प्राइमरी स्कूलों में अध्यापक थे और उन्नति करते-करते बाद में हिंदी मिडिल स्कूलों के प्रधानाध्यापक हो गये थे। उन्होंने पट्टी कालीपार के पंवालिया ग्राम में बाद को कुछ भूमि ख़रीद ली और अधिकांश समय वहीं रहने लगे। इनकी माता का नाम श्रीमती जानकी देवी था। अपने माता-पिता की ये सर्व-प्रथम सन्तान थे, अतः इन्हें उनका पूरा प्यार मिला।

पिता के अध्यापक होने के कारण इन्होंने उन्हीं के साथ प्रारम्भिक शिक्षा पाई और जहाँ-जहाँ वे स्थानान्तरित होते गये, वहीं इन्हें भी अपनी शिक्षा जारी रखनी पड़ी। अतः इन्होंने नागनाथ स्कूल से हिंदी मिडिल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। तदुपरान्त ये मिशन स्कूल, पौड़ी, में प्रविष्ट हो गये और यहाँ से सन १९३५ में इन्होंने हाइ स्कूल की परीक्षा में सफलता प्राप्त की। फिर ये देहरादून चले गये और वहाँ के डी० ए० वी० कौलेज से सन १९३७ में इंटरमीडियेट परीक्षा उतीर्ण की। उसके बाद ये प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हो गये और सन १९३९ में बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। लेकिन उसके बाद कुछ स्वास्थ्य बिगड़ जाने और आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक न होने के कारण ये आगे न पढ़ सके तथा पूरे दो वर्ष घर पर ही विश्राम करते रहे। स्वास्थ्य कुछ ठीक हो जाने पर इन्होंने फिर आगे अध्ययन करने का निश्चय किया तथा सन १९४१ में लखनऊ विश्वविद्यालय की एम० ए० कक्षा में प्रविष्ट हो गये; अपने अध्ययन के लिए इन्होंने 'पुरातन भारतीय इतिहास' का विषय लिया। पर उसी वर्ष दिस-

म्बर मास में इनका स्वास्थ्य फिर बिगड़ गया और मजबूर होकर इन्हें अपना अध्ययन-कार्य स्थगित कर देना पड़ा।

ये अपने गाँव पंवालिया चले आये और अपना इलाज कराते रहे। वहाँ निश्चिन्तापूर्ण निवास के कारण कुछ वर्षों में इनका स्वास्थ्य पूर्णतया सुधर गया और ये स्थानीय व निकटवर्ती इलाक़े की सार्वजनिक हलचलों में भाग लेने लगे। उन दिनों उस इलाक़े के केन्द्र स्थान--अगस्त्यमुनि--में एक हाइ स्कूल की आयोजना की जा रही थी; जन-सेवी भावना रखने के कारण ये उसकी प्रवन्ध-समिति में सम्मिलित हो गये और धन-संग्रह-कार्य में उसे सहायता दी। उसी काल में इन्होंने लगभग एक वर्ष तक उस स्कूल में अध्यापन-कार्य भी किया। लेकिन इन्हें वहाँ अनेक प्रकार की कठिनाइयों के मध्य अपना जीवन बिताना पड़ा; वेतन तथा अन्य प्रश्नों पर प्रवन्धक के साथ इनका तीव्र मतभेद पैदा हो गया। उस भलेमानुष ने इनका वेतन ही अदा नहीं किया, बल्कि इन्हें तरह-तरह से परेशान और बदनाम करने की कोशिश भी की। इन परिस्थितियों ने राज्यक्षमा के इनके पुराने रोग को फिर उभाड़ दिया और इस बार जो ये चारपाई पर लेटे तो फिर उठ न सके। आख़िर, जीवन के अन्तिम क्षण तक साहित्य की एकान्त साधना करते हुए, इन्होंने केवल २८ वर्ष २४ दिन की अल्पायु में ही, रविवार, १४ सितम्बर, सन १६४७ ई० को अपनी इहलौकिक लीला मन्दाकिनी गंगा के तीर पर स्थित अपने उस पंवालिया ग्राम में संवरण कर दी, जिसके बारे में स्वयं इन्होंने लिखा है—

"मेरे गृह से सुन पड़ती गिरि वन से आती
हंसी स्वच्छ नदियों की, सुन पड़तीं विपिनों की
मर्मर ध्वनियां, सदा दीख पड़ते द्वारों से
खुली खिड़कियों से हिमगिरि के शिखर मनोहर,
उड़-उड़ आतीं क्षण-क्षण शीत तुषार हवायें,

मेरे आंगन छू बादल हंसते गर्जन कर,
झरती वर्षा, आ वसन्त कोमल फूलों से—
मेरे घर को घेर गूंज उठता; विहगों के दल
निशि-दिन मेरे विपिनों में उड़ते रहते।
कोलाहल से दूर शांत नीरव शैलों पर
मेरा गृह है, जहां बच्चियों-सी हंस-हंस कर
नाच-नाच बहती हैं, छोटी-छोटी नदियां
जिन्हें देखकर, जिनकी मीठी ध्वनियां सुनकर,
मुझे ज्ञात होता जैसे यह प्रिय पृथ्वी तो
अभी-अभी ही आई है, इसमें चिन्ता को
और मरण को स्थान अभी कैसे हो सकता !"

इनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय

इन्होंने निबन्ध, कहानियां, एकांकी, आलोचनायें, गद्य-काव्य, यात्रा-विवरण, विवेचनायें आदि अनेक प्रकार की रचनायें कीं; उनका अपना ही महत्व है; लेकिन ये मुख्यतया एक कवि थे और उसी रूप में इन्होंने हिन्दी-साहित्य में अपना स्थान सुरक्षित कर लिया है।

प्रारम्भ में इनकी कवितायें अपनी विद्यालय-पत्रिकाओं में निकलीं। फिर 'कर्मभूमि' का प्रकाशन प्रारम्भ होने के बाद सन् १९३९ से इनकी कवितायें उसमें प्रकाशित होने लगीं। उसी पत्रिका से इनकी कुछ कवितायें अन्य पत्रिकाओं ने भी उद्धृत कीं। उदाहरणस्वरूप, इनकी 'चूहा-बिल्ली' कविता ७ अगस्त, सन् १९३९ ई० की 'कर्मभूमि' में प्रकाशित हुई थी; फिर 'विशाल-भारत' ने उसे उद्धृत करके छापा और वहां से श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने अपनी पुस्तक 'हिंदी के वर्तमान कवि और उनकी कविता' में उद्धृत किया। इस प्रकार हिंदी-संसार को इनका परिचय मिलने लगा।

कुछ समय बाद इनके सहपाठी व अनन्य मित्र श्री शम्भुप्रसाद बहुगुणा ने 'नागिनी' शीर्षक से इनके फुटकर निबन्धों का संग्रह प्रकाशित किया; और बाद में 'हिमवन्त का एक कवि' शीर्षक से इनकी काव्य-प्रतिभा पर एक परिचयात्मक पुस्तिका सन् १९४५ ई० में प्रकाशित की। उस पुस्तिका के प्रकाशित हो जाने पर, उन्हीं के शब्दों में, "काव्य और जीवन के दिव्य पारखियों ने चन्द्रकुंवर को 'अपूर्व वरदान', 'मातृ भापा का महान कवि,' 'चमत्कार' आदि रूपों में स्वीकार कर लिया; और चन्द्रकुंवर के 'काफल पाक्कू' को हिंदी का सर्वश्रेष्ठ गीति के रूप में पहिचान कर 'प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रंथ' में उसे स्थान दिया।"

इनके देहावसान के बाद श्री बहुगुणा के सम्पादकत्व में 'नंदिनी' गीति-कविता प्रकाशित हुई। उस गीति-कविता की पांडुलिपि पर स्वयं इन्होंने लिखा है—"प्रस्तुत पुस्तिका मेरे आठ वर्षों के जीवन का इतिहास है। प्रथम खंड उस समय लिखा गया था, जब यौवन-सुलभ कामनाएं हृदय में चक्कर मार रही थीं। द्वितीय खंड उस समय लिखा गया था, जब मैं रोगों के चंगुल में फंस गया था और मेरे परिवार में अनेक शोकजनक घटनाएं घटीं। तृतीय खंड उस समय लिखा गया जब मैं एकाएक नास्तिक से आस्तिक हो गया और ईश्वर पर दृढ़ विश्वास मेरे जीवन का श्वास-प्रश्वास हो गया।" इस कविता के बारे में श्री आचार्य भारतीय ने लिखा है—"स्वच्छंद बहने वाली सरिता की भांति भापा-प्रवाह वाली इस कविता की सबसे बड़ी विशेपता यह है कि वह भाव और कला दोनों पक्षों का स्पर्श करती हुई आनन्दोत्सिक्त होकर जीवन को सतपथ की ओर ले जाने का सन्देश देती है। रस, भाव, चमत्कृति, अन्तर्द्वन्द की अभिव्यंजना, भावशवलता, व्यावहारिकता आदि दृष्टियों से 'नंदिनी' अत्युत्तम है।" भावनगर (सौराष्ट्र) के श्री हरिशंकर मूलशंकर मूलानी ने सम्मति प्रकट की है कि—"'नंदिनी' का हर

एक चरण सुन्दर, शीतल, सरल, शांत, दर्द से भरा हुआ है। इस कविता के भाव और कल्पनाओं से इंगलिश कवि श्येले और गुजराती के राजकवि कलापी की याद आती है। हिंदी-साहित्य के ऐसे आशा-दीप को परमात्मा ने इतना अल्पायु क्यों किया होगा ?"

उपरोक्त पुस्तक के बाद श्री बहुगुणा ने 'कंकड़-पत्थर', 'जीतू', 'गीत-माधवी', 'प्रणयिनी' और 'पयस्विनी' आदि शीर्षकों से इनके कई कविता-संग्रह प्रकाशित किये। साथ ही अपनी 'विराट-हृदय' शीर्षक पुस्तक में, अन्य विषयों के साथ-साथ, इनकी काव्य-प्रतिभा की तुलनात्मक समीक्षा भी की है।

इन्होंने हिमालय की माधुरी का विपद वर्णन किया है; वास्तव में ये 'हिमवन्त-पुत्र' थे; इनकी अधिकांश कविताओं में नगाधिराज हिमालय की चोटियों, जल-धाराओं, वनों आदि की झांकी दिखाई देती है। जिन कविताओं में हिमालय का सीधा उल्लेख नहीं है उनमें भी पर्वतीयता की अनोखी पुट स्पष्टतया प्रतीत होती है। इन्होंने अपना सारा जीवन प्रायः पहाड़ों के मध्य में बिताया था, इसीलिये ये प्रकृति के साथ अपनी भावना का सुन्दर गीतात्मक समन्वय करने में असाधारण सफल हुए हैं।

इनके गानों व कविताओं में वेदना का स्पष्ट संकेत है; और यह स्वाभाविक भी था। क्योंकि लगभग आठ वर्षों तक ये राजयक्ष्मा रोग से पीड़ित रहे और उस बीच जीवन व मृत्यु के साथ इनका अनवरत संघर्ष चलता रहा। इन्हें क्षण-क्षण में प्रतिध्वनित रहस्यमयी मृत्यु का विलक्षण संदेश मिलता रहता था। इसीलिये अपनी अनेक कविताओं में इन्होंने आती हुई स्पष्ट दिखाई पड़ने वाली मृत्यु का उल्लेख किया है। लेकिन इनके जीवन में वेदना की कसक लाने का एक और भी कारण था। डा० अग्रवाल के अनुसार—
"यद्यपि अपने शरीर की विशेष अवस्था के कारण कवि विवाह-बंधन में न बंध सका, फिर भी कविताओं से ज्ञात होता है कि विक-

सित होते हुए यौवन के किसी ललाम मुहूर्त में एक रूप-माधुरी ने उसकी आंखों में प्रेम का उज्ज्वल प्रकाश भर दिया था। किसी दूसरे के साथ विवाहिता बन कर, संसार के विशाल जन-समूह में 'शीला' कहीं लीन हो गई। परन्तु उसकी अकल्मष रूप-माधुरी कवि की चाह बन कर कविता में समा गई। प्रेम का यह रस-स्रोत कवि के मुक्तकों को विलक्षण सरसता प्रदान कर गया है।"

ऐसी मूलभूत वेदना के होते हुए भी, इन्होंने निराशा को कभी समीप नहीं आने दिया; इन्हें मृत्यु-विजय पर अटल विश्वास था और ये यह आंतरिक भावना लेकर इस संसार से विदा हुए कि "हलाहल पान करके भी जिस सरस्वती की धारा को हृदय बहा रहा है, वह कभी देश-जीवन की सम्पत्ति होगी।" इसीलिये इन्होंने 'काफलपाक्कू', कोयल, कुत्ता, कौआ, चींटी, गधा, गिलहरी सरीखी छोटी-छोटी वस्तुओं पर सुन्दर आकर्षक कविताएं लिखीं। साथ ही इन्होंने 'मेकौले के खिलौने', 'अल्लाह की जबान', 'राम-नाम की गोलियां' आदि शीर्षकों से राजनैतिक व सामाजिक विषयों पर सुन्दर चुटकियां भी लीं।

इनकी इसी प्रकार की प्रतिभा के कारण श्री शम्भुप्रसाद बहुगुणा ने लिखा है—"विश्व के अंतर्गत तथा उसके ऊपर-नीचे जितने जीवन-व्यापार हो सकते हैं, उन तक कवि की पहुँच रही है। चींटी से लेकर आकाश के एक तारे और जन्म से लेकर मृत्यु के पश्चात् के लोकों के दृश्यों को भी कवि अनुभूति-पथ में ले आने में सफल हुआ है। शैलियों की विविधता, शब्दों के असीम सागरों और अनुभूतियों के अथाह प्रवाहों में कवि ने अपने प्राणों की तन्मयता को एक किया है। इसी से चन्द्रकुँवर, हिमवन्त के होते हुए भी, हिमवंत भर के नहीं हैं; हिंदी के होते हुए भी हिंदी भर के ही नहीं हैं; भारत के होते हुए भी भारत ही के नहीं हैं; और इस जगत के होते हुए भी इसी विश्व तक सीमित नहीं रहे।"

इनकी कविताओं के कुछ नमूने

इन्होंने इतने विषयों पर इतनी कवितायें लिखी हैं कि उनका परिचय देना प्रायः असम्भव है; उनके लिए तो इनकी प्रकाशित पुस्तकों का अध्ययन करना अनिवार्य है; तथापि बानगी के तौर पर, इनकी विभिन्न विषयों तथा भावों की कविताओं के कुछ नमूने प्रस्तुत किये जाते हैं—

पूजा (चूहा-बिल्ली)

बिल्ली की मां तुलसी-माला लेकर शिव की पूजा करती,
चूहे की मां, बिल भीतर शिव-सहसनाम को जपती !
बिल्ली की माँ कहती, हे शिव मेरे बच्चों को चूहे दो !
चूहे की माँ कहती, हे शिव बिल्ली से हमें बचाओ !
चूहे की माँ की शिव-विनती, शिव के मन्दिर की ओर चली,
बिल्ली की माँ की विनती भी शिव जी से मिलने को निकली,
बिल्ली की माँ की विनती ने, चूहे की माँ की विनती को,
रास्ते में ही कर लिया हज़म, उत्तम भोजन से मोटी हो,
जब वह शिव जी के पास गई; बोले, 'तथास्तु' शिव खुश होकर
फिर क्या ! भक्तिन के बच्चे ने मारे सब पापी इधर-उधर !

सूरजमुखी

वह सूरज की ओर देखती चिर-तपस्विनी,
खड़ी हुई है शान्त भाव से स्थल की नलिनी,
चिर प्रसन्न मुख कहीं न जिस पर दुख की छाया,
अश्रुसिक्त अंजलि-सी धरणी की शुचि काया,
रवि से बिछुड़ी एक किरण-सी खड़ी धरा पर,
जलती पूजा के प्रदीप की लौ-सी सुन्दर,
वह रवि-मुख की तृषित चकोरी दिन भर हंसती,

प्रिय का दर्शन पीती रहती, कभी न थकती,
वह सूरज की धीर अनुचरी रह भू पर ही,
नयनों से ही निज प्रिय का अनंत पथ चलती,
सूरज उतर रहे अस्ताचल के शिखरों पर,
खड़ी हुई है वह पीली किरणों से घिर कर,
लौटेंगी जो किरणें फिर निज सूर्यलोक को,
निज संदेशों से सुरभित करती है उनको,
वह उपवन में फूली सूरजमुखी अकेली !

रैमासी

कैलाशों पर उगते ऊपर, राई-मासी के दिव्य फूल
मां गिरिजा दिन भर चुन जिनसे भरतीं अपना पावन दुकूल
मेरी आंखों में आये वे राई-मासी के दिव्य फूल !
मैं भूल गया इस पृथ्वी को, मैं अपने को भी गया भूल,
पावनी सुधा के श्रोतों से, उठते हैं जिनके अरुण मूल,
मेरी आंखों में आये वे राई-मासी के दिव्य फूल।
मैंने देखा, थे महादेव बैठे हिमगिरि पर दूर्वा पर,
डमरू था मौन, भूमि पर गड़ा था चमक रहा उज्ज्वल त्रिशूल,
सहसा आईं गिरिजा, बोलीं, "मैं लाई नाथ अमूल्य भेंट !"
हंस कर देखे शंकर ने राई-मासी के दिव्य फूल;
मैं भूल गया इस पृथ्वी को, मैं अपने को भी गया भूल।

हिम-प्रदेश का एकान्त

मैं किस प्रदेश में आ पहुंचा ? हैं चारों ओर खड़े पर्वत
जिनका हिम झरनों में झरता, जिनके प्राणों को झरनों का
संगीत मधुर मुखरित करता !
जिसके नीचे सुन्दर घाटी धानों से पीली पड़ी हुई

जिससे सुगंधि की मृदु लहरें मारुत में उड़ती निकल रहीं !
गिरि-वन से छूटी एक नदी घाटी में गाती घूम रही
आंखों में रवि का बिम्ब नचा अधरों पर धर-धर चूम रही।
निर्जन-तट पर, फूलों से पड़ पीली लतिकाएं झुई हुई,
भौंरों की गूंजों से हिलती, छवि शांत पवन मे रुकी हुई !
मैं लता-भवन में आ ठहरा, कोकिल मेरे ऊपर कूकी
फूलों से झर-झर सुरभि झरी, केसर से पीत हुई भ्रमरी
केसर से दूर्वा ढकी हरी !

कितना एकांत यहाँ पर है ! मैं इसी कुंज में दूर्वा पर
लेटूंगा आज शांत होकर जीवन भर चल-चलअब थक कर !
ये पद जो गिरि पर सदा चढ़े, चोटी से घाटी में उतरे
सुनसान पर्वतों से होकर, घनघोर जंगलों में विचरे
ये पद विश्राम मांगते अब, इस हरी-भरी धरती में आ
ये पद न थके जो अभी कभी, वे अब न सकेंगे पग भर जा !
मेरे अंगों में फैल रही है, निद्रा की स्वप्नमयी ममता
आंखों में भरती शनैः शनैः विपिनों की धूमिल नीरवता।
झरनों के स्वर प्राणों को हर ले जाते धीरे आज कहाँ
निर्जन शिखरों पर फूलों में नीरवता फैली हुई जहाँ
ले जाते पुष्प धरातल में बीजों के बीच मुझे—जिन पर
रक्खे न अभी आशाओं ने जीवन के रंग-बिरंगे कर !
अपने उदगम को लौट रही अब बहना छोड़ नदी मेरी,
छोटे से अणु में डूब रही अब जीवन की पृथ्वी मेरी !
आंखों में सुख से पिघल-पिघल ओठों में स्मिति भरता भरता
मेरा जीवन धीरे-धीरे इस सुन्दर घाटी में मरता !

'नंदिनी' के कुछ अन्तिम पद

प्यारे गीत, बहुत दिन रहे साथ, हम जग में,

रोते-गाते हुए बढ़े, हम जीवन-मग में;
आज समाप्ति हुई पथ की, अब मुझे विदा दे—
लौटो तुम, जाने दो दूर मुझे जीवन से,
रह अभिन्न, होता हूं तुमसे आज विलग मैं,
मेरे गीत, बहुत दिन रहे साथ, हम जग में।
तुम इस पथ से लौट, पुनः पृथ्वी में जाओ,
तुम जग के अधरों पर, मेरे स्वर ले जाओ,
मैं जाता हूँ ईश्वर की प्रशांति पाने को,
तुम लौटो पृथ्वी पर, सुखपूर्वक गाने को,
तुम गाओ, जग को रहने के योग्य बनाओ,
तुम सब के अधरों पर, मेरे स्वर ले जाओ।
पापी को तुम पुनः, पुण्य पथ पर लौटाना,
तुम नास्तिक को दृढ़ आस्तिक, दृढ़ भक्त बनाना,
देना दुखिया को धीरज, निराश को आशा,
करना वितरित, पृथ्वी पर, सुख की शुचि भाषा,
पतनोन्मुख जीवन को, तुम दे बांह, बचाना,
तुम नास्तिक को दृढ़ आस्तिक, दृढ़ भक्त बनाना।

इस प्रकार हिमवन्त-पुत्र अपनी आंतरिक सुन्दरता तथा आध्यात्मिकता का सन्देश सुनाकर प्रभु की गोद में पहुँच गए। इनके माता-पिता का भी देहांत हो चुका है। इनके छोटे भाई श्री जयकृष्ण प्राइमरी स्कूलों में अध्यापक हैं। स्वयं ये अविवाहित रहे। पर इनके मानस-पुत्र—इनकी रचनाएँ—युग-युगों तक इनका नाम अमर किये रहेंगी। गढ़वाल को वास्तव में इस बात का गौरव है कि उसने हिन्दी तथा विश्व के साहित्य को ऐसा उत्कृष्ट गीति-कार कवि प्रदान किया। इनकी रचनाओं का जितना ही प्रचार व प्रसार होगा, उतनी ही शांति व प्रसन्नता इनकी आत्मा को प्राप्त होगी।

(१५) महाराज नरेन्द्रशाह

(निधन-तिथि—२२ सितम्बर, सन १९५० ई०)

टिहरी-गढ़वाल राज्य के आधुनिकता-प्रेमी सुयोग्य शासक महाराज नरेन्द्रशाह का जन्म ३ अगस्त, सन १८९८ ई० को प्रतापनगर में हुआ था। राजर्षि महाराज कीर्तिशाह तथा महारानी नैपालिया के ये एकमात्र पुत्र थे। अतः इन्हें प्रारम्भ से ही उत्कृष्ट पालन-पोषण प्राप्त हुआ तथा शिक्षा की आधुनिकतम सुविधा मिली। लेकिन अभी ये १५ वर्ष के भी नहीं हो पाये थे कि महाराज कीर्तिशाह का २५ अप्रैल, सन १९१३ ई० को देहावसान हो गया। अतः इन्हें राजतिलक करके मेयो कौलेज अजमेर में शिक्षा के लिये भेज दिया गया। ये उस विद्यालय में सन १९१३ से सन १९१९ (छै वर्ष) तक रहे और इन्होंने वहां की सर्वोच्च परीक्षा उत्तीर्ण की।

इनके उस अध्ययन-काल में राज-कार्य का संचालन एक रीजेंसी कौंसिल द्वारा सम्पन्न हुआ। प्रारम्भ में कुछ समय तक राजमाता नैपालिया कौंसिल की अध्यक्षा रहीं। पर अपने अस्वास्थ्य के कारण उन्होंने उस भार से कुछ दिनों बाद मुक्ति पा ली; तब पहिले मि० शैमियर और फिर मि० म्योर नाम के दो अंग्रेज उस कौंसिल के अध्यक्ष पद पर रहे। आखिर शिक्षा प्राप्त करने के बाद २१ वर्ष की आयु में ४ अक्तूबर, सन १९१९ ई० को विजयादशमी के पवित्र अवसर पर इन्हें राज्याधिकार प्राप्त हुआ। उससे पहिले अध्ययन-काल में ही २ फ़र्वरी, सन १९१६ को इनका विवाह हिमांचल-प्रदेश की क्यूंठल रियासत की दो राजकुमारियों—सगी-बहिनों-के साथ हो चुका था; उस राज्य में बहिनों का एक साथ विवाह कर देने की प्रथा बहुत पीढ़ियों से चली आ रही थी, इसी कारण वह संयुक्त विवाह सम्भव हुआ—उनमें से बड़ी रानी का नाम श्रीमत कमलेन्दुमती था; और छोटी का श्रीमती इन्दुमती।

इन्होंने लगभग २७ वर्षों तक शासन किया और उस शासन-काल में अपने राज्य को उन्नत करने की यथाशक्ति कोशिश की। विशेषकर जंगलात विभाग को उन्नत करने में इन्होंने बहुत दिलचस्पी ली। इस उद्देश्य से इन्होंने राज्य के कई सुयोग्य युवकों को देहरादून के जंगलात-विद्यालयों में शिक्षित कराया और कुछ व्यक्तियों को तो जर्मनी व फ्रांस में जंगलाती कार्य की उच्चतम ट्रेनिंग भी दिलाई; साथ ही जर्मनी से प्रोफ़ेसर हैस्के नाम के एक विशेषज्ञ को बुलाकर राज्य भर के जंगलों की जांच-पड़ताल कराके एक विकास-योजना तैयार कराई। इनके इन्हीं प्रयत्नों के फलस्वरूप जंगलात-विभाग में अनेक सुधार हुये और राज्य की आमदनी में आशातीत वृद्धि हुई।

इसके अतिरिक्त इन्होंने ओडाथली नामक स्थान पर नरेंद्रनगर को बसा कर अपनी निर्माण-कला का परिचय दिया। नरेंद्रनगर की स्थापना सन् १६२१ में प्रारम्भ हुई और महल का निर्माण हो जाने पर इन्होंने सन् १६२५ ई० में वहां अपना निवास प्रारम्भ किया। उसके बाद वहां सेक्रेटैरियट व अन्य कई भवनों का निर्माण किया गया; यह क्रम लगभग दस वर्ष तक चलता रहा और अनुमानतः ३० लाख रूपये उस सारे निर्माण-कार्य पर ख़र्च हुए। उन दिनों प्रत्येक कार्य की ये स्वयं देखभाल करते थे और हर समय विस्तृत हिदायतें देते रहते थे।

नरेंद्रनगर को वाह्य-संसार से सम्बद्ध करने के लिये ही इन्होंने सर्वप्रथम मुनीकीरेती से वहां तक मोटर-सड़क का निर्माण कराया। उसके बाद इन्होंने मुनीकीरेती से देवप्रयाग तक गंगा के किनारे-किनारे मोटर-सड़क का निर्माण कराया; तथा कुछ वर्षों बाद उसे और आगे कीर्तिनगर तक बढ़ा दिया। इधर नरेंद्रनगर से टिहरी तक भी मोटर-सड़क बनवा कर इन्होंने राज्य के उस सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्रस्थान का मैदानी इलाक़ों से सीधा सम्पर्क स्थापित

करा दिया । राज्य में और भी मोटर-सड़कें बनाने की योजना इनके दिमाग़ में थी; विशेषकर भागीरथी-घाटी में टिहरी से उत्तरकाशी तक की मोटर-सड़क का सर्वे कराके इन्होंने धारासू तक 'एलाइन-मेण्ट' भी करा दिया था ।

शिक्षा-प्रसार से इन्हें विशेष अनुराग था । कई छोटे-छोटे स्कूल खोलने के सिवाय इन्होंने प्रताप हाइ स्कूल को इंटरमीडियेट कौलेज बनाया । साथ ही ये प्रतिवर्ष एक बड़ी रक़म छात्रवृत्तियों में दिया करते थे । इन्होंने कई छात्रों को विदेशों में आर्थिक सहायता प्रदान की; भारत के विद्यालयों में तो प्रति वर्ष दर्जनों छात्र इनसे सहायता प्राप्त करते थे । ज़िला गढ़वाल के लैंसडौन स्कूल को ४०००) और कर्णप्रयाग स्कूल को ३०००) की विशेष सहायता इन्होंने दी थी । इन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय को सन् १९३३ में महाराज कीर्तिशाह की स्मृति में एक लाख रूपये की एकमुश्त रक़म तथा ६०००) वार्षिक सहायता दान में दी; उस पूँजी के आधार पर ही वहां महाराज 'सर कीर्तिशाह चेयर ऑफ़ इंडस्ट्रियल केमिस्ट्री' की स्थापना की गई और अभी भी उसके अन्तर्गत 'औद्योगिक रसायनशास्त्र' की उच्चतम शिक्षा प्रदान की जा रही है ।

शासन-भार ग्रहण करते समय टिहरी, देवप्रयाग, उत्तरकाशी और राजगढ़ी में अस्पताल चल रहे थे; इन्होंने उनको खूब उन्नत किया तथा उनके लिये कई नये यन्त्र मंगवाये । साथ ही इन्होंने नरेंद्रनगर में एक नए अस्पताल का निर्माण कराया और थडियार व पुरोला में डिस्पेंसरियां खोलीं; कई आयुर्वेदिक औषधालय भी इन्होंने चालू किये ।

इस प्रकार के छोटे-बड़े अनेक कार्यों के अतिरिक्त इन्होंने कई पंचायतें और 'राज्य-प्रतिनिधि सभा' (रिप्रेज़ेंटेटिव एसेंबली) की भी स्थापना की । प्रारम्भ में कुछ वर्षों तक वह बिल्कुल ही प्रभावहीन थी; लेकिन सन् १९३९ में इन्होंने उसके अधिकार-क्षेत्र

व संगठन में काफ़ी विस्तार किया। इन्होंने निर्वाचित सदस्यों की संख्या नामज़द मेम्बरों से बढ़ा दी तथा निर्वाचन में जनता के मताधिकार को भी कुछ विस्तृत कर दिया। तथ्य यह है कि उन दिनों भारत के बहुत कम देशी रजवाड़ों में टिहरी-गढ़वाल के समान प्रतिनिधिसत्तात्मक संस्थाओं का उदय हो पाया था; विशेषकर हिमालय प्रदेश में स्थित रजवाड़ों में तो इसी कारण उन दिनों टिहरी-गढ़वाल का प्रमुख स्थान हो गया था।

अपने राज्य को आधुनिक साधनों से सम्पन्न करने के उद्देश्य से इन्होंने पश्चिमी देशों में जाकर वहां की स्थिति का अध्ययन करना भी आवश्यक समझा। अतः छै बार इन्होंने विदेश-यात्रा की। इन यात्राओं में इन्होंने रूस, यूनान व तुर्की को छोड़कर यूरोप के सब देशों का भ्रमण किया। साथ ही अपनी अंतिम विदेश-यात्रा में इन्होंने संयुक्त राष्ट्र अमरीका तथा कनाडा का भी भ्रमण किया। इन यात्राओं का एक उद्देश्य स्वास्थ्य-सुधार भी था। सन १९२३ ई० में, जब ये २५ वर्ष के ही थे, इन पर गठिया रोग ने आक्रमण किया; इन्होंने भारत में उपलब्ध सर्वोत्तम चिकित्सकों से सहायता ली और उनके परामर्श से यूरोप जाकर अपना इलाज कराया। परिणामस्वरूप कुछ वर्षों बाद वह रोग प्रायः पूर्णतया शांत हो गया था। उपरोक्त विदेश-यात्राओं के अतिरिक्त इन्होंने दो बार भारत के सब मुख्य तीर्थस्थानों की यात्रा की और एक बार श्री बद्रीनारायण व श्री केदार धाम के भी दर्शन किए। एक बार विद्यार्थी जीवन में ही ये श्रीलंका भी जा चुके थे; और सन १९४१ में विगत विश्व-महायुद्ध के दिनों में गढ़वाली फ़ौजों का निरीक्षण करने के लिये इन्हें सिंगापुर व मलाया भी जाना पड़ा था।

इनकी इसी प्रकार की आधुनिकता तथा शासन-पटुता से प्रभावित होकर ब्रिटिश गवर्नमेंट ने इन्हें उच्चातिउच्च सम्मान प्रदान किया था। गढ़वाली फौजों के ये स्थायी लेफ० कर्नल नियुक्त किए

गये थे; साथ ही इन्हें 'सर' तथा के० सी० एस० आई० की सम्मान-नीय उपाधियां प्रदान की गई थीं; बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय ने भी इनकी अनुभवशीलता और शिक्षा-प्रेम को देखकर सन १९३७ ई० में इन्हें एल-एल० डी० (डाक्टर औफ़ लौ—विधि-आचार्य) की उपाधि से विभूषित किया था।

इस प्रकार ये योग्यता तथा सम्मान के साथ शासन-कार्य चला रहे थे; तथापि २६ मई, सन १९४६ ई० को इन्होंने उस भार से मुक्त होने की घोषणा कर दी। उसी वर्ष अक्तूबर मास में विजया-दशमी के शुभ अवसर पर बड़े राजकुमार को महाराज मानवेन्द्र-शाह के नाम से राज्याधिकार प्राप्त हो गया; और ये एक प्रकार से बानप्रस्थी जीवन बिताने लगे। उसी बानप्रस्थी अवस्था में २२ सितम्बर, सन १९५० ई० को नरेन्द्रनगर से अपनी कार को स्वयं चलाते हुए जब ये टिहरी की ओर जा रहे थे, राजमहल के पास ही अचानक मोटर-दुर्घटना हो गई और फलस्वरूप ५२ वर्ष की आयु में ही इनका अकस्मात देहावसान हो गया!

इनका व्यक्तिगत जीवन बहुत सीधा-सादा था। अधिकाँश समय ये भारतीय पोशाक ही पहिना करते थे। इन्हें शिकार खेलने या अमीरों की इसी प्रकार की आमोदप्रियताओं के प्रति कोई आक-र्षण नहीं था। ये प्रातः नौ बजे से शाम पाँच बजे तक जम कर अपने दफ़्तर में कार्य करते थे; और फिर महल में वापिस लौटकर अपना शेष समय अपने परिवार के सदस्यों के साथ ही व्यतीत किया करते थे! इन्होंने जीवन भर शराब छुई तक नहीं। इसी कारण अन्य राजाओं की महफ़िलों अथवा वायसराय आदि की पार्टियों में इन्हें अड़चन का सामना पड़ता था; पर ये अन्त तक अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे। यहां तक कि जब ब्रिटिश सम्राट के निवास-स्थान—बकिंघम पैलेस—में इन्हें अन्य अतिथियों की भांति शराब की प्याली दिखलाई गई, तब भी इन्होंने उसे धन्यवादपूर्वक अस्वीकार

करके अपनी दृढ़ता का परिचय दिया ! इन्हीं गुणों के कारण अनेक विद्वानों, दार्शनिकों व योगियों से इनका घनिष्ट परिचय था; उनमें से डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, कुमारी मीरा बहिन और स्वामी ज्ञानानन्द प्रमुख थे। इन्हें अपने 'गढ़वालीपन' का भी बड़ा अभिमान था और अपने प्रदेशवासियों से सर्वदा शुद्ध गढ़वाली बोली में बातें किया करते थे।

राज्य-कार्य में ये समय की गति को पहिचानने वाले मितव्ययी शासक थे। इन्होंने अपने राज्य को सब प्रकार की आधुनिक सुविधाओं से सम्पन्न करने का प्रयत्न किया। ये एक-एक पैसे का हिसाब रखते थे; राज्य-कोष का सर्वोत्तम उपयोग करने की इन्हें चिन्ता रहती थी। इसीलिये विलीनीकरण के समय, जबकि अन्य अनेक देशी रजवाड़ों के खज़ाने खाली पाए गये, वहां उस अवसर पर टिहरी-गढ़वाल के कोष में क़रीब एक करोड़ रुपये प्राप्त हुए—यह इन्हीं की मितव्ययिता का परिणाम था। समय की गति पहिचानने की सूझ इनमें थी; इसीलिए जब राज्य-गढ़वाल के भविष्य पर निर्णय करने का प्रश्न पैदा हुआ, तब टिहरी राज्य-प्रजा-मंडल के मिनिस्टरों व अन्य अधिकारियों की इच्छा के विरुद्ध भी इन्होंने विलीनीकरण के पक्ष में सलाह दी !

इनके शासन-काल में दो कलंकपूर्ण घटनाएँ अवश्य हुईं—(१) ३० मई, सन १९३० ई० को यमुना नदी के किनारे तिलाड़ी के मैदान का 'रंवाई-हत्याकाण्ड' और (२) २५ जुलाई, सन १९४५ ई० को टिहरी जेल के अंदर चौरासी दिनों के लम्बे कष्टपूर्ण अनशन के बाद शहीद श्रीदेव सुमन का बलिदान ! पर यह निश्चित है कि इन दोनों दुर्घटनाओं के लिए ये व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं थे और तत्कालीन उच्च अधिकारियों का ही उनके पीछे हाथ था। रंवाई-कांड के अवसर पर ये यूरोप-यात्रा में थे; और श्री सुमन के निधन से कुछ पहिले नरेन्द्र-मण्डल की बैठक में भाग लेने के लिए

ये बम्बई चले गये थे तथा स्पष्ट आदेश दे गए थे कि उन्हें मुक्त कर दिया जाय; पर राज-कर्मचारियों का एक गुट जन-आन्दोलन को कुचल कर अपनी प्रभुता बनाये रखने पर उतारू था !

स्वयं श्री सुमन जी इनका बहुत सम्मान करते थे; उनका संघर्ष टिहरी-गढ़वाल की नौकरशाही के विरुद्ध था; वे इनके प्रति अन्त तक गहरी श्रद्धा बनाये रहे। अपने अंतिम मुक़दमे में वक्तव्य देते हुए उन्होंने ये शब्द कहे थे—"टिहरी-महाराज व उनके शासन के ख़िलाफ़ किसी प्रकार का विद्रोह, द्वेष व घृणा का प्रचार मेरे सिद्धांत के बिल्कुल विरुद्ध है। श्री महाराज के प्रति मैं पूर्ण सद्भावना, श्रद्धा वं भक्ति के भाव रखता हूं।"

× × ×

इनके बड़े पुत्र महाराज मानवेन्द्रशाह को अक्तूबर, सन १९४६ में राज्याधिकार मिल गया था; फिर जनवरी, सन १९४८ में प्रजा-मण्डल का मंत्रिमण्डल बना और १ अगस्त, सन १९४९ ई० को टिहरी-गढ़वाल राज्य का भारत में विलीनीकरण कर दिया गया। वे अब अधिकांशतया दिल्ली व बम्बई में रहते हैं। इनके मंझले पुत्र कुंवर शार्दूल विक्रमशाह कुछ समय तक प्रधान मंत्री श्री नेहरू के व्यक्तिगत स्टाफ़ में थे, और आजकल बेल्जियम के भारतीय राजदूतावास में फ़र्स्ट सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त हुए हैं। इनके छोटे पुत्र कुंवर बालेन्दुशाह क्रिकेट के प्रसिद्ध खिलाड़ी रह चुके हैं और पिछले आम निर्वाचन में उत्तर-प्रदेशीय एसेम्बली के सदस्य (एम० एल० ए०) चुने गए हैं। इनकी छोटी रानी श्रीमती इन्दुमती शाह का सन १९३४ ई० में ही मेरठ के पास एक मोटर-दुर्घटना के परिणामस्वरूप देहान्त हो चुका था। इनकी बड़ी रानी आजकल राजमाता कमलेन्दुमती शाह के नाम से प्रसिद्ध हैं; वे एक सुसंस्कृत महिला हैं तथा पिछले आम चुनावों में भारतीय संसद की सदस्या (एम० पी०) निर्वाचित हुई हैं।

द्वितीय खण्ड

(१) श्री हरिकृष्ण दौर्गादत्ति रुडोला

(निधन-तिथि—जून, सन १८९२ ई०)

कवि तथा साहित्यकार श्री हरिकृष्ण दौर्गादत्ति रुडोला का जन्म सन १८५५ ई० में श्रीनगर में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री दुर्गादत्त रुडोला था और वे संस्कृत के अच्छे ज्ञाता व कर्मकांडी ब्राह्मण थे। संस्कृत साहित्य में दक्षता प्राप्त करने के बाद ये सन १८८३ ई० में वहाँ के एकमात्र अंग्रेजी स्कूल 'ट्रेनिंग स्कूल' में संस्कृत के हेड पंडित नियुक्त हो गये। फिर सन १८९० में ये प्रताप हाइ स्कूल टिहरी में संस्कृत अध्यापक नियुक्त हुये।

वैसे तो इन्होंने हिंदी में भी फुटकर कवितायें लिखीं, तथापि गढ़वाली में ये अधिक सफल हुए। इनकी 'श्री गंगा-पञ्चक', 'चेतावनी', 'प्रार्थना' और 'शिक्षा' शीर्षक कवितायें इनके देहावसान के बाद 'गढ़वाली' में प्रकाशित हुई थीं। वे सब श्री तारादत्त गैरोला द्वारा सम्पादित "गढ़वाली कवितावली" में संग्रहीत हैं। इनकी ये कवितायें उन दिनों विशेषकर श्रीनगर व टिहरी के निवासियों की जिह्वा पर विराजमान रहती थीं। इनकी 'प्रार्थना' शीर्षक कविता का प्रथम पद—"तुमारा चरणों को भगवति भरोसो धरि रखे"—छोटे-छोटे बच्चों व स्त्रियों को भी याद था।

संस्कृत कविता के क्षेत्र में इन्होंने तीन पुस्तकें प्रकाशित कीं। "शतश्लोकी रघुवंश" में इन्होंने महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' का संक्षेप केवल एक सौ अनुष्टप छन्दों में किया है। "प्रस्ताव

पुष्पाञ्जलि" में ६ स्तवक हैं, जिनमें अन्योक्ति, नीति, चन्द्रवर्णन, षड्ऋतु, शृंगार और भक्ति का क्रम से वर्णन किया गया है; यह पुस्तक लगभग ४०० पद्यों में सम्पूर्ण हुई है। "स्तवन-स्तवकावलि" में विभिन्न देवताओं की स्तुति की गई है।

इन्होंने अपनी प्रथम दो पुस्तकों की प्रतियां संस्कृत के प्रगाढ़ अंग्रेज विद्वान प्रोफेसर एफ० मैक्समूलर को भेजी थीं। उन्होंने २५ जनवरी, सन १८६० ई० को औक्सफोर्ड से इनके लिए लिखा था—

" I have long wished to write to you and to thank you for your two books. I have read the Prastava Pushpanjali with great pleasure, both on account of its contents and of the great mastery which you possess of your ancient language. You have shown the same mastery in the charming verses, you have addressed to me and which are worthy of your ancient poets. You know that I have devoted the whole of my life to the study of Sanskrit, but I could not possibly write such excellent poetry as you do. I hope you may continue your work in Sanskrit and give us from time to time the results of your labours"

(मैं लम्बे समय से आपको लिखने तथा आपकी दो पुस्तकों के लिये आपको धन्यवाद देने की सोच रहा था। मैंने बड़ी प्रसन्नता के साथ 'प्रस्ताव पुष्पाञ्जलि' पढ़ ली है; उसकी सामग्री तथा अपनी प्राचीन भाषा पर आपका जो महान अधिकार है ये दोनों मैंने उसमें पाईं। आपने अपने पत्र में भी मेरे लिये जो कविता लिखी है उसमें भी अपनी विद्वता प्रदर्शित की है तथा वह आपके प्राचीन

कवियों के अनुरूप है। आप जानते हैं कि मैंने अपना सारा जीवन संस्कृत के अध्ययन पर लगा दिया है; लेकिन आपके समान सुन्दर कविता लिखना मेरे लिए सम्भव नहीं है। मैं आशा करता हूं कि आप संस्कृत में अपना कार्य जारी रखेंगे और हमें समय-समय पर अपने परिश्रम के परिणामों से अवगत कराते रहेंगे।" लेकिन दुर्भाग्य से केवल ३७ वर्ष की आयु में ही जून सन १८६२ ई० में इनका देहावसान हो गया!

इनके बड़े भाई श्री बालादत्त दौर्गादत्ति रुडोला भी संस्कृत के विद्वान थे। वे सनातनधर्म के प्रबल पृष्ठपोषक थे और आर्यसमाज के विरुद्ध उन्होंने "अप्रतिम प्रतिमा" तथा "द्वैत ध्वान्त निवारण" पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित की थीं। इसीलिए सनातनधर्म संस्थाओं ने उन्हें 'धर्माचार्य' की पदवी प्रदान की थी। उनका भी केवल ३६ वर्ष की ही आयु में अक्तूबर, सन १८८६ ई० में श्रीनगर में देहान्त हो चुका था। उनके ही सब से छोटे पुत्र श्री ईश्वरीदत्त दौर्गादत्ति शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, बिहार में संस्कृत-शिक्षा के सुपरिनटेंडेंट थे; उसी पद पर कार्य करते हुए ५३ वर्ष की अवस्था में २० अगस्त, सन १९४२ को पटना में उनका भी देहान्त हो गया। वे संस्कृत के धुरन्धर विद्वान थे।

स्वयं इनके एकमात्र पुत्र श्री योगीन्द्र कृष्ण दौर्गादत्ति, शास्त्री ने संस्कृत, हिन्दी व गढ़वाली में कई पुस्तकें लिखी हैं; कई विद्यालयों में कार्य करने के बाद अब पबलिक स्कूल कोटद्वार में वे अध्यापक का कार्य कर रहे हैं।

---

(२) श्री पूर्ण सिंह नेगी

(निधन-तिथि—नवम्बर, सन १९१२ ई०)

सुप्रसिद्ध दानवीर श्री पूर्णसिंह नेगी का जन्म देहरादून नगर

के पास करणपुर ग्राम में सन १८३२ ई० में हुआ था। इनके पिता जिले के एक रईस और ज़मींदार थे। अतः शिक्षा भी इन्हें रईस-पुत्रों की तरह आराम के साथ मिली। बड़े होने पर इन्होंने अपनी ज़मींदारी के सिवाय कई कोठियाँ बना कर किराये पर चढ़ाईं और साथ ही पूर्णसिंह एण्ड कम्पनी के नाम से राजपुर रोड पर फ़र्नीचर की एक बड़ी दूकान भी खोली।

उन्हीं दिनों श्री ज्योति स्वरूप ने मेरठ से आकर देहरादून में वकालत प्रारम्भ की। वे मेरठ में एक आर्य-पाठशाला की हेड-मास्टरी भी कर चुके थे, और आर्यसमाजी विचारों के एक सुधारक व्यक्ति थे। उनके देहरादून चले आने के बाद मेरठ की उस पाठशाला को संयुक्त प्रान्तीय आर्य-प्रतिनिधि सभा ने अपने हाथ में लेकर वहां डी० ए० वी० हाइ स्कूल की स्थापना कर दी थी; लेकिन वह ठीक ढंग पर नहीं चल रही थी। इधर देहरादून एक बढ़ता हुआ नगर था, लेकिन वहां अंग्रेज़ बच्चों के लिये कई स्कूल होने पर भी भारतीय बालकों की शिक्षा की उचित व्यवस्था नहीं थी। अतः श्री ज्योति स्वरूप की इच्छा हुई कि मेरठ से उस स्कूल को देहरादून लाकर चलाया जाय। सौभाग्य से उसका परिचय इनके साथ हो गया। ये दो शादियां करने पर भी निः-सन्तान थे; सम्पत्ति इनके पास काफ़ी थी; हृदय उदार था और आयु भी ७० वर्ष की हो चुकी थी; ये एक संस्कृत पाठशाला सन् १९०४ से चला ही रहे थे, अतः इन्होंने भूमि-दान करने का वचन दे दिया। इस प्रकार श्री ज्योति स्वरूप के निमन्त्रण पर उत्तर प्रदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभा ने स्वीकृति दे दी और वह डी० ए० वी० हाइ स्कूल मेरठ से सन् १९०१ में उठाकर देहरादून लाई गई।

उस संस्था के देहरादून आ जाने पर इनकी चिरवांछित अभिलाषा पूरी हुई; इन्होंने उसके लिये अपनी प्रायः सारी सम्पति दान कर दी। इन्होंने मुख्य विद्यालय-भवन का निर्माण अपने खर्चे से

कराया। उस पर इनके लगभग ५००००) लगे थे; साथ ही इन्होंने दो छात्रावास भी बनाये। उनमें से एक का नाम विद्यालय-कमेटी ने बाद में 'पूर्ण-आश्रम' रख दिया था। मुख्य पाठ-भवन को 'पीली कोठी' कह कर पुकारा करते थे; वह अभी कुछ ही वर्षों पहिले नये विशाल भवनों का निर्माण हो जाने पर सुविधा की दृष्टि से उजाड़ दी गई है। इतना ही नहीं, इन्होंने अनेक एकड़ विस्तृत भूमि, कई कोठियां व विस्तृत जंगल भी स्कूल-कमेटी को दान कर दिये। सन १६१२ में जब उस सब सम्पत्ति की रजिष्ट्री की गई, तब लगभग चार लाख रूपये मूल्य का अनुमान लगाया गया था! यहां तक कि इन्होंने अपनी पत्नियों को केवल ५०)-५०) मासिक की पेंशन का प्रबन्ध किया और यह आदेश दिया कि उनकी मृत्यु के बाद वह रक़म भी विद्यालय-कमेटी की ही हो जायेगी!!

ऐसी अनुपम दानशीलता का इन्होंने परिचय दिया था; लेकिन स्कूल की आन्तरिक स्थिति ठीक न होने के कारण इन्हें हार्दिक दुख रहता था; क्योंकि आपसी झगड़ों के कारण केवल दो वर्षों के ही दौरान में कई हेडमास्टर बदल गये थे। अन्त में सन १६११ ई० में श्री लक्ष्मणप्रसाद हेडमास्टर होकर आये और उन्होंने कुछ ही समय के अन्दर स्कूल के प्रबन्ध को व्यवस्थित कर दिया और इसकी प्रतिष्ठा को बढ़ा दिया। इसीलिये नवम्बर, सन् १६१२ ई० में जब ८० वर्ष की पूर्ण वृद्धावस्था में इनका देहावसान हुआ, तब बड़ी शान्ति व सन्तोष के साथ इन्होंने स्वर्गलोक को प्रयाण किया!

इनकी मृत्यु के बाद इनके आशीर्वाद और श्री लक्ष्मणप्रसाद की कार्य-कुशलता के कारण डी० ए० वी० हाइ स्कूल ने और अधिक उन्नति की। सन् १६२२ ई० में उसमें इंटरमीडियेट कक्षायें खुल गईं और एक नये विद्यालय-भवन का निर्माण किया गया। आख़िर १६ मई सन् १६३६ को जब प्रिंसिपल लक्ष्मणप्रसाद

का देहान्त हुआ, तब तक आगरा विश्वविद्यालय ने बी०ए० कक्षा खोलने की अनुमति दे दी थी। और अब तो एम० ए० व एल-एल० बी० की कक्षायें भी खुल गई हैं; स्कूल-विभाग के अन्तर्गत हायर सेकेण्डरी स्कूल अलग चल रहा है; कई नये भवन बन गये हैं और कई हज़ार लड़के व लड़कियां शिक्षा पाती हैं।

इनकी अपनी तो कोई सन्तान नहीं थी; तथापि इनके भाइयों की सन्तान देहरादून में खूब खुशहाल है; इनके भतीजे श्री लक्ष्मण-सिंह नेगी के बड़े पुत्र श्री देवेन्द्र सिंह नेगी ठेकेदार व मकान-मालिक हैं और छोटे पुत्र श्री सोहन सिंह नेगी जंगलात विभाग के कनसरवेटर हैं।

---

(३) श्री गबर सिंह नेगी

(निधन-तिथि—१० मार्च, सन १९१५ ई०)

फ्रांस के रणक्षेत्र में वीरतापूर्वक हुतात्मा होने वाले श्री गबर सिंह नेगी का टिहरी-गढ़वाल ज़िले की बमुण्ड पट्टी के सांजुर ग्राम में अप्रैल, सन् १८९५ में जन्म हुआ था। इनके पिता श्री बद्री-सिंह नेगी एक साधारण किसान-थे; उनके तीन पुत्रों में ये सब से छोटे थे। पिता का बचपन में ही देहान्त हो जाने के कारण इन्हें जल्दी ही नौकरी करनी पड़ी। सन् १९११ से सन १९१३ तक दो वर्ष ये टिहरी-नरेश के प्रतापनगर स्थित महल के बग़ीचे में एक साधारण नौकर का कार्य करते रहे। उसके बाद ही यूरोपीय महा-युद्ध छिड़ने की आशा हुई, और रंगरूटों की तेज़ी से भरती होने लगी। अतः अक्तूबर, सन १९१३ में लैंसडौन जाकर ये २।३९ वीं गढ़वाल राइफ़ल्स में भर्ती हो गये।

अभी इन्हें फ़ौज में पहुंचे कुछ ही महीने हुए थे कि यूरोपीय महायुद्ध छिड़ गया और भारतीय सेनायें भी शीघ्र ही यूरोप के मोर्चे

पर भेजी गई। गढ़वाली फ़ौज ने २१ सितम्बर, सन् १९१४ को भारतवर्ष से प्रस्थान किया और १३ अकतूबर को फ्रांस के बन्दरगाह मार्सेल्स में पहुंच गई; और तुरन्त ही युद्धक्षेत्र में पहुँच कर अपने मोर्चे पर डट गई। शीघ्र ही इस बटैलियन को युद्ध में अपने करिश्मे दिखाने का अवसर मिला; फलस्वरूप २३ नवम्बर, सन १९१४ की लड़ाई में अद्भुत वीरता दिखाने के लिये इनके एक साथी नायक श्री दर्वानसिंह नेगी को "विक्टोरिया क्रौस" (वी० सी०) प्राप्त हुआ। अतः एक नया उत्साह पैदा हो गया।

१० मार्च, सन १९१५ ई० के दिन न्यूशेपल का प्रसिद्ध युद्ध हुआ था। सामरिक दृष्टि से वह लिली के बड़े नगर का प्रवेश-द्वार था और जर्मनों ने वहां चार मील लम्बा एक अभेदनीय मोर्चा क़ायम कर रखा था। ९ मार्च को रात सब ब्रिटिश सेनापति चिन्ता में थे कि किस तरह सफलता पाई जाय; अन्त में यह तै हुआ कि शत्रु-मोर्चे को चकनाचूर करने के लिये गढ़वाली बटैलियन सब से आगे बढ़ेगी। १० मार्च का प्रातःकाल हुआ; उस सुबह कड़ी शीत, नमी और कुहरा था; उसके सिवाय दलदली खेतों, टूटी-फूटी झाड़ियों और कांटेदार तारों के कारण स्थिति और भी विकट थी। उस पर जर्मन सेना औवर्स पुल के पास एक अत्यन्त सुरक्षित स्थान से आक्रमण कर रही थी। सिर के ऊपर भयंकर वायुयान और भी घोर शब्द करके बम गिरा रहे थे; उधर तोपख़ाने की धायं-धायं से भूमिकम्प-सा आ रहा था; चारों ओर अंधेरा और धुंआ था और मृतों व ज़ख्मियों की संख्या बढ़ती जा रही थी। फिर भी बिना घबड़ाये निश्चित कार्यक्रम के अनुसार ठीक आठ बजकर पांच मिनट पर गढ़वाली सेना अपनी खाइयों से निकली और लगभग आधा घंटे में बिना किसी रुकावट के शत्रु-पक्ष की सर्व प्रथम खाइयों पर टूट पड़ी।

अब आगे बढ़ना प्रायः असम्भव था; क्योंकि आमने-सामने

की भिड़न्त थी। शत्रु-पक्ष की लगातार गोलाबारी से कई अफ़्सर व सैनिक वहीं सदा के लिये लौट गये; २० अफ़सरों व ३५० सैनिकों की मृत्यु हुई; लेकिन उस हानि के बावजूद गढ़वाली बटैलियन उस अग्नि-परीक्षा में सफल सिद्ध हुई।

उस ऐतिहासिक मुठभेड़ में इन्होंने शुरू से अन्त तक आश्चर्यजनक वीरता प्रदर्शित की। जब इनकी संगीन-धारी टुकड़ी का नायक मारा गया, तो इन्होंने तुरन्त नेतृत्व ग्रहण कर लिया और अपनी टुकड़ी को सफलता तक पहुँचाया। अन्त तक ये सब से आगे-आगे रहे और प्रत्येक खाई में ये सबसे पहिले कूदे। प्रत्येक क्षण मृत्यु चारों ओर से अठखेलियां कर रही थी। अन्त में अवर्णनीय स्फूर्ति और साहस के साथ ये शत्रु-पक्ष की एक भयंकर मशीनगन पर टूट पड़े; उसे छीन कर इन्होंने उसकी दिशा बदल दी और इस जोरों की गोलाबारी की कि शत्रु-टुकड़ी को आत्म-समर्पण करना पड़ा। ये उनकी मुख्य खाई में घुस गये और जर्मन अफ़सरों को भगा कर शेष सब को गिरफ़्तार कर लिया। अन्त में प्रसन्नता और संतोष के साथ अपने डेरे की ओर लौट रहे थे कि वहां पहुँचने से पहिले ही दुर्भाग्य से इन्हें वीरगति प्राप्त हो गई! ये शहीद हुए; लेकिन न्यूशेपल पर मित्र-सेना ने अधिकार कर लिया; साथ ही उसे तीन तोपें, तीन सौ सैनिक क़ैदी व बड़ी मात्रा में युद्ध-सामग्री भी उपलब्ध हुई।

उस अभूतपूर्व अपरिसीम वीरता के लिए इन्हें "वी० सी०" (विक्टोरिया क्रौस) का पदक प्रदान किया गया। इनकी मृत्यु हो जाने के कारण वह पदक इनकी विधवा पत्नी को दिया गया। उसके बाद १५ दिसंबर, सन् १९४५ के दिन चामुवाखाल में इस वीर के लिये समारोह के साथ एक स्मारक खड़ा किया गया; उस दिन उस बड़ी भीड़ में टिहरी-नरेश महाराज नरेंद्रशाह और कुमाऊँ के कमि-श्नर मिस्टर एन० सी० स्टाइफ़ भी उपस्थित थे!

(४) श्री डी० ए० चौफ़ीन

(निधन-तिथि—सन १९१५ ई०)

सर्वप्रथम गढ़वाली हेडमास्टर श्री डी० ए० चौफ़ीन का जन्म सन् १८६४ ई० में पट्टी चोपड़ाकोट के मुसेटी नामक ग्राम में हुआ हुआ था। इनके पिता मूलतः चीनी बौद्ध थे; और सन् १६४८ में जो छै चाय तैयार करने वाले विशेषज्ञ भारत-सर्कार ने कुमाऊँ के पर्वतीय प्रदेश में चाय-फ़ैक्टरियां स्थापित करने के लिये चीन से मंगाये थे, उनमें से एक थे। वे गढ़वाल आकर एक अंग्रेज़ फैक्टरी-मालिक मि० हेनरी के यहां मुसेटी के चाय-बाग़ीचे में नियुक्त हो गए थे। उन्हें अभी तक लोग वांग असी चीनिया के नाम से याद करते हैं। यह कहा जाता है कि वे शुद्ध बौद्ध थे तथा प्रतिदिन मंत्रों का उच्चारण किया करते थे; उन्होंने यहां आकर हिंदू बनना तथा किसी हिंदू स्त्री से विवाह करने की इच्छा भी प्रकट की; लेकिन तत्कालीन कट्टरपंथी हिंदुओं के रुख के कारण उन्हें वह विचार छोड़ना पड़ा और ईसाई बन गए! वे उस फ़ैक्टरी के मैनेजर थे; और बाद में वह बाग़ीचा व फैक्टरी ही उन्होंने ख़रीद ली।

इन्होंने मेमोरियल हाइ स्कूल लखनऊ में शिक्षा पाई; वही स्कूल अब लखनऊ में ला मार्तेनेयर स्कूल के रूप में विद्यमान है। ये पहिले सन् १८८४ ई० में मिशन स्कूल नैनीताल में अध्यापक नियुक्त हुए और फिर कुछ वर्षों बाद वहीं उस मिडिल स्कूल के हेडमास्टर हो गये। सन् १८८६ के अंत में ये मिशन स्कूल चोपड़ा में परिवर्तित होकर आ गये। उन दिनों वह मिडिल कक्षा तक ही था। इन्होंने स्कूल की और भी उन्नति की और सन् १६०२ में वह हाइ स्कूल हो गया। ये सन १६१५ तक उसी संस्था में योग्यतापूर्वक कार्य करते रहे, जब कि लगभग ५१ वर्ष की अवस्था में इनका देहावसान हो गया।

गढ़वाल के शिक्षा-प्रसार-कार्य में अमेरिकन क्रिश्चियन मिशन ने महत्वपूर्ण कार्य किया है; और कहना न होगा कि उस सफलता का अधिकांश श्रेय इनके अनथक प्रयत्नों को ही था। इन्होंने केवल मिशन स्कूल चोपड़ा को ही उन्नत नहीं किया बल्कि अनेक स्थानों पर छोटे स्कूल भी खुलवाये। अपने इसी प्रचार-कार्य तथा धार्मिक श्रद्धालुताके कारण ये ज़िले से बाहर के ईसाइयों द्वारा भी आदर की दृष्टि से देखे जाते थे और इन्हें 'रेवरेंड' का पद मिल गया था। लेकिन इनका सबसे बड़ा गुण था इनका 'गढ़वालीपन'; इन्हें अपने गढ़वाली होने का गौरव था; हमेशा शुद्ध गढ़वाली भाषा में सबके साथ बातचीत किया करते थे। इनका यह 'गढ़वालीपन' इनके परिवार में अभी तक विद्यमान है।

जैसा कि शुरू में लिखा जा चुका है, इनका जन्म मुसेटी में हुआ था; लेकिन मिशन स्कूल के हेडमास्टर होने के कारण इन्हें चोपड़ा से वहां जाने का अवकाश बहुत कम मिलता था। इसलिए इन्होंने अमरीकन मिशन से वर्तमान गडोली इस्टेट खरीद कर वहीं अपना स्थायी निवासस्थान बनाया। मुसेटी का चाय-बाग़ीचा व फ़ैक्टरी ये सन् १९०७ ई० में लेखक के पिता स्व० श्री गोपालसिंह रावत को बेच चुके थे।

इनके परिवार में इनके छोटे भाई श्री सी० एच० चौफ़ीन हैं; वे वर्षों तक गढ़वाल में स्कूलों के डिप्टी-इंस्पेक्टर रह कर पेंशन पर गये, और सन् १९४१ से १९४६ तक गढ़वाल ग्राम सुधार एसोसियेशन के चेयरमैन रह चुके हैं। उनके सबसे बड़े पुत्र श्री विलियम सी० चौफ़ीन भी वर्षों तक गढ़वाल के डिप्टी-इंस्पेक्टर ऑफ़स्कूल्स रहे और अब अल्मोड़ा में डिस्ट्रिक्ट इन्सपेक्टर ऑफ़ स्कूल्स हैं; उनके अन्य पुत्र श्री एरिक चौफ़ीन व श्री एडगर चौफ़ीन आदि भी अच्छे पदों पर हैं। स्वयं इनके बड़े पुत्र श्री जी० ए० चौफ़ीन इनके बाद मिशन स्कूल चोपड़ा के हेडमास्टर हुए और वहां से अवकाश ग्रहण करने

के बाद १३ अगस्त, सन् १९५० को उनका देहांत हुआ; उनके छोटे भाई श्री सिडनी चौफीन गवर्नमेंट इंटर कौलेजों में अध्यापक रह कर पेंशन ले चुके हैं, और सबसे छोटे भाई श्री हैरी चौफ़ीन भी पंजाब रेलवे में उच्च पदों पर कार्य करके अवकाश ग्रहण कर चुके हैं।

---

(५) श्री महेशानन्द नौटियाल

(निधन-तिथ—१० फर्वरी, सन १९१८ ई०)

व्यापार-कुशल तथा पुस्तक-प्रकाशक श्री महेशानन्द नौटियाल का जन्म सितम्बर, सन १८७० ई० में पौड़ी में हुआ था, जहां इनके पिता श्री देवानन्द नौटियाल मुहाफ़िज़ थे। ये चोपड़ा के मिशन हाइ स्कूल में पढ़ ही रहे थे कि मार्च, सन् १८८७ में, १६ वर्ष कुछ महीनों की ही छोटी अवस्था में, बिना सलाह किये अचानक ये घर से निकल पड़े और पंजाब की ओर चल दिये। आख़िर क़रीब डेढ़ वर्ष तक यत्र-तत्र भ्रमण करने के बाद वापिस आ गये। वहां पहुँचने पर पिता के ज़ोर देने के कारण इन्होंने पबलिक वर्क्स विभाग में नौकरी कर ली; लेकिन सन् १९०० में नौकरी से त्याग-पत्र देकर ३० वर्ष की आयु में इन्होंने स्वतन्त्र व्यापार को संभाला।

इन्होंने देखा कि श्री बद्रीनाथ व श्री केदारनाथ धाम की यात्रा के लिये प्रति वर्ष मैदानों से हज़ारों यात्री आते हैं, और चले जाते हैं; यदि उनके लिये कोई अच्छी चीज़ तैयार की जाय तो काफी बिक्री हो सकती है। इस सिलसिले में इनका ध्यान गढ़वाल की वनस्पतियों की ओर गया तथा इन्होंने शिलाजीत को छांटा। उसे एकत्र कराके, साफ़ करने और सुन्दर पैकिंग करने का कार्य इन्होंने शुरू किया। परिणामस्वरूप यात्रियों को यह वस्तु बहुत पसंद आई और धड़ाधड़ बिकने लगी। शिलाजीत के साथ-साथ इन्होंने श्री

बद्रीनाथ के चित्र, लौकेट, माला व सुगंधित पदार्थों का भी व्यवसाय शुरू किया। अब इन्होंने यात्रा-सीज़न में छै महीने श्री बद्रीनाथपुरी में भी रहने का क्रम शुरू किया; इस कारण इनकी बिक्री और अधिक बढ़ गई।

उपरोक्त व्यापार से भी अधिक इनका महत्वपूर्ण कार्य श्री बद्रीनाथ व उत्तराखण्ड यात्रा-सम्बन्धी धार्मिक पुस्तकों का प्रकाशन है। इस उद्देश्य से इन्होंने "श्री बद्रीनारायण भक्ति रसामृत कार्यालय" की स्थापना की। शीघ्र ही ये गढ़वाल भर के एक बहुत बड़े प्रसिद्ध पुस्तक-प्रकाशक बन गए। इनका सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ "केदार-खण्ड" है। इस १२०० पृष्ठों के मोटे ग्रन्थ का इन्होंने मूल संस्कृत से सरल सरस हिंदी में अनुवाद कराया और उसे सुन्दरता के साथ प्रकाशित किया। इस ग्रंथ में "केदार खण्ड" प्रांत के सब धार्मिक स्थानों, देवी-देवताओं, नदी-नालों, पर्वतों-घाटियों आदि का विवरण और उनका धार्मिक महत्व दिया गया है। इस ग्रन्थ से इस प्रदेश के धार्मिक इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है।

इस ग्रन्थ के कारण इन्हें एक धनी महाशय मिल गये। वे क़िला पदुमा हज़ारी बाग़ (बिहार) के महाराज श्री रामनारायण सिंह जू देव थे। सन १६०५ में वे बद्रीनाथ धाम की यात्रा के लिए आए और इनकी विद्वत्ता व योग्यता देखकर मुग्ध हो गये। उन्होंने इनके पास लगभग ४०० हस्तलिखित पुस्तकों का एक अलभ्य संग्रह भेज दिया और उनके प्रकाशन-कार्य में पूरी आर्थिक सहायता करने का आश्वासन दिया। इसी कारण इन्होंने कुछ पुस्तकों का प्रकाशन भी कराया। १ मई, सन १६०८ ई० के 'अभ्युदय' में उन पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण छपा था। उन पुस्तकों का अनुवाद कराने के लिए इन्होंने कई विद्वान नियुक्त किए। उनमें से "राज-रहस्य' व "वृन्द वैद्यक" पुस्तकों का हिंदी जगत ने बहुत आदर किया था।

उपरोक्त पुस्तकों के अतिरिक्त इन्होंने सन १९०५ ई० में "हिमालय चित्रदर्शन" नामक पुस्तक भी प्रकाशित की; उसमें श्री कैलाश, श्री बद्री व श्री केदारनाथ आदि के मंदिरों, महन्तों व रावलों आदि के चित्र व परिचय दिये गए हैं। साथ ही इन्होंने "श्री केदार कल्प", "श्री बद्रीश धाम पथ-प्रदर्शिका", "हिमप्रभा", "सौम्य बाराणसी-माहात्म्य", "बद्री माहात्म्य" (तीन साइज़ों में) और "बद्रीश भजन-मुक्तावली" पुस्तिकायें भी प्रकाशित कीं। ये सब पुस्तकें इन्होंने श्री वेंक्टेश्वर प्रेस बम्बई में छपवाईं। उस प्रेस के स्वामी सेठ खेमराज से इनकी घनिष्ठ मित्रता हो गई थी; और शीतकाल में ये कई महीनों तक उनके पास बम्बई में रहा करते थे।

इन्होंने कर्णप्रयाग हाइस्कूल की स्थापना में विशेष सहयोग दिया। सन १९०३ में पहिले इन्होंने नन्दप्रयाग में एक अंग्रेज़ी स्कूल स्थापित किया और वर्षों तक स्वयं उसका खर्च बर्दाश्त करते रहे। बाद को जब समूची चमोली तहसील के लिए हाइ स्कूल की माँग प्रबल हुई, तब इन्होंने नन्दप्रयाग के लिये ज़िद नहीं की और सारे इलाक़े की केन्द्रीयता व अन्य लाभ समझ कर अपना स्कूल ही कर्णप्रयाग में परिवर्तित कर दिया। उसकी प्रबंध-समिति के मंत्री की हैसियत से रुग्णावस्था में भी डाँडी में बैठकर चंदे के लिये ये पौड़ी व अन्य स्थानों तक गये और अंत तक उसके लिये प्रयत्नशील रहे।

आख़िर इनका ४७ वर्ष की अवस्था में १० फर्वरी, सन १९१८ ई० को देहावसान हुआ। इनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गोविंद प्रसाद नौटियाल इनके आदर्शों को योग्यता के साथ आगे बढ़ा रहे हैं; वे एक कुशल व्यवसायी और सफल पत्रकार हैं; और छोटे पुत्र श्री रमेशचंद्र नौटियाल आजकल माननीय मंत्री, सार्वजनिक निर्माण विभाग, उत्तरप्रदेश के व्यक्तिगत स्टाफ़ में कार्य करते हैं।

(६) श्री धनीराम शर्मा

(निधन-तिथि—१८ अप्रैल, सन १९१९ ई०)

गढ़वाल के 'द्वार-देवता' श्री धनीराम शर्मा का जन्म सरूड़ा (दुगड्डा) में अक्तूबर, सन १८७२ ई० में हुआ था। इनके पिता श्री काशीराम शर्मा एक सात्विक जीवन बिताने वाले संस्कृत-ज्ञाता थे; और भाबर के बड़े ज़मीदार थे। कुछ वर्ष इन्होंने घर पर ही पढ़ा तथा फिर देहरादून में इन्होंने मिडिल तक शिक्षा प्राप्त की। पर बाद में अपने अध्यवसाय से इन्होंने हिन्दी व संस्कृत का ज्ञान खूब बढ़ा लिया था। वैसे तो पैतृक सम्पत्ति से ही इन्हें काफ़ी आय हो जाया करती थी; फिर भी इन्होंने विशेषकर ठेकेदारी का कार्य किया। सरकारी इमारतें, ख़ाम-भाबर की नदियों के बोल्डर, दुगड्डे वाली गाड़ी-सड़क, रेलवे, डाक व फ़ौजी सामान के ढुलान आदि के इन्होंने ठेके लिए; पुराने कोटद्वार के अस्पताल और वर्तमान कोटद्वार के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड डाकबंगले की इमारतें इन्हीं के ठेके में बनी थीं।

ये गढ़वाल के सार्वजनिक जीवन के संस्थापकों में से एक थे। ये प्राय: सब मेलों में अवश्य पहुंचते और वहाँ सभाओं का आयोजन करके समाज-सुधार पर स्वयं भाषण देते तथा औरों से भी दिलाते। गढ़वाल की संस्थाओं के अतिरिक्त जब कुमाऊँ के तीनों ज़िलों की मांगों के लिए "कुमाऊँ परिषद" की स्थापना हुई, तब ये उसके मुख्य सहायक बने। दिसम्बर, सन १९१७ में परिषद का प्रथम अधिवेशन कोटद्वार में हुआ; अल्मोड़े के श्री बद्रीदत्त जोशी, वकील, उसके अध्यक्ष थे। उस अवसर पर इन्होंने स्वागत-समिति के संयोजक का भार निभाया। आगत महानुभावों के लिये जैसे सुविधापूर्ण आतिथ्य का प्रबन्ध इन्होंने किया था, उसका उस अधिवेशन में उपस्थित श्री बद्रीदत्त पांडे प्रभृति महानुभाव

अभी तक स्मरण करते हैं।

सनातनधर्म के ये प्रबल हिमायती व पृष्ठपोषक थे, इसलिए प्रति वर्ष दूर-दूर से विद्वान धर्मधुरीण व्यक्तियों को बुलाकर ये सभाओं का आयोजन करते थे; उन सम्मेलनों का प्रायः सारा भार इन्हीं पर पड़ता था। गोरक्षा व सनातनधर्म प्रचार के लिए इन्होंने कई बार वैतनिक उपदेशक भी नियुक्त किये। पशु-बलि बन्द कराने के लिए इन्होंने अनथक प्रयत्न किया। यहां तक कि अपनी ४० बीघे ज़मीन दान करके कोटद्वार में इन्होंने एक गोशाला स्थापित की; उसका प्रायः सारा भार मृत्यु-पर्यन्त इन्हें उठाना पड़ा।

पर इनका सबसे बड़ा कार्य लैंसडौन के हाइ स्कूल की स्थापना है। उन दिनों सारे ज़िले में केवल मिशन हाइ स्कूल चोपड़ा और गवर्नमेंट हाइ स्कूल श्रीनगर ही उच्च संस्थायें थीं; अतः लैंसडौन तहसील के छात्रों को कठिनाई हुआ करती थी। इसीलिये सन १९०७ में इन्होंने पाली (पट्टी कौड़िया) से कुछ ऊपर नांगी चौड्यूँ स्थान पर "श्री बद्रीश ऐंग्लो-संस्कृत स्कूल" की स्थापना की। नवम्बर, सन १९०९ में ये उस स्कूल को लैंसडौन के नज़दीक धूरा स्थान पर ले आए, ताकि गढ़वाली रेजीमेंट के अफसरों का सहयोग मिल सके। उन दिनों वह बहुत साधारण अवस्था में था; लेकिन जब सन १९१६ में कमांडिंग अफसर लैंसडौन और डिप्टी कमिश्नर गढ़वाल ने प्रबन्धक समिति का क्रमशः प्रधान व संरक्षक बनाना स्वीकार किया तो स्कूल उन्नति करने लगा। उसी वर्ष संयुक्त प्रांत के लेफ० गवर्नर लैंसडौन आये। इन्होंने एक शिष्टमण्डल संगठित किया और उनसे सहायता की अपील की; परिणामस्वरूप सन १९१८ में शिक्षा-विभाग ने उस स्कूल को मान्यता प्रदान की और आर्थिक सहायता देना स्वीकार किया। आखिर वह स्कूल धूरा से अपने वर्तमान स्थान जहरीखाल चली आई और ३० जुलाय, सन १९१८ को निचले मैदान वाली इमारत की आधार-

शिला रखी गई।

उस उत्सव के बाद यद्यपि ये अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सके, तथापि इनके द्वारा स्थापित स्कूल ने खूब उन्नति की। कुछ वर्षों बाद शिक्षा-विभाग ने उसे सीधे अपने अधिकार में ले लिया। अब वह एक इण्टरमीडियेट कौलेज है, कई भव्य इमारतें बन चुकी हैं तथा छात्रावास भी तैयार हो चुके हैं; इन सब कारणों से इस समय वह गढ़वाल की सर्वप्रमुख शिक्षण-संस्था है।

इनका दूसरा महत्वपूर्ण कार्य दुगड्डा मंडी की स्थापना है। किसी ज़माने में नजीबाबाद में गढ़वाल की मंडी थी; फिर जब भावर आबाद हुआ, तब पुराने कोटद्वार में मंडी स्थापित हुई। उसके बाद सन १६०७ में खोह नदी की बाढ़ से पुराने कोटद्वार के अधिकांश मकान बह गए और वह बस्ती उठकर वर्तमान स्थान पर आ गई; लेकिन उसी बीच लैंसडौन में फ़ौजी छावनी होने के कारण दुगड्डे तक मोटर-सड़क बन चुकी थी। इसीलिए इन्होंने सोचा कि जब मंडी दुबारा बसानी ही है, तब दस मील ऊपर क्यों न बसाई जाय, ताकि सैकड़ों मील से आने वाले 'ढाँकरियों' आदि को कुछ सुविधा मिल सके। अतः सन १६०६ में दुगड्डा बाज़ार बसना शुरू हो गया।

ज़मीन सब इन्हीं की थी; इन्होंने स्वयं अनेकों दुकानें बनाईं तथा गढ़वाल के अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों को समझा-बुझाकर उनसे भी कई दुकानें बनवाईं। फौजी विभाग ने भी कमसैरियट वाला मैदान इनसे ६-७ सौ रूपयों में ही खरीद कर वहां अपना खच्चर-पड़ाव स्थापित किया; पी० डबल्यू० डी० ने डाकबँगला बनवाया और ईसाई मिशन ने अपना मकान बनाया। इन्होंने स्वयं अपने खर्चे पर मन्दिर, धर्मशाला व संस्कृत-पाठशाला की स्थापना की। श्री गिरिजादत्त नैथाणी से आग्रह करके इन्होंने वहीं "स्टौवल प्रेस" क भी स्थापना कराई और उन्हें हर प्रकार का सहयोग प्रदान

किया; यहां तक कि लम्बे समय तक अपना एक बड़ा मकान बिना किराए प्रेस को दिये रहे। दुगड्डु को आकर्षक बनाने के लिये इन्होंने वहां आदर्श रामलीला का प्रारम्भ किया; इन्होंने धर्म-खाते की कटौती का सिलसिला भी बँधवाया, जिससे कि रामलीला का खर्च निकलता था, तथा और भी कई उपयोगी कार्य किए जाते थे।

इनका साहित्य-प्रेम अतुलनीय था। इन्होंने तीन ट्रैक्ट स्वयं प्रकाशित किये—(१) 'उपदेश-माला'—इसमें संस्कृत श्लोक उद्धृत करके धर्माचरण व धर्मशिक्षा पर इन्होंने ज़ोर दिया; (२) गो-रक्षा-प्रचार; और (३) लैंसडौन हाइस्कूल के लिये अपील—इस पुस्तिका में शिक्षा के लाभों की विशद व्याख्या की गई थी। इन्होंने कई बार ये पुस्तिकायें प्रकाशित कीं और हज़ारों की संख्या में मुफ़्त बंटवाईं।

इनका आतिथ्य-सत्कार सर्वविदित था। रोज़ स्टेशन पर जाना और बिना टिकट पकड़े गए या धनहीन यात्रियों की सहायता करना और लोगों को ज़बर्दस्ती अपने घर ले जाकर उनका आतिथ्य करना—यह इनका नित्य नियम था। इसी कारण श्री सदानन्द गैरोला ने एक बार कहा था कि "ये कान पकड़ कर लोगों को घर ले जाते हैं और उनका आतिथ्य करते हैं!"

इनकी सत्यवादिता का लोहा अदालतें भी मानती थीं और इसीलिए गवाही के समय इनसे सौगन्ध नहीं खिलाई जाती थी, तथा इनके वक्तव्यों को पूरा महत्व दिया जाता था। और सरल स्वभाव, क्षमाशीलता व सहज विश्वास ऐसा था कि विश्वास करने योग्य नहीं! जिन दिनों ये फ़ौजी सामान के ढुलान की ठेकेदारी कर रहे थे, उन दिनों एक बार इनके दुगड्डु वाले मुन्शी ने कई रेशमी थान निकाल लिए; इन्होंने उसके पास वे थान देख भी लिए, लेकिन उससे कुछ नहीं कहा और फ़ौज के सब "क्लेम्स" भर दिए! एक बार युवावस्था में ये शिकार खेलने गए हुए थे कि एक

व्यक्ति ने पीछे से इन पर फ़ायर कर दिया; इनकी जांघ पर घाव लगा, जो कई दिनों बाद भर सका; लेकिन इन्होंने न उसका नाम बतलाया न कोई कार्यवाही की !! एक बार रेलवे के ठेके-सम्बन्धी चार हज़ार रूपयों को लेकर ये मुरादाबाद से घर आये और बिना किसी लिखत-पढ़त के उन्हें दुगड्डे के अपने एक व्यापारी मित्र के पास रख दिया; इतने में कालदेव का बुलावा आ गया और उन महाशय ने उस सम्बन्ध में कुछ जानकारी रखने से भी इन्कार कर दिया !!!

सन १९१८ में इन्हें 'युद्धज्वर' (इन्फ्लुएंज़ा) हुआ, और आख़िर १८ अप्रैल, सन १९१९ ई० को इन्होंने महाप्रयाण कर दिया। इनके बड़े पुत्र श्री कृपाराम मिश्र 'मनहर' कवि, लेखक व सार्वजनिक कार्यकर्ता हैं, तथा 'गढ़देश' का सम्पादन कर चुके हैं; मंझले पुत्र श्री जगतराम मिश्र नई बुनियादी तालीम के शिक्षक हैं; और कनिष्ठ पुत्र श्री हरिराम मिश्र 'चंचल' कवि, व समाजवादी विचारधारा के सार्वजनिक कार्यकर्ता हैं।

---

(७) श्री गंगादत्त जोशी

(निधन-तिथि—२३ फर्वरी, सन १९२२ ई०)

प्रजा-सेवी राजकर्मचारी श्री गंगादत्त जोशी का जन्म सन १८७१ ई० में पोखड़ा में हुआ था। इनके पिता श्री देवराम जोशी साधारण स्थिति के व्यक्ति थे, अतः ये बहुत ही साधारण स्कूली शिक्षा प्राप्त कर सके। इसलिए प्रारम्भ में कुछ वर्षों तक ये अल्मोड़ा ज़िले में में गूल-अमीन का कार्य करते रहे। फिर सर्वे-यर के पद पर उन्नति पाकर ये नैनीताल ज़िले को बदले गए; वहाँ कुछ वर्षों के बाद ये सब-ओवरसियर के पद पर नियुक्त हो गये। तदुपरांत सन १९१४ ई० में ये खाम-भाबर कोटद्वार के सुपरिन्टे-

एडेन्ट बनाये गए। आठ वर्ष तक वहां कार्य करने के बाद ये पौड़ी के स्थानापन्न तहसीलदार नियुक्त हुए। भाबर में अच्छा कार्य करने व प्रथम विश्व महायुद्ध में प्रशंसनीय सहायता दिलाने के कारण ही इन्हें एम० बी० ई० की उपाधि मिली थी। लेकिन पौड़ी पहुंचते ही इन्हें 'युद्ध-ज्वर' (इन्फ्लुएंज़ा) ने आ दबाया और २३ फ़रवरी, १९५२ को ५१ वर्ष की आयु में इनका देहावसान हो गया।

समस्त सर्कारी नौकरी में खाम सुपरिंटेन्डेण्ट के पद से इनका कार्यकाल सबसे महत्वपूर्ण था। उन आठ वर्षों में इन्होंने इतनी योग्यता व परिश्रम से कार्य किया कि आज तक भी गढ़वाल-भाबर के लोग श्रद्धापूर्वक इनका स्मरण करते हैं। इन्होंने हमेशा रिश्वत से दूर रह कर प्रजा की सेवा व उन्नति को ही अपना चरम लक्ष्य रखा। काश्तकारों की दशा सुधारने और उन्हें क़र्ज़ से छुटकारा दिलाने की इन्होंने पूरी कोशिश की। नहरों व आबपाशी का इन्होंने आदर्श बँटवारा किया; इसके कारण भाबर के अनेक ऊसर व बंजर इलाक़े सरसब्ज़ हो गये। सनेह इलाक़े की जो वर्तमान नहर है उसे इंजीनियर व ज़िलाधीश ने असम्भव कहके नामंज़ूर कर दिया था; लेकिन इन्होंने अपनी ही ज़िम्मेदारी पर उसे बनवाकर सबको आश्चर्य में डाल दिया ! इनके ही कार्यकाल में नहरों के किनारे चौड़े रास्ते बनाए गये तथा आमों के झुरमुट लगाये गए।

उन्हीं दिनों सन १९१७-१८ में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा; इन्होंने उस अवसर पर बहुत प्रशंसनीय कार्य किया। इन्होंने अधिकारियों से लिख-पढ़ की; यहाँ तक कि उनसे लड़ पड़े और तब जाकर बड़ी देरी से गवर्नमेंट ने अकाल-सहायता की योजना स्वीकार की। उस अवसर पर भूख की ज्वाला से पीड़ित होने पर भी मुफ़्त अनाज लेने को अपने आत्मसम्मान के विरुद्ध समझ कर गढ़-वालियों ने इन्कार कर दिया; तब इन्होंने सस्ते भाव पर अनाज बेचने की तदबीर सुझाई, जिसे कि गवर्नमेंट, जनता व सहायता-

समितियों ने भी स्वीकार कर लिया और पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। लेकिन सस्ते भाव पर अनाज बिकता कैसे? क्योंकि बनजारों ने उस परिस्थिति से लाभ उठा कर ग़ल्ला-ढुलान का भाव ४) से १०) प्रति मन कर दिया था। बंजारों को ठीक रास्ते पर लाने के लिए इन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक अकाल-पीड़ितों की रक्षा के लिए भाड़ा पुराने रेट पर ही नहीं लाया जायेगा, तब तक ये अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगे! अन्त में कई दिनों के प्रयत्नों के बाद बनजारे मान गये और यह समस्या भी हल हो गई!

उस अवसर पर डी० ए० वी० कौलेज ट्रस्ट, लाहौर, की ओर से जो कोष चालू किया गया था, दुर्भिक्ष-निवारण के बाद उसमें लगभग चालीस हज़ार रूपये बच गये और यह सम्भव था कि वे रूपये किसी अन्य इलाक़े पर ख़र्च कर दिये जाते। आर्यसमाजी होने के कारण डी० ए० वी० कौलेज के प्रिंसिपल लाला हंसराज से इनका घनिष्ट परिचय था और वे इनका बहुत आदर करते थे। इनके प्रयत्नों से उन्होंने यह योजना स्वीकार की कि वे शेष रुपये गढ़वाल के ही नाम पर सुरक्षित रखे जायं; उसके सूद से निर्धन योग्य छात्रों को सहायता दी जाय और उपयुक्त अवसर पर उस धन से गढ़वाल में एक आर्यसमाजी शिक्षण-संस्था खोली जाय। इनकी उस योजना पर अभी तक अमल हो रहा है। कई वर्षों तक दर्जनों गढ़वाली छात्रों को उस कोष से सहायता मिली; और बीरौंखाल, दुगड्डा व पौड़ी में डी० ए० वी० स्कूल खोलने के जो प्रयत्न किये गये उनमें भी उस कोष से मदद दी गई है और अभी भी दी जा रही है।

इनके एकमात्र पुत्र का भी कुछ वर्षों के बाद देहांत हो गया, लेकिन आर्यसमाजी शिक्षण-संस्थाओं में शिक्षा पाने वाले सब विद्यार्थी इनके अनुगृहीत हैं।

(८) श्री आत्माराम गैरोला

(निधन-तिथि—२२ जून, सन १९२२ ई०)

हे मातृ-भूमी ! मन और वाणी,
व कर्मु ते मैं करलो अनन्य
भक्ती व पूजा अर तेरि सेवा-
संकल्प करदू कइ ईश शाक्षी ।

देशभक्ति की भावना से परिपूर्ण उपरोक्त पद की रचना करने वाले, अपनी पीढ़ी में गढ़वाली भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि, श्री आत्माराम गैरोला का जन्म २५ अप्रैल, सन १८५५ ई० को टिहरी-गढ़वाल ज़िले की बड्यारगड पट्टी के दालढुँग ग्राम में हुआ था । इनके पिता श्री बैजराम गैरोला सर्वप्रथम गढ़वाली तहसीलदार थे और अपनी नौकरी का अधिकांश समय उन्होंने गढ़वाल तथा अल्मोड़ा ज़िलों में बिताया था ।

इनकी शिक्षा श्रीनगर व बरेली में हुई । ध्यान रहे कि इन्ट्रेंस की परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले ये सर्वप्रथम गढ़वाली थे । पर सन १८७६ में अचानक इनके पिता का देहान्त हो गया । इसलिए पढ़ाई छोड़कर ये अल्मोड़ा की सदर अमीनी अदालत में सरिश्तेदार पद पर नियुक्त हो गये ।

किसी प्रकार वह नौकरी मिल तो गई, लेकिन पिता कुछ ऋण छोड़ गये थे; उस पर एक बड़े परिवार का भार इन पर था; साथ ही इन्हें अपने छोटे भाइयों की शिक्षा के लिए भी खर्च भेजना पड़ता था । इन सब कठिनाइयों का हल रिश्वत था; और सरिश्तेदार का पद इस कार्य के लिए काफ़ी अवसर देता था । लेकिन इन्होंने प्रारम्भ से ही रिश्वत की एक पाई भी न लेने की प्रतिज्ञा की और अन्त तक दृढ़ता के साथ उसे निभाया । लगभग १२ वर्ष के बाद सन १८८८ ई० में ये गढ़वाल के डिप्टी-कमिश्नर के

दफ़्तर के हेडक्लर्क नियुक्त हुए तथा फिर पेंशन तक पौड़ी ही में रहे। अन्त में लगभग ३२ वर्ष की सच्चरित्रतापूर्ण नौकरी के बाद सन १६०८ ई० में इन्होंने सर्कारी नौकरी से अवकाश ग्रहण किया।

उसी बीच सन १६०५ में देहरादून से "गढ़वाली" का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ; तब इन्होंने कविता की ओर ध्यान दिया। इन्होंने गढ़वाली भाषा में ही अपनी सब कवितायें लिखीं और वे सब की सब "गढ़वाली" में प्रकाशित हुई। वे सब कवितायें श्री तारादत्त गैरोला द्वारा सम्पादित "गढ़वाली कवितावली" में संग्रहीत हैं।

इनकी कविता की विशेषता है उसका "ठेठ गढ़वालीपन"। इन्होंने ठेठ गढ़वाली का ठाठ दिखाया है तथा घरेलू व साधारण बोलचाल के शब्दों का प्रयोग करके एक नये सौंदर्य की सृष्टि की है। गढ़वाली उक्तियों का प्रयोग करने में ये खूब सफल हुए हैं। इस खूबी के अतिरिक्त इनकी कविता में पद-लालित्य, मधुरता व व्यंग की पुट स्पष्ट दिखाई देती है। इनकी शैली सरल है, जो सीधे हृदय पर चोट करती है और पाठक को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।

इनकी "सूर्योदय" कविता के निम्न-लिखित पदों का रसास्वादन कीजिये —

> जनू दिब्यो बुज्दी बगत, अति ही देंद प्रतिभा;
> निशा ब्याई तन्ने फजद अति ही ब्राह्म समये।
> नयां बच्चा प्यारा लगदन जना जीव जड़ का,
> मनोहारी तन्ने शिशु दिवस बेला भि लगद॥
> फुहारा-सी सीच्णीं छन शिखरु कू सूर्य्य किरणों,
> चुलंख्यौं मांझे चंदन-टुपुकि सी घाम सजद;
> लटा चोट्यों मां भाप कि च उठिणी धूप जनिसी;
> महात्मा पूजा छन हिम-शिखर देव्यौं कि करणां॥

उथैं सारी मांझे कृषि करम की धूम च मचीं—
'मुड़ी! मूड़ी! उब्बो! र! र! र! हलियों की कटु धुनी;
धुनी दगड़े टन् टन् करणि छन घांडे वृषभु की,
गुफां नालौं कन्द्रों बिटि प्रतिधुनी गूंजण लगीं ॥
इथैं गौं की छोरी, दगड़ि 'कुलड़ी क्यां' उटि करी,
करी कूटो पीसो, कसि कमर दाथी व जिउड़ी,
सुखीं स्वादी कोद्ली चुरमुर चबौंदी, वण चली—
ठटोली कर्दी-हंसदि-बलकदि-खेलदी हुलसदी—
कुई बामा छोरी, उलझदि भि अपरी सुलझदी—
कुई कामा, बीती निशि कि सुमरौंदी सुमरदी—
कुई भोली भाली, मनहि मन मुस्कौंदि झिसदी—
किसाणू छोरों का मन बिचल करदी त सबही॥
गऊँ का गोरू वो चरण छन जाणां वन जथैं;
पिछाड़ी ते सोट्गे लिइक चलणां ग्वैर भि छन।
मयेड़े बाछुले छन बिरह पर रामूणीं निज-निज।
गुवैरू छोरों को मुदित कल कोलाहल, मचू—
सुरज उदय शोभा होंद जो पर्वतू मां,
तनि कखि भि निहोंदी और देशू विदेशू।
रवि पल पल मांझे चित्र देंदान नाना,
प्रकृति-रसिक ही कू दृश्य ये दीखदान॥

"बेटुलो" शीर्षक कविता में कन्या-जन्म से अपशकुन समझने की प्रथा पर इन्होंने खूब फब्ती कसी है। पत्नी के प्रसव होने वाला था; सब पुत्र की प्रतीक्षा में थे; लेकिन जब प्रसव हुआ तो—

हत! देंद सुणाइ 'बेटुलो'!
खिलकुड़ा बिटि शब्द 'बेटुलो'!
मरिगे! निरभाग 'बेटुलो'!
करिगे आस निराश 'बेटुलो'!

लेकिन ४-५ दिन के बाद जब इन्होंने उस शिशु-बालिका की विमोहिनी 'मुखड़ी' देखी तो मोहित हो गये—

बिकसी कलि सी गुलाब की,
गुदबूदी, गुलरंगि, गुट्मुटी;
मुखड़ी टुकड़ी शशि कि सी,
शुचि, सौम्या, सरला, सुदर्शनी।
मुखड़ी, अंखुड़ी, कंदूड़ि की,
सब जो औंदन भुक्कि लेंदन;
करि प्यार दुलार, पौंदन
मुख, छाती शिशु कू लगै लगै॥
मणि चुम्बक लोह की तरैं,
खिंचियाले सरबस्व बच्चि न;
मुख मां, मृदु मंद हास मां,
कनि माया भरि त्वैन राम रे!

इतने मिठासपूर्ण कवि होते हुए भी, इनके जीवन का अन्तिम भाग बहुत कष्ट में बीता। ८ नवम्बर, सन १९१८ को गोरखपुर में डिप्टी-कंसरवेटर के पद पर कार्य करते हुए इनके छोटे भाई श्री सदानन्द गैरोला का युद्ध-ज्वर से आकस्मात् देहांत हो गया। उसके कुछ दिनों बाद ही इन पर लक़वे का वार हुआ; पूरे दो वर्ष ये एक ही करवट से चारपाई पर लेटे रह कर उस भयंकर बीमारी की यंत्रणा को शांतिपूर्वक सहते रहे; आखिर २२ जून, सन १९२२ ई० को इनकी दिव्य आत्मा ने इस नश्वर जगत से बिदाई ली।

इनके बड़े पुत्र श्री पीताम्बरदत्त गैरोला रेंजर थे और छोटे पुत्र श्री लक्ष्मीदत्त गैरोला रायपुर फ़ैक्टरी में कार्य करते हैं। इनके भतीजों में श्री कुशलानन्द गैरोला फ़ौरेस्ट पंचायत अफ़सर थे और श्री रामानन्द गैरोला डी० एफ़० ओ० हैं।

(६) श्री गोविन्दप्रसाद घिल्डियाल

(निधन-तिथि—११ जुलाई, सन १६२२ ई०)

गढ़वाल के सर्वप्रथम इंटरमीडियेट, सर्वप्रथम ग्रैजुएट, सर्वप्रथम डिप्टी कलक्टर और सर्वप्रथम गढ़वाली भाषा के पुस्तक-प्रकाशक श्री गोविन्दप्रसाद घिल्डियाल का जन्म २४ मई, सन् १८७० ई० को श्रीनगर के पास डांग गांव में हुआ था। इनके पिता श्री रविदत्त घिल्डियाल ज़िलाधीश की अदालत में नायब-सरिश्तेदार थे। ये अल्मोड़े से सन् १८८६ में इंटरमीडियेट परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। उसके बाद बरेली कौलेज से सन् १८६१ में इन्होंने बी० ए० परीक्षा सम्मान-सहित पास की। विद्यार्थी-जीवन से ही ये मेधावी थे; कक्षा में प्रायः सर्वप्रथम रहा करते थे और कई बार इन्होंने स्वर्णपदक प्राप्त किये। बी० ए० के बाद कुछ दिन इन्होंने वकालत का अध्ययन किया। फिर १ मार्च, सन् १८६२ से २२ वर्ष की आयु में इन्होंने सर्कारी नौकरी शुरू की।

इन्होंने कुछ वर्ष नायब तहसीलदारी के पद पर कार्य किया और फिर कुछ वर्षों बाद तराई-भावर के आबकारी इन्स्पेक्टर बनाये गये। जून, सन १६०६ में ये हलद्वानी में तहसीलदार नियुक्त हुए। जुलाई, सन् १६०६ में डिप्टी-कलक्टर बना कर इनका तबादला मुरादाबाद कर दिया गया; वहां ये सात वर्ष तक रहे। सन् १६१६ में सीतापुर को स्थानांतरित हुए और वहां दो वर्ष तक कार्य किया। सन् १६१८ में इनका तबादला उन्नाव को हो गया; और मृत्यु के समय तक ये वहीं नियुक्त थे।

अपने सर्कारी कार्य-काल में इन्होंने सब जगह प्रशंसा पाई। सन् १६११ की जन-गणना के दिनों में ये मुरादाबाद में थे। इनके उस समय के कार्य की प्रशंसा युक्तप्रांतीय जनगणना-प्रबन्धक (सेन्सस सुपरिनटेण्डेण्ट) ने अपनी रिपोर्ट की भूमिका में इस

प्रकार की थी—"मैं सबसे पहिले और महत्व के साथ बा० गोबिंद-प्रसाद (मुरादाबाद) का उल्लेख करता हूँ, जिन्होंने कि बहुत गहरी और विस्तृत छानबीन की और कम से कम तेंतीस जातियों के बारे में रिपोर्टें भेजीं। उन्होंने मेरे लिये, विशेषकर विवाह के प्रत्येक अंग के सम्बन्ध की, कहावतों की भी एक अत्यन्त पूर्ण सूची संग्रहीत की।" इनकी उसी खोज और विद्वत्ता से प्रभावित होकर ही धुरन्धर विद्वान सर ज्यौर्ज ग्रियर्सन की इन पर नज़र पड़ी और गढ़वाल व कुमाऊँ की बोलियों के सम्बन्ध में इनसे परामर्श किया और तब उस सम्बन्ध में अपने संसार-प्रसिद्ध ग्रंथ "भारत-बर्ष की भाषा-सम्बन्धी जांच" (दि लिंग्विस्टिक सर्वे औफ़ इंडिया) में उन्होंने लिखा।

असहयोग-आंदोलन के दिनों में ये उन्नाव में थे; अपनी योग्यता के कारण ये ज़िला अमन सभा के मन्त्री नियुक्त किये गए; उस पद से इन्होंने असहयोग के विरुद्ध ज़ोरदार कवितायें व लेख लिखे; इसी आशय की एक "राजनैतिक पद्यावली" भी इन्होंने प्रकाशित की; लेकिन इनकी सज्जनता व सद्व्यवहार के कारण असहयोगी कार्यकर्ता भी इनसे असन्तुष्ट नहीं हुए। उधर सर्कार ने सन् १९२२ में इन्हें "रायबहादुरी" देकर सम्मानित किया।

बचपन से ही साहित्य की ओर इनकी रुचि थी। बरेली के विद्यार्थी-जीवन में "गढ़वाल डिबेटिंग क्लब" के सभापति और कालेज साहित्य-समिति के मन्त्री थे; उन संस्थाओं के वाद-विवादों में ये उच्चकोटि के भाषण दिया करते थे व हिंदी और अंग्रेज़ी ड्रामों के अभिनयों में भी भाग लिया करते थे। इन कारणों से इनके सहपाठी इनका विशेष आदर किया करते थे।

सर्कारी नौकरी में प्रविष्ट होने के बाद इन्होंने उत्कृष्ट पुस्तकों का एक सुन्दर बड़ा संग्रह किया और साहित्य-सेवा में लग गये। सर्वप्रथम संस्कृत "हितोपदेश" का गढ़वाली भाषा में इन्होंने अनुवाद

किया; वह पांच भागों में पूर्ण हुआ था और डिबेटिंग क्लब अल्मोड़ा में मुद्रित किया गया था। उस अवसर पर श्री गिरिजादत्त नैथाणी ने अगस्त, सन् १९०२ के "गढ़वाल-समाचार" में लिखा था—"संस्कृत हितोपदेश का लल्लू जी लाल ने वृजभाषा में 'राजनीति' नाम से अनुवाद किया; श्री घिल्डियाल ने सर्वप्रथम गढ़वाली भाषा में अनुवाद किया। यह गढ़वाली भाषा की सर्वप्रथम छपी पुस्तक है। भाषा सरल, सुखप्रद, सहज गढ़वाली है।" इस पुस्तक के अतिरिक्त इन्होंने श्री सहदेव घिल्डियाल के सहयोग से "बारबल का भेंति रचित" पुस्तक भी गढ़वाली भाषा में लिखी।

हिंदी के प्रति इन्हें गहरा प्रेम था। प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटककार शेक्सपियर के 'ओथेलो' का हिंदी में इन्होंने अनुवाद किया था; ये 'शेक्सपियर सोसायटी' के सदस्य भी थे। फिर गोल्डस्मिथ के 'दि हरमिट' का हिंदी अनुवाद इन्होंने 'विस्मित योगी' शीर्षक से किया; उसके कुछ अंश "गढ़वाल-समाचार" में धारावाही रूप से निकले थे; हिन्दी के प्रमुख समाचार-पत्रों ने भी उसे स्थान दिया और इनके पास प्रशंसात्मक पत्र भेजे। बहुत कुछ उसी से प्रेरणा पाकर श्री श्रीधर पाठक ने भी उसी पुस्तक का "एकांतवासी योगी" शीर्षक से अनुवाद किया, तथा बाद में गोल्डस्मिथ के कतिपय अन्य काव्यों का भी उन्होंने अनुवाद किया। उस अनुवाद के बाद से इनका हिंदी के अनेक साहित्यिकों से अच्छा परिचय हो गया। विशेषकर प्रसिद्ध कवि श्री श्रीधर पाठक से तो इनकी घनिष्ठ मित्रता हो गई और उनके साथ इनका अनवरत पत्र-व्यवहार चलता रहा।

गढ़वाली सैनिकों ने प्रथम विश्व-युद्ध के अवसर पर जो अतुलनीय साहस और रण-कौशल प्रदर्शित किया था, उसके सम्बन्ध में इन्होंने दो पुस्तकें प्रकाशित कीं—"गढ़वाली राजपूतों की सैनिक-सेवा" और "गढ़वाली ब्राह्मणों की सैनिक सेवा"। इस पुस्तक में

इन्होंने ब्रिटिश राज्य की स्थापना से प्रथम विश्व-युद्ध तक गढ़वाली सैनिकों के वीरतापूर्ण कारनामों का विस्तृत वर्णन किया है।

गढ़वाल का एक प्रामाणिक इतिहास लिखने की इन्हें हार्दिक अभिलाषा थी और इस सम्बन्ध में इन्होंने बहुत-कुछ सामग्री एकत्र कर ली थी। इस विषय का अध्ययन करके ये ऐतिहासिक विषयों पर लेख भी लिखते रहते थे। उदाहरण-स्वरूप ३१ जुलाई, सन् १९२० के "गढ़वाली" में "मेरी गंगा होली तो मी मँ आली" की प्रचलित उक्ति की इन्होंने मार्मिक व्याख्या की। उस लेख से इनकी ऐतिहासिक विवेचना-बुद्धि का पता लगता है।

ऐसे ऐतिहासिक विषयों के अतिरिक्त इन्होंने 'गढ़वाली पखाणों' का संग्रह भी किया था; और अन्य विषयों पर भी गढ़वाल के समाचार-पत्रों के अतिरिक्त 'भारतमित्र', 'मनोरमा' आदि बाहर के पत्रों में भी इनके लेख छपते रहते थे। इनके लेख कभी अपने नाम से, कभी गुमनाम और कभी-कभी सम्पादकीय अग्रलेख की तरह भी प्रकाशित हुआ करते थे। लेकिन इन्होंने अधिकतर 'खिलारीराम' और 'अनुभव' नामों का ही प्रयोग किया।

पर उन्नाव से कुछ दिनों की छुट्टियां लेकर ये लैंसडौन आये कि अचानक १८ जुलाई को इन्हें दिल की धड़कन शुरू हुई और डाक्टरी सहायता के बावजूद १९ जुलाई, सन १९२२ ई० को असमय में ही इन्हें परलोक की यात्रा करनी पड़ी। इनके कनिष्ठ भ्राता श्री अनुसूयाप्रसाद घिल्डियाल अब अवकाश-प्राप्त जज हैं। इनके बड़े पुत्र श्री रघुनन्दनप्रसाद घिल्डियाल, पी० सी० एस०, आजकल बहराइच ज़िले में डिस्ट्रिक्ट प्लानिंग औफिसर हैं। इनके छोटे पुत्र श्री रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी' हिन्दी-जगत के प्रसिद्ध कहानीकार व उपन्यास-लेखक हैं।

———

(१०) श्री सत्यशरण रतूड़ी

(निधन-तिथि—२४ जनवरी, सन १९२९ ई०)

उठा गढ़वालियों ! अब त, समय यो सेण की नी छ।
तजा ई मोह-निद्रा कू, अजों तैं जो पड़ीं ही छ॥
अलो ! अपणा मुलक की यीं, छुटावा दीर्घ निद्रा कू।
सिरा का तुम इनी गैहरी, खड्डा मां जीन गेरयाल्यैं॥
अहो ! तुम भैर त देखा, कभी से लोक जाग्यां छन।
जरा सी आंख त खोला, कनो अब घाम चमक्यूं छ॥
स्वदेशी गीत कू एक दम, गुंजावा स्वर्ग तैं भायों।
भला डौंरू कसालू की कभी तुम कू कमी नी छ॥
बजावा ढोल रणसिंघा, सजावा थौल कू सारा।
दिखावा देश-वीरत्व, भरी पुरी सभा बीच॥
उठाला देश का देवतौं, सभी बांका भड़ू कूभी।
पुकारा जोर से भायौं घणा मंडाण का बीच॥

उपरोक्त कविता के लेखक तथा वर्तमान शताब्दी के प्रथम चरण में गढ़वाल के जातीय कवि श्री सत्यशरण रतूड़ी का जन्म टिहरी से छै मील दूर भागीरथी नदी के तट पर स्थित गोदी गांव में सन १८६९ ई० में हुआ था। इनके पिता श्री रामशरण रतूड़ी टिहरी-गढ़वाल राज्य के एक प्रभावशाली समाज-सुधारक थे; उन्होंने मादक वस्तुओं के वहिष्कार के लिये जोरदार आन्दोलन किया था। "सर्वहि मादक त्याज्यं" शीर्षक से उन्होंने इस सम्बन्ध में एक पैम्फलेट निकाला था और उस मंत्र को समुद्र पार तक पहुंचाया था। फर्वरी, सन १९०६ ई० के "गढ़वाली" में इनके आन्दोलन की नवम वार्षिक रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी; उसके अनुसार तब तक उन्होंने १७६८९ व्यक्तियों से प्रतिज्ञापत्र भरवाये थे और ३४ स्कूलों व कौलेजों में उपदेश दिये थे। उनके उसी उद्योग के कारण

अखिल भारतीय 'टेम्परेंस' (मादक-द्रव्य-निषेध) कान्फ्रेन्स के तत्कालीन सभापति डा० सर भालचन्द्र, के० सी० एस० आइ०, ने उनकी बहुत प्रशंसा की थी।

इन्होंने कुछ वर्षों तक टिहरी में शिक्षा पाई और फिर ट्रेनिंग हाइ स्कूल देहरादून से इन्ट्रेंस की परीक्षा उत्तीर्ण की। उसके बाद ये टिहरी-गढ़वाल-राज्य की नौकरी पर नियुक्त हो गये । कुछ वर्षों तक इन्होंने शास्त्रीय ढंग पर उद्यान-विद्या का अध्ययन किया; और लन्दन की एक तत्सम्बन्धी संस्था में यहीं से परीक्षा देकर सम्मान-सहित उत्तीर्ण हुए; फलस्वरूप इन्हें "एफ० आर० एच० एस०" (फ़ेलो औफ़ दि रौयल हौर्टीकल्चुरल सोसायटी) की पदवी प्राप्त हुई। इनकी इस योग्यता के कारण महाराज कीर्तिशाह ने इन्हें राज्य भर के उद्यानों का निरीक्षक नियुक्त किया। लेकिन उनके देहावसान के बाद, रीजेंसी कौंसिल के युग में, नौकरी से त्यागपत्र देकर इन्हें अपनी जन्मभूमि से विदाई लेनी पड़ी; और फिर लौटकर वापिस यहां न आ सके ।

टिहरी से विदाई लेने के बाद कुछ समय तक ये देहरादून आदि स्थानों में रहे और फिर इन्हें पटियाला राज्य में नौकरी मिल गई। वहां अपने गुणों से इन्होंने दीवान सर दयाकृष्ण कौल आदि उच्च अधिकारियों को मुग्ध कर लिया। ये वहां चार वर्ष रह पाये थे कि महाराज नरेन्द्रशाह ने इन्हें टिहरी लौटने का निमन्त्रण भेजा। ये घर आने की तैयारी कर ही रहे थे कि अचानक इन पर चेचक का वार हो गया और २४ जनवरी, सन १६२६ को पटियाला में ही इनका स्वर्गवास हो गया !

इस लेख के प्रारम्भ में जो पद उद्धृत किये गये हैं वे इन्होंने अपनी "उठा गढ़वालियों !" शीर्षक कविता में लिखे थे । यह कविता "गढ़वाली" के सर्व-प्रथम अंक (मई, सन १६०५ ई०) में प्रकाशित हुई थी। इसी एक कविता के कारण अनेक गढ़वाली हृदयों

में एक नई प्रेरणा पैदा हुई और कई महानुभावों ने गढ़वाली भाषा में कवितायें लिखना प्रारम्भ किया; इस कविता के द्वारा गढ़वाली कविता-साहित्य का जो युग प्रारम्भ हुआ वह लगभग सन १९२० तक चलता रहा। एक प्रकार से यह कविता गढ़वाल की चौमुखी जागृति की जागरण-भेरी सिद्ध हुई।

इस कविता के बाद इन्होंने स्वयं अनेक कवितायें गढ़वाली भाषा में लिखीं; वे प्राय: सब की सब "गढ़वाली" के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हुईं, और अब श्री तारादत्त गैरोला द्वारा सम्पादित "गढ़वाली कवितावली" में संग्रहीत हैं। इनकी प्राय: सब कविताओं का भाव देश-प्रेम है; और था भी यह उचित ही; क्योंकि उस समय गढ़वाली जन-समाज को प्रगाढ़ निद्रा से जाग्रत करने के लिये ऐसी ही कविताओं की आवश्यकता थी। उदाहरण-स्वरूप "उद्बोधन" शीर्षक कविता में इन्होंने स्वदेश-सेवा का इस प्रकार आवाहन किया था—

गढ़देश बासियों हे! तज नींद जागि जावा।
ह्वैगे प्रभात प्यारौं ! मांगल्य गीत गावा॥
सुन्दर सबी दिशों मां, छ सूर्य को उजालो।
अब राति को अंध्यारो, हटिगे, खुशी मनावा॥
जै काम कू उठौं दैं, तन और मन लगैक।
आधा कभी न छोड़ा, पूरो करी दिखावा॥
माई का लाल प्यारा, रणशूर जो हमारा।
भाई लड़ाइ मां छन, तौं की विजय मनावा॥
बद्री, केदार, गंगा, जै देश मां विराज्यां।
भायौं! सभी मिलीक, वैकी विभूति गावा॥

इन्होंने हिन्दी में भी कविता-रचना करके प्रसिद्धि प्राप्त की। इनकी भाषा परिमार्जित और शैली स्पष्ट है। उसमें माधुर्य व ओज है। इनकी अधिकांश कवितायें समय-समय पर "सरस्वती"

में प्रकाशित हुईं और अब वे श्री विश्वम्भर दत्त उन्याल द्वारा सम्पादित "सत्य-कुसुमाञ्जलि" पुस्तक में संग्रहीत हैं। इनकी अधिकांश कविताओं का भाव देश-प्रेम है। समाज-सुधार की भावना भी इनमें तीव्र थी; विशेषकर महिला-वर्ग के सुधार के प्रति ये बहुत उत्साही थे। 'महिला-महत्व' कविता में इन्होंने लिखा था—

नारियां ही लोक की सद्धर्म-दीक्षा रूप हैं।
अज्ञान-तम में ज्योति की ये ज्वलित-ज्वाल अनूप हैं।

लेकिन सब से अधिक सफलता इन्हें प्रकृति-वर्णन में मिली। इस विषय पर इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना "शान्तिमयी शय्या" है। अपनी उत्कृष्टता के कारण यह कविता श्री रामनरेश त्रिपाठी द्वारा सम्पादित "कविता-कौमुदी" के संकलन में स्थान पा चुकी है। इसकी इस कविता को सुनकर सुप्रसिद्ध वेदान्ती स्वामी रामतीर्थ ने एक बार कहा था—"मैं सत्यशरण रतूड़ी की कविताओं की अत्यन्त प्रशंसा करता हूँ।" इस कविता के कुछ अंश इस प्रकार हैं—

मनोहारी शय्या परम सुथरी भूमितल की;
सुहाती क्या ही है ललित बन के दूब-दल से।
नदी के कूलों की विमल वर इन्दु-द्युति सम,
नई रेती से जो अति चमकती है निशि दिन ॥१॥
सुहाने वृक्षों की अति सघन पंक्ति-प्रवर से।
लता प्यारी-प्यारी लिपटती अनोखी तरह से।
रंगीले फूलों की नवल बन-माला पहन के,
लुभाती है जी को पथिक जन के ये विपिन में ॥२॥
सुरीली वीणा सी सरस नदियां वादन करें,
कभी मीठी-मीठी मधुर धुनि से गायन करें।
सदा ही नाचै हैं झरित झरने नाच नवल,
निराली शोभा है विपिन वर की कौतुकमयी ॥३॥
कभी धीरे-धीरे व्यजन करती मंद गति से,

चली आती दौड़ी पवन मदमाती मलय की।
कभी त्रित्ताकर्षी शिशिर-कणवर्षी विपिन में,
दिखाती है शोभा सुखद, मन लोभा न किसका ? ॥ ४॥
महा शोभा-शाली बिपुल विमला चन्द्र-किरणें,
घने कुंजों में हैं सतत घुस के खेल करतीं।
कभी हो जाती हैं सघन घन के ओट-पट में,
वियोगी योगी के हृदय हरतीं तत्क्षण सदा ॥५॥
कभी आती निद्रा विमल परमानन्द-पद की,
सुहानी शय्या में अतिशय सनी शान्ति रस सी।
कभी आंखों को है चकित करती प्राचि अबला,
दिखाती आती है अमल अरुणाई अधर की ॥६॥
छटा कैसी प्यारी प्रकृति तिय के चन्द्र-मुख की,
नया नीला ओढ़े बसन चटकीला गगन का।
जरी-सलमा-रूपी जिस पर सितारे सब जड़े,
गले में स्वर्गं गा अति ललित माला सम पड़ी ॥७॥

इनकी इसी प्रकार की प्रतिभा के कारण आचार्य श्री महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने पत्रकार श्री श्यामचन्द नेगी को अपने २ मार्च, सन १९३८ ई० के एक पत्र में ये शब्द लिखे थे—"स्वर्गवासी पं० सत्यशरण जी रतूड़ी सुकवि थे। भाषा पर उनका अच्छा अधिकार था। उनकी वाणी में रस था। उनकी कवितायें सरस, सरल, और भावमयी होती थीं। इस से मैं उन्हें 'सरस्वती' में स्थान देता था। रतूड़ी जी ने बहुत सहायता की। खेद है, समय से पहिले ही वह कवि-कुसुम मुरझा गिर गया !"

इनके सुपुत्र श्री आनन्दशरण रतूड़ी, एम० ए०,पी०-एच०डी०, हिन्दू विश्व विद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग में लेक्चरर हैं; उससे पहिले वे प्रजामण्डल-मन्त्रिमंडल के कार्य-काल में टिहरी-गढ़वाल राज्य के शिक्षा-मन्त्री के पद पर कार्य कर चुके थे।

(११) श्री गिरिजादत्त नैथाणी

(निधन-तिथि—२१ नवम्बर, सन १६२७ ई०)

गढ़वाल के सर्व-प्रथम पत्र-सम्पादक श्री गिरिजादत्त नैथाणी का जन्म सन् १८७२ ई० में मन्यारस्यूँ पट्टी के नैथाणा गांव में हुआ था। सन १८८८ ई० में हिंदी मिडिल स्कूल कांसखेत से इन्होंने हिंदी मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की। तदुपरांत इन्होंने बरेली कौलेज से मैट्रिक की परीक्षा दी; लेकिन सफल नहीं हो पाये।

बरेली ही में एक अन्य विद्यार्थी से इनका परिचय हो गया। उसके साथ ये आगरा गये और दुर्भाग्यवश एक डाकू के चकमे में आकर पकड़ लिये गये। इन्हें अदालत से चार साल क़ैद की सज़ा मिली और उसका अधिकांश समय इन्होंने नैनी सेंट्रल जेल में बिताया। किसी भी युवक के लिये जेल-प्रवास की यह आकस्मिक दुर्घटना सदैव के लिये उसका उत्साह भंग कर सकती थी; लेकिन इन्हें वह वरदान सिद्ध हुई। नैनी जेल में इन्हें एक सुशिक्षित क़ैदी के साथ रहने का अवसर मिला; पढ़े-लिखे तो ये थे ही; उस साथी क़ैदी के कारण इन्हें अनेक पुस्तकें पढ़ने की सुविधा प्राप्त हुई और इनके अंदर जो लेखन-शक्ति थी, उसका विकास होने लगा। अतः इन्होंने निश्चय कर लिया कि ये क़लम के ही द्वारा समाज व देश की सेवा करेंगे।

इन्होंने मई, सन् १६०२ ई० में लैंसडौन से मासिक "गढ़वाल-समाचार" का प्रकाशन प्रारम्भ किया; वह पत्र फुलस्कैप साइज़ के १६ पृष्ठों का था और आर्य भास्कर प्रेस मुरादाबाद में छपाया जाता था। फिर अधिक सहयोग व सुविधा की दृष्टि से इन्होंने अपना कार्यालय कोटद्वार को बदल दिया और "गढ़वाल-समाचार" का छटा अंक (अक्तूबर, सन् १६०२ ई० में) वहीं से प्रकाशित हुआ। इनकी आर्थिक स्थिति स्वयं चिन्तनीय थी और जनता का सहयोग

भी असन्तोषजनक था। इसलिये दो वर्ष भी पूरे नहीं हो पाए थे कि गढ़वाल में समाचार-पत्र-जगत का वह सर्व-प्रथम उद्योग समाप्त हो गया!

इसके कुछ ही समय बाद देहरादून की "गढ़वाल यूनियन" की ओर से मासिक "गढ़वाली" का प्रथम अंक मई, सन् १६०५ ई० में प्रकाशित हुआ और सम्पादकीय अनुभव के कारण ये उसके सम्पादक नियुक्त हुए। इनके कारण "गढ़वाल-समाचार" भी उसी में सम्मिलित कर दिया गया था। "गढ़वाली" के सम्पादन के लिये प्रारंभ में एक सम्पादक-समिति बनाई गई थी। समाचारों को छोड़कर प्रायः प्रत्येक लेख उस समिति के प्रत्येक सदस्य के पास भेजा जाता था और सबकी सहमति से संशोधित होकर वह छपाया जाता था। लेकिन कुछ समय बाद इन पर ही सारा उत्तरदायित्व आ गया और ये योग्यतापूर्वक सम्पादकीय भार निभाते रहे। पर धीरे-धीरे इनके तथा "गढ़वाल यूनियन" के संचालकों में मतभेद बढ़ने लगे और आखिर सन् १६१० में ये "गढ़वाली" से अलग हो गये।

लेकिन इन्हें तो प्रेस व पत्र की ही धुन थी; वही इनकी प्राण-वायु थी; उसके बिना ये जीवित कैसे रह सकते थे? इसलिए कतिपय व्यक्तियों की सहायता से इन्होंने लगभग चार हज़ार रूपये एकत्र किये और सन १६१२ में दुगड्डा में एक प्रेस चालू कर दिया। उस प्रेस का नाम तत्कालीन डिप्टी-कमिश्नर मिस्टर पी० ए० स्टौवल के नाम से "स्टौवल प्रेस" रखा गया। उसी प्रेस से फ़र्वरी, सन १६१३ में "गढ़वाल-समाचार" का दुबारा प्रकाशन प्रारम्भ हुआ और दिसम्बर, सन १६१४ ई० तक वह चलता रहा। उस प्रेस का कार्य इनकी देखभाल में बड़ी योग्यता के साथ हुआ करता था और इस कारण उन दिनों वह गढ़वाल से बाहर अन्य ज़िलों में भी प्रसिद्ध हो गया था। उस प्रेस की प्रसिद्धि का पता

इस बात से मिलता है कि हिन्दी साहित्य के उद्भट समालोचक श्री पद्मसिंह शर्मा ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "सतसई-संहार" के कुछ परिच्छेद यहाँ छपाये थे; उस सम्बन्ध में उनके साले श्री नैपाल शर्मा कुछ महीनों तक दुगड्डा में रहे और स्वयं उन्हें भी एक बार यहाँ आकर कुछ दिनों टिकना पड़ा था। 'सतसई-संहार' के अतिरिक्त 'स्टौवल प्रेस' में और भी कई पुस्तकें छपी थीं।

लेकिन उसी बीच पौड़ी से मासिक "विशाल कीर्ति" का भी प्रकाशन प्रारम्भ हो गया। एक ही ज़िले में तीन प्रेस व तीन समाचार-पत्र चलते रहने के कारण धीरे-धीरे वाद-विवाद बढ़ने लगा और उसकी तेज़ी व गर्माहट बढ़ती गई। इस प्रकार सार्वजनिक जीवन के छिन्न-भिन्न हो जाने के भय से तत्कालीन प्रमुख गढ़वाली नेताओं की एक सभा दिसम्बर, सन १९१४ ई० में कोटद्वार में हुई। उस एकता-सम्मेलन में यह निर्णय हुआ कि 'गढ़वाल यूनियन' व 'गढ़वाल भ्रातृ-मंडल' को मिलाकर 'गढ़वाल सभा' के नाम से एक ही सभा बनाई जाय; तीनों प्रेसों को 'गढ़वाली प्रेस देहरादून' में सम्मिलित कर दिया जाय और तीनों समाचार-पत्रों को मिलाकर "गढ़वाली" को चालू रखा जाय और उसे साप्ताहिक कर दिया जाय!

उस निर्णय के अनुसार स्टौवल प्रेस की क़ीमत उस समय ४७००) कूती गई और उसकी अदायगी 'गढ़वाली प्रेस' के संचालकों ने कुछ किश्तों में उसके प्रारम्भिक डाइरेक्टरों को कर दी। "गढ़वाल-समाचार" चूँकि "गढ़वाली" में सम्मिलित कर दिया गया था, इसलिए इन्हें एक बार फिर "गढ़वाली" (साप्ताहिक) का सम्पादक नियुक्त किया गया, अतः ये देहरादून चले गये। लेकिन जनवरी, सन १९१५ से अगस्त, सन १९१६ तक ही ये 'गढ़वाली' का सम्पादन कर सके और सम्पादकीय नीति में मतभेद होने के कारण ये फिर दुबारा उससे अलग हो गये।

उस घटना के बाद ये कुछ निराश-से हो गये और एक प्रकार इन्होंने इस क्षेत्र से सदैव के लिए हट जाने का निश्चय कर लिया। लेकिन फिर भी अक्तूबर, सन १९१७ से इन्होंने मासिक "पुरुषार्थ" का प्रकाशन प्रारम्भ किया। वह छपता था बिजनौर में और प्रकाशित होता था कभी दुगड्डे से और कभी नैथाणा से; बाद में उसके कुछ अंक बाराबंकी में भी छपे; अतः वह चल नहीं सका। जून, सन १९२१ में इन्होंने नैथाणा से "पुरुषार्थ" को फिर प्रकाशित किया; लेकिन इस बार भी वह नियमित व स्थायी नहीं हो पाया और कुछ ही समय तक चल कर बन्द हो गया। फिर अपनी मृत्यु से कुछ ही समय पहिले इन्होंने उसका एक अंक निकाला और निश्चय किया कि उसे स्थायी रूप से चालू रखेंगे। लेकिन उसी बीच दुगड्डा में अचानक न्यूमोनिया से पीड़ित कर के २१ नवम्बर, सन १९२७ ई० को निर्दयी काल ने इन्हें सदैव के लिए छीन लिया!

लेखनी के द्वारा देश-सेवा का व्रत लेकर ये पत्र-सम्पादन के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए थे और अन्त तक उसी में डटे रहे। इनकी लेखनी में एक प्रतिभा थी, जो खांमुखां पाठकों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी! ये प्रत्येक प्रश्न को गहराई तक पहुँचने की कोशिश करते थे और तब अपना दृष्टिकोण प्रभावपूर्ण भाषा में प्रकट करते थे। इनका विषय चाहे कैसा ही हो, पर अपनी विद्युतमयी भाषा से ये उसमें एक तेज व चमत्कार भर दिया करते थे।

उस ज़माने में हाकिमों की ज्यादतियों और अनाचारों का विरोध करना हँसी-खेल नहीं था। फिर भी इन्होंने अपने समय के सार्वजनिक महत्व के सब प्रश्नों पर अपनी ज़ोरदार लेखनी से प्रकाश डाला और निर्भयतापूर्वक जनता की मांगों का ज़ोरदार समर्थन किया। इसीलिए इनके निधन पर "गढ़वाली" ने लिखा

था—"पं० गिरजादत्त ने देशप्रेम की पवित्र ज्वाला को, जो अब तक हाकिमों की और राजनीतिक अज्ञानता की राख से बुरी तरह दबी हुई थी, अपनी निर्भीक और तीव्र ध्वनि से प्रज्वलित किया।"

सब से अधिक ये संकुचित सम्प्रदायवाद के कट्टर शत्रु थे। जब श्री तारादत्त गैरोला के नेतृत्व में "सरोला-सभा" का आयोजन हुआ, तब इन्होंने उसका प्रबल विरोध किया; एक शीर्षक था—"सरोला-सर के एक प्रसिद्ध दादुर की टर्र-टर्र!" इस प्रकार के लेखों द्वारा इन्होंने उस संस्था के विरुद्ध प्रबल जन-मत संगठित कर दिया; क्योंकि इनकी सम्मति में उस संस्था के कारण ही गढ़वाल में साम्प्रदायिकता का विष-वपन हुआ था। बाद में जब तत्कालीन अधिकारियों की हथकंडेबाज़ियों से गढ़वाल में ब्राह्मण-क्षत्रिय-विद्वेष का सूत्रपात हुआ, तब इन्होंने उस नये दानव पर भी अपनी प्रचंड शब्दावली का प्रबल प्रहार शुरू किया।

एक ओर इनमें इतना तीखापन था, तो दूसरी ओर इनमें एक शुद्ध साहित्यिक की सरसता भी थी। इनके समय में गढ़वाली लेखकों द्वारा जितनी भी पुस्तकें प्रकाशित हुईं, उन सब की आलोचना करके इन्होंने लेखकों को प्रोत्साहन दिया। ये कहानियाँ भी लिखा करते थे; इनके कथानक अधिकांशतया युद्ध-सम्बन्धी हुआ करते थे। इनके अन्दर कवि की सी स्वाभाविक भावना थी; ये छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों व पक्षियों तक का सुन्दर काव्यमय भावनात्मक वर्णन किया करते थे। इसी बुनियादी साहित्यिकता के कारण, ये गढ़वाली भाषा में स्वयं भी कवितायें कर लिया करते थे; सितम्बर, सन १९०६ के "गढ़वाली" में "मद्याष्टक" शीर्षक से इनकी एक कविता प्रकाशित हुई थी; उसका पहिला पद था—"छि, मद्य! त्वैकू सौ सौ धिकार!" इन्होंने मांगलों का संकलन व संशोधन करके "मांगल-संग्रह" के नाम से सन १९२२ में प्रकाशित किया था। सन १९१४-१८ के यूरोपीय महासमर के अवसर पर गढ़वाली

पलटनों की वीरता से हर्षित हो कर इन्होंने "गढ़वाली" में कई प्रभावशाली लेख लिखे थे तथा ऐसे मजमून की चिट्ठियाँ रणभूमि को भेजी थीं कि अपने महत्व के कारण उन्हें 'बटैलियन ऑर्डर' में स्थान मिला था !

इनके बड़े पुत्र श्री मायादत्त नैथाणी का "संयोगिता" नाटक बंबई की हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर सीरीज़ में प्रकाशित हो चुका है और वे स्वयं बंबई के अनेक अंग्रेज़ी दैनिक पत्रों में सम्पादकीय विभाग में कार्य कर चुके हैं। छोटे पुत्र श्री लक्ष्मीदत्त नैथाणी राजस्थान में खानों के इंजीनियर हैं।

---

(१२) श्री सनातनानन्द सकलानी

(निधन-तिथि—१६ अगस्त, सन १९२८ ई०)

'सत्कविदास' उप-नाम से काव्य-रचना करने वाले श्री सनातनानन्द सकलानी का जन्म नवम्बर, सन १८७३ ई० को श्रीनगर में हुआ था। इनके पिता श्री सदानन्द सकलानी टिहरी-दर्बार के सलाहकारों तथा सम्माननीय व्यक्तियों में थे। इन्होंने बी० ए० तक सम्मानपूर्वक अध्ययन किया। प्रारम्भ में ये टिहरी-गढ़वाल राज्य में अध्यापक नियुक्त हुये और कुछ वर्षों बाद उत्तर प्रदेशीय शिक्षा-विभाग ने इन्हें सब-डिप्टी-इन्सपेक्टर ऑफ़ स्कूल्स के पद पर छांट लिया। उस पद पर इन्होंने कई जिलों में योग्यतापूर्वक कार्य किया; लेकिन बुलन्दशहर में कार्य करते हुए अचानक ५५ वर्ष की आयु में १६ अगस्त, सन १९२८ ई० को इनका देहावसान हो गया! यहां तक कि परिवार वाला कोई भी समय पर नहीं पहुंच पाया।

इन्होंने पुस्तकीय विद्या के अतिरिक्त हिंदी, उर्दू, अंग्रेज़ी, संस्कृत, फ़ारसी व अरबी का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया था; बँगला, गुजराती व मराठी में भी इनकी यथेष्ट गति थी। यूरोपीय महा-

काव्यों के अध्ययन के लिए इन्होंने लैटिन व ग्रीक भाषा की डिक्शनरियां अपने पास रखी थीं। लेकिन इस ज्ञान के सिवाय ये मूलतः कवि थे। इन्होंने हिंदी व गढ़वाली दोनों में काव्य-रचना की। इनकी कुछ गढ़वाली कवितायें "गढ़वाली" पत्र में प्रकाशित हुई थीं। इनकी दो कविताएँ "गढ़वाली कवितावली" पुस्तक में संग्रहीत हैं—(१) 'स्वार्थ-सप्तक' तथा (२) 'सीख सच्चा सपूत कूँ'। पहिलो कविता का प्रथम पद इस प्रकार है—

> गरीब भूखा मरवैन त्वैन, दिदा भुलौं से लड़वैन त्वैन;
> अन्याय भारी करवैन त्वैन, हे स्वार्थ, तेरो मुख क्वी न देख!

इनकी हिंदी कविताएँ 'सरस्वती', 'माधुरी' तथा 'बंगवासी' आदि हिंदी के पत्रों में प्रकाशित हुआ करती थीं। अनेक संस्कृत श्लोकों का भावानुवाद इन्होंने सरल हिंदी में किया था। इनकी स्वतन्त्र कविताएँ भी बड़ी सरल, हृदयग्राहिनी तथा मधुर हुआ करती थीं। इसीलिए 'सरस्वती' के सम्पादक आचार्य श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी ने एक पत्र में लिखा था कि—"आप में कविता का स्वाभाविक बीज है।" इनकी कविताओं को वे सहर्ष प्रकाशित करते थे, क्योंकि उनमें दार्शनिक अनुभूति की पुट रहती थी। इनकी 'संदेश' कविता श्री शम्भु प्रसाद बहुगुणा की 'सुन्दर-असुन्दर' शीर्षक पुस्तक में छपी है और इस प्रकार है—

> एक ब्रह्म सब का कर्तार, एक सत्य सब का आधार,
> एक शक्ति पूरित संसार, है बस एक ऐक्य ही सार!
> यही धर्म का है उपदेश, यही हिन्द का है सन्देश!
> हृद रत्नों का सुगठित हार, सुहृद जनों का सच्चा प्यार,
> सहृदयता का पारावार, 'ऐक्य' सुहृद का है सार,
> बनें ऐक्य-प्रेमी सब देश, यही हिन्द का है सन्देश!
> शक्ति-साधना का उपचार, भेद भावना का परिहार,
> सहानुभूति पूर्ण व्यवहार, ऐक्य—साम्य का भी है सार,

रहें 'ऐक्य'-रत प्रजा-प्रजेश, यही हिन्द का है सन्देश !
भाता नहीं जिन्हें संस्कार, भू-माता के हैं जो भार,
है जिन पर कोई फिटकार, ऐक्य उन्हीं को है निस्सार,
उन पर हंसते हैं परदेश, यही हिन्द का है सन्देश !
एक्य नीति के ही अनुसार, रक्खो सब आचार-विचार,
यही सनातन सुख का द्वार, यही सनातन मत का सार,
यही सुरेश-नरेश-दिनेश, यही हिन्द का है सन्देश !

इनके बड़े भाई श्री शशिशेखरानन्द सकलानी गढ़वाल के जीवित इतिहास थे; वे हिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी आदि के विद्वान थे और पद्य-रचना भी किया करते थे। २६ नवम्बर, सन १६४८ ई० को ६३ वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हुआ। उनके बड़े पुत्र श्री इन्दु मोहन सकलानी सर्वे ऑफ़ इण्डिया में नियुक्त हैं; दूसरे पुत्र श्री मदन मोहन सकलानी रेंजर्स कौलेज, देहरादून में अध्यापक हैं; तीसरे पुत्र श्री मनमोहन सकलानी भारत-सकार के प्रिंटिंग व स्टेशनरी विभाग के डिप्टी-कण्ट्रोलर हैं; और चौथे पुत्र श्री ईश मोहन सकलानी देहरादून में वकालत करते हैं। स्वयं इनका निस्सन्तान देहान्त हुआ था।

---

(१३) श्री सदानन्द घिल्डियाल

(निधन-तिथि—सन १६२८ ई०)

आयुर्वेद के प्रसिद्ध विद्वान तथा सुलेखक श्री सदानन्द घिल्डियाल का जन्म पट्टी कट्टूलस्यूं के खोला ग्राम में अक्तूबर, सन १८६८ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री जीवानन्द घिल्डियाल था। इन्होंने पास-पड़ोस की स्कूलों में सामान्य शिक्षा तथा घर पर संस्कृत शिक्षा प्राप्त करने के बाद सन १६०६ ई० में पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की। उस अध्ययन-काल

में ही इन्होंने अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया था । साथ ही इन्हें विद्यार्थी-जीवन से ही कविताएँ लिखने का शौक़ था। २० वर्ष की आयु तक तो इन्होंने हिन्दी व संस्कृत में कई कवितायें लिख डाली थीं। अपने पत्र भी अक्सर ये संस्कृत कविताओं में लिखा करते थे। उन कविताओं के कारण इन्हें कई बार पदक व पुरस्कार भी मिले। इन्होंने "प्रायश्चित" शीर्षक से हिन्दी में एक छोटा नाटक भी लिखा; उस नाटक में इन्होंने गढ़वाली महिलाओं के पक्ष का ज़ोरदार समर्थन किया। बहुपत्नी-प्रथा के ये कट्टर विरोधी थे; इसीलिए अपने पिता के बार-बार अनुरोध करने पर भी इन्होंने वंश-परम्परा स्थिर रखने के लिये दूसरा विवाह नहीं किया। इनकी कविताओं का संग्रह 'भाव-कुसुमांजलि' शीर्षक अप्रकाशित पुस्तिका में है।

लाहौर के निवास में ही इनका ध्यान आयुर्वेद की ओर आकर्षित हुआ। देश-प्रेम की भावना के कारण इन्होंने उसके उद्धार का संकल्प किया। इस विद्या का ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से इन्होंने लाहौर के प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य कविराज नरेन्द्रनाथ मित्र को अपना गुरु बनाया और सन १६२१ से सन १६२६ तक उनकी संरक्षता में घनघोर अध्ययन किया। उस काल में इन्होंने आयुर्वेद में सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दक्षता प्राप्त की। साथ ही इन्होंने महत्वपूर्ण शोध-कार्य भी सम्पन्न किया। उन्हीं दिनों इन्होंने आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'चक्रदत्त' तथा एक अन्य ग्रन्थ 'नवनीतिकम्' पर गवेषणापूर्ण टीकाएँ तैयार कीं। साथ ही उन्हीं दिनों इन्होंने लाहौर के 'वैद्य-बन्धु' में कई गम्भीर विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे; उसीमें इनका 'महा कषाय शतकम' भी क्रमशः प्रकाशित हुआ। इन्होंने उन दिनों तन्त्र-शास्त्र का भी मनन किया और उस पर भी एक पुस्तक लिखने की योजना बनाई, पर वह अपूर्ण ही रह गई।

इनकी सर्वप्रमुख तथा महत्वपूर्ण पुस्तक 'रस-तरङ्गिणी' है। यह

मधुर तथा विविध संस्कृत छन्दों में लिखी गई है। आयुर्वेद-शास्त्र पर यह एक अत्यधिक महत्वपूर्ण पुस्तक है। इसमें पूर्व तथा पश्चिम दोनों प्रकार की प्रणालियों का समन्वय किया गया है। साथ ही इसमें आयुर्वेदिक ढंग पर मरहम और 'टिंक्चर' आदि बनाने की मौलिक विधियां बताई गई हैं। आयुर्वेद-रसायन के इस मौलिक ग्रंथ पर लाहौर के आयुर्वेदाचार्य श्री हरिदत्त शर्मा ने संस्कृत में एक सुन्दर टीका तैयार की है। यह ग्रंथ बनारस विश्वविद्यालय तथा अन्य आयर्वेद-विद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक की भांति पढ़ाया जाता है। मेजर जे० जे० जौली, आइ० एम० एस०, ने मुक्त-कण्ठ से इसकी प्रशंसा की है।

इनकी ख्याति सुनकर महामना पं० मदन मोहन मालवीय ने बनारस विश्वविद्यालय के आयर्वेद विभाग में प्रोफेसर पद पर नियक्ति करने के लिए इन्हें बुलाया; लेकिन इनकी कम उम्र देख कर उन्होंने बाद में विचार करने का आश्वासन दिया। उन्हीं दिनों विख्यात विद्वान श्री यादव जी त्रिकम जी ने 'चरक संहिता' पर टीकाओं की एक पुस्तक-माला प्रकाशित करने की योजना तैयार की; उन्होंने उस कार्य के लिये भारत भर के आयर्वेद-विशारदों में से कुछ महानुभाव निर्वाचित किये; उनमें से एक ये भी थे। लेकिन उन दोनों महानुभावों के पत्र पहुँचने से पहिले ही सन १९२८ में केवल ३० वर्ष की आयु में ही इनका आकस्मिक देहावसान हो गया!

वास्तव में ये आयुर्वेद-शास्त्र के एक अधिकारी विद्वान थे। इनके असामयिक निधन से इन की कई महत्वपूर्ण योजनाओं तथा विद्वत् समाज की कई आशाओं पर पानी फिर गया।

इनके छोटे भाई श्री श्रीधरानन्द घिल्डियाल, शास्त्री, लाहौर में अध्यापन करते थे और अब पटियाला में अध्यापक हैं।

(१४) श्री भवानीदत्त थपलियाल

(निधन-तिथि—२६ अप्रैल, सन १६३२ ई०)

अरे पर्वत निवासी, जाग छुछा अब रात खुलीगे।
तेरा सौं भैर उठ देखी, अगा को दिन पछा ह्वैगे॥
य भारत-रात ह्यूँदयाऊ, सभी व्यूर्जान से-से की;
तु ही दुड्गा पड्यूं रैगे, अज्यूं घुंजा भी खे-खे की॥
कुई व्यूजीन अधराति, कुई घड़ि रात जब रैगे।
तेरी दाव ये दिन धौली, अंधेरी रात पड़ी रैगे॥

उपरोक्त जागृति-संदेश को सुनाने वाले गढ़वाली के कवि व नाटक-लेखक श्री भवानीदत्त थपल्याल का जन्म सन १८६७ ई में पट्टी मवालस्यूँ के खेड़ गांव में हुआ था। इनके पिता श्री विष्णु-दत्त थपलियाल ने चालीस वर्ष तक पटवारी-पद पर कार्य किया व सन १६१४ में स्वर्गवासी हुये। इन्होंने अंग्रेजी मिडिल तक शिक्षा ग्रहण को और फिर देहरादून के कलेक्टोरेट-दफ़्तर में क्लर्क नियुक्त हो गये। १०-१२ वर्ष तक वहां कार्य करने के बाद इन्हें ट्रेजरी हेड क्लर्क बना दिया गया और इनका तबादला मेरठ को हो गया; वहां भी इन्होंने १०-११ वर्ष तक कार्य किया। फिर इनका स्थानान्तर मुज़फ़्फ़रनगर को हो गया; वहां ७-८ वर्ष तक कार्य करने के बाद सन १६२० में इन्होंने अवकाश ग्रहण किया।

अपने सर्कारी जीवन में इन्होंने बहुत सच्चरित्रता और दियानतदारी से काम किया। ये एक प्रहसन-प्रिय और हाज़िरजवाब व्यक्ति थे। पेंशन के १२ वर्ष इन्होंने अधिकाँशतया भगवत्-भजन और साहित्य-सेवा में व्यतीत किये। आखिर २६ अप्रैल, सन १६३२ ई० को ६५ वर्ष की आयु में इनका देहान्त हुआ।

विद्यार्थी-जीवन से ही इन्हें कवितायें लिखने का शौक़ था और अपने व्यक्तिगत पत्रों में भी कवितायें लिखा करते थे। प्रारम्भ में

ये हिन्दी में पद्य-रचना करते थे, लेकिन बाद में इन्होंने गढ़वाली में समाज-सुधार के भावों से पूर्ण नाटक लिखने का बीड़ा उठाया और अपने उद्देश्य में सफल हुये। दिसम्बर, सन् १९०८ ई० में गढ़वाल-भ्रातृ-मण्डल का प्रथम अधिवेशन कोटद्वार में हुआ; उस सभा में इन्होंने अपना वह जागृति-संदेश सुनाया, जो प्रारम्भ में उद्धृत किया जा चुका है। मंडल के संचालकों ने इनके अंदर प्रतिभा देखकर इनसे अनुरोध किया कि "गढ़वाल जनता के मनोरंजन, दुर्व्यसनों के गंजन तथा दुराचारों के भंजनार्थ ठेठ गढ़वाली भाषा में कोई एक पुस्तक" रचने की ये कृपा करें। उस प्रोत्साहन के फलस्वरूप इन्होंने "जय-विजय-नाटक" नाम से एक पुस्तिका सन् १९११ ई० में प्रकाशित की। यद्यपि गढ़वाली भाषा में सर्वप्रथम नाटक होते हुए भी अधिकांश शिक्षित महानुभावों से इन्हें विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला, तथापि आम जनता ने उसे खूब अपनाया और उसका प्रथम संस्करण हाथों-हाथ बिक गया तथा दूसरे संस्करण का तक़ाज़ा किया जाने लगा। अतः प्रोत्साहित होकर इन्होंने सन् १९१४ ई० में अपना सुप्रसिद्ध 'प्रहलाद नाटक' भी लिख डाला; लेकिन तबतक प्रथम विश्व-महायुद्ध छिड़ चुका था और उसके कारण छपाई का ख़र्चा बहुत बढ़ गया था; इसलिये उसका प्रकाशन बहुत दिनों तक रुका रहा। आखिरकार सन् १९३० ई० में इन्होंने कलकत्ता से उसे छपाकर प्रकाशित किया।

अपने उद्देश्य व शैली को इन्होंने 'प्रहलाद नाटक' की भूमिका में स्वयं इस प्रकार व्यक्त किया है—

"गढ़वाली भाषा की कविता जो संस्कृत शब्दों से अलंकृत और श्लोकों के रंग-ढंग पर बनाई जाती है वह सर्वसाधारण की समझ में कम आती है। दूसरे में गढ़वाली भाषा के बहुत थोड़े शब्द होने के कारण कोई-कोई विषय स्पष्ट नहीं होने पाते हैं। तीसरे गढ़वाली भाषा हर गांव की जुदा-जुदा होने के कारण एक की कविता

दूसरे को न तो प्रिय ही लगती है और न वह उसका यथोचित उच्चारण ही कर सकता है। इसलिये इन कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए यह 'प्रह्लाद नाटक' जहां तक बन पड़ा सरल से सरल प्रचलित मिली-जुली ठेठ गढ़वाली भाषा के गीत-बातों में हर छोटे-बड़ों को शिक्षा का साक्षात्कार और मनोरंजन का भण्डार बनाकर गढ़वाल जनता की सेवा में भेंट किया है।"

"प्रह्लाद नाटक" का कथानक सुप्रसिद्ध धार्मिक कथानक के आधार पर है; लेकिन उसके बीच में गढ़वाल के ग्रामीण जीवन का खाका भी खींचा गया है। 'घिमडु पधान' व 'दुर्जनसिंह फौंदार' के चरित्रों द्वारा इन्होंने कन्या-विक्रय प्रथा की नृशंसता व अदालतों की घूसखोरी का सफल चित्रण किया है; पद-पद पर शराब, कुशिक्षा और मुक़दमेबाज़ी का विरोध करते हुए प्रवासी गढ़वालियों की दुर्दशा का भी प्रदर्शन किया गया है। उसी नाटक के अन्तर्गत गढ़वाल के ग्रामवासियों को उठने व आगे बढ़ने का आवाहन करते हुए प्रह्लाद के मुख से अपने सहपाठियों के प्रति इंगित कराके इन्होंने ये शब्द कहलाये हैं—

तुम दुनियां का धन्दा तो करदा ही छैं,
कुछ ऐथर कू भी कमांदा चला॥
भेलु-भेलु खाबलि लगौंदा छयां,
तुम गाडु-गाडु बाड़ बधौंदा छयां;
तना जाला-फट्याला सुधार्दा छयां,
जरा देश-दशा भि सुधार्दा चला॥
गया धान तुम्हारा न्यलाया बिना,
छुछा कौणि झंगोरो छल्याया बिना;
तुम कोदा कि जिल्कि मां बिल्कि गयां,
कुछ ऐथर भी जरा सरदा चला॥

ये गढ़वाली ग्राम-समाज के हृदय के अन्तस्तल तक पहुँच जाना

चाहते थे। ये जानते थे कि ग्राम-गीत ही अशिक्षित जनता के हृदय के सच्चे उद्गार हैं; अत: उन्हीं के द्वारा उनके हृदय की सुप्त भावनाओं को जाग्रत किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से इन्होंने प्रचलित गीतों का विस्तृत अध्ययन किया और उन्हीं की तर्ज़ों पर नये अर्थ-पूर्ण गीतों की रचना करके अपने नाटकों में उनका सफल उपयोग किया। इन्होंने मांगल, होरी, चौंफुला व थड़्या गीत आदि अनेक तर्ज़ों का उपयोग किया। उदाहरण के लिये, एक थड़्या-गीत का पहिला पद है—"पालि पताल तितरी को ब्याऊ, बुड्या कु चैंद तरुणो ब्याऊ;—हिरिरि हिरिरि रिरिरि री।" इस तर्ज़ पर इन्होंने प्रह्लाद की फूफू 'हुल्लका' से निम्नलिखित गीत गवाया है; इस गीत की कलात्मकता का अनुभव कीजिये और साथ ही गढ़वाली ग्रामीण महिला की करुणापूर्ण गाथा को भी हृदयंगम कीजिये—

ऋतु बसन्त म फूली लयेड़ी, जोबन जोर जता लि जयेड़ी,
थामि-थामि थकि रहलि मयेड़ी, हिरिरि, हिरिरि रिरिरि री।
फागुण फूलु की फूली हिलोर, कामिनि कुंज कली खिलि जोर,
तौं माथे रिंगला कामी भंवोर, हिरिरि..............री।
मेरी तो बानी सदानी उड़ी, लाखुड़्-घास का बोझ मुड़ी,
जोबन बऽगो पस्यौ दगड़ी, हिरिरि............री।

इस प्रकार ये गढ़वाल की सामान्य ग्रामीण जनता के गायक व नाटककार थे। इसीलिये इनका 'प्रह्लाद नाटक' उत्साही ग्रामीणों द्वारा अक्सर खेला जाता है और इनके गीत उनके अपने बन गये हैं।

इनके बड़े पुत्र श्री ईश्वरानन्द थपलियाल का एक बड़े बैंक की नौकरी करने के बाद देहांत हो चुका है; उनके पुत्र श्री दयानन्द थपलियाल भिषग्-रत्न व होमियोपैथ हैं। इनके छोटे पुत्र श्री गिरीशानन्द थपलियाल ईशापुर गन-फ़ैक्टरी में कर्मचारी हैं।

(१५) श्री शिवनारायण सिंह बिष्ट

(निधन-तिथि—२ अगस्त, सन १६३३ ई०)

व्यवसाय-कुशल व साहित्य-प्रेमी श्री शिवनारायण सिंह बिष्ट का जन्म मन्यारस्यूं पट्टी के बड़खोलू गांव में १७ जनवरी, सन १८८७ ई० को हुआ था। इनके पिता श्री दीवानसिंह बिष्ट प्रभावशाली थोकदार थे। हिन्दी मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद कुछ दिनों ये अध्यापक रहे; फिर कुछ दिनों तक जंगलात विभाग में भी कार्य किया; पर अन्त में इन्होंने स्वतंत्र व्यवसाय को अपनाया।

ये अपने युग के प्रत्येक सार्वजनिक कार्य में उत्साह के साथ भाग लेते रहे। उन्हीं सेवाओं के कारण दो बार सर्कार द्वारा ज़िला बोर्ड में नामज़द किये गये और मन्यारस्यूं-असवालस्यूं हल्के से बाद में तीन बार ज़िला बोर्ड के सदस्य निर्वाचित हुए। ये ज़िला क्षत्रिय समिति के भी सभापति थे तथा इन्होंने क्षत्रिय-छात्रवृत्ति-कोष के लिए धन-संग्रह में बड़ा कार्य किया। आख़िर लगभग एक वर्ष तक पीड़ित रह कर २ अगस्त, सन १६३३ को द्वारीखाल स्थान पर इनका ४६ वर्ष की अवस्था में देहान्त हो गया।

इनका पहिला मुख्य कार्य 'गढ़वाल व्यवसाय भंडार' की स्थापना करना था। व्यवसाय-क्षेत्र में अपनी प्रारम्भिक सफलता से उत्साहित होकर इन्होंने समाचार-पत्रों में कई लेख लिखे और युवकों को उत्साहित किया कि वे नौकरी की मृगतृष्णा त्याग कर स्वतंत्र उद्योग-व्यवसाय को अपनायें और इस प्रदेश की आर्थिक दशा में सुधार करें। इसी उद्देश्य से इन्होंने वाणिज्य-व्यवसाय पर "व्यापार-प्रचार" और "हिसाब-बहीखाता" आदि पुस्तिकायें लिखीं और लागत मूल्य पर उनका प्रचार किया। ये जानते थे कि गढ़वाल में बड़ी पूंजी वाले लोग बहुत कम हैं, अतः वे अपने

ही बल-बूते पर स्वतंत्र व्वसाय नहीं कर सकते; इसलिए यदि कुछ लोग मिलकर संयुक्त रूप से बड़े पैमाने पर व्यापार करें तो सफलता मिल सकती है। आखिर अधिकांशतया इन्हीं के प्रयत्नों से "गढ़वाल-व्यवसाय-भंडार" की स्थापना हुई। भंडार का मूलधन दो लाख रूपये रखा गया था और उसे दस-दस रूपयों के बीस हज़ार हिस्सों में बांटा गया। कुछ ही महीनों में लगभग साठ हज़ार रूपये एकत्र हो गये और तब १६ फर्वरी, सन १९२३ से दुगड्डा में भण्डार का कार्य बाक़ायदा शुरू कर दिया गया।

उस भंडार की स्थापना उत्साहपूर्ण वातावरण में हुई, सर्कारी व ग़ैर-सर्कारी सब प्रकार के लोगों ने उसे सहयोग दिया और ये उसके मैनेजिंग डाइरेक्टर नियुक्त किये गये—इसलिये यह आशा की जाने लगी कि वह भंडार कुछ ही दिनों के अन्तर्गत सारे ज़िले की कायापलट कर देगा; लेकिन हुआ उसके विपरीत। प्रारम्भ में कुछ वर्षों तक भंडार आशापूर्ण उन्नति करता रहा; लेकिन बाद को डाइरेक्टरों में मतभेद पैदा हो गये और आखिर-कार इन्हें खिन्न होकर मैनेजिंग डाइरेक्टरी से अलग हो जाना पड़ा। इनके बाद कुछ ऐसे महानुभावों के हाथों में भंडार की बागडोर आई जिन्होंने कि संस्था के बजाय अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को अधिक महत्व दिया। इसके अतिरिक्त कोई ऐसा अनु-भवी व सुयोग्य व्यक्ति नहीं मिला जो कि व्यापार के गुरों को जानता और प्रतियोगिता के झंझावात में भंडार के जहाज़ को बिना टकराये सफलता के बन्दरगाह तक पहुँचा देता। परिणाम यह हुआ कि लगभग ११ वर्ष तक उसका अस्तित्व किसी प्रकार क़ायम रहा; लेकिन सन १९३४ में दुगड्डा में जो भयंकर अग्नि-कांड हुआ, उसमें अन्य दूकानों के साथ-साथ भण्डार को भी हजारों रूपयों की हानि उठानी पड़ी। वह मरणासन्न दशा में तो पहिले ही से था; अतः उस धक्के को नहीं संभाल सका और इसलिए उसकी

अन्त्येष्टि कर देनी पड़ी !

इनका दूसरा महत्वपूर्ण कार्य "गढ़ु-सुम्याल" के प्रसिद्ध पंवाड़े का सम्पादन व प्रकाशन है। इनका बचपन से ही पंवाड़ों की ओर आकर्षण था; अनेक प्रसिद्ध 'हुड़कियों' तथा 'दासों' को बुलाकर इन्होंने वे वीर-गाथायें सुनीं तथा उनका संग्रह कर लिया। इनका विचार था कि उन्हें संशोधित करके व्यवस्थित रूप में प्रकाशित किया जाय। पहिले इन्होंने समाचार-पत्रों में कई लेख लिखे। फिर इसी उद्देश्य से इन्होंने 'गढ़वीर चरितोदय ग्रन्थ माला' के नाम से उन सब पंवाड़ों को प्रकाशित करने की योजना तैयार की। उसके "प्रथम पुष्प" के रूप में "गढ़ु-सुम्याल" का सम्पादन करके इन्होंने सन १९२८ में उसका प्रकाशन कराया। कहना न होगा कि इस दिशा में प्रकाशन-कार्य करने वाले ये सर्वप्रथम व्यक्ति थे। लेकिन गढ़वाली शिक्षित जनता की उदासीनता के कारण उस पुस्तक की यथेष्ट बिक्री नहीं हो सकी, इसलिये अन्य पंवाड़े प्रकाशित करने का इन्हें साहस नहीं हो पाया।

इनके चचेरे भाई श्री जयकृतसिंह विष्ट उत्तरप्रदेश में कमिश्नर के उच्च पद को प्राप्त करने के बाद आजकल राजस्थान में एक बड़े पद पर नियुक्त हैं। इनके चार पुत्रों में से सब से बड़े श्री सुरेन्द्र सिंह विष्ट आजकल सतपुली में मोटर-यूनियन के बुकिंग एजेंट हैं।

(१६) श्री गोबिन्द बैष्णव

(निधन-तिथि—१४ सितम्बर, सन १९३३ ई०)

प्रतिभाशाली तरुण तपस्वी श्री गोबिन्द बैष्णव का जन्म २४ सितम्बर, सन १९१३ ई० को पौड़ी में हुआ था। इनके पिता श्री शालिग्राम बैष्णव पहिले क़ानूनगो थे; फिर कुछ दिनों श्री बद्रीनाथ

मन्दिर में मैनेजर रहे; और उन्होंने फिर नायब तहसीलदार के पद अवकाश ग्रहण किया। वे बिचला नागपुर पट्टी के पोखरी गांव के निवासी हैं। गढ़वाल के इतिहास पर उनकी जानकारी विस्तृत है; तथा 'उत्तरखण्ड-रहस्य' व 'गढ़वाली पखाणे' नाम की दो पुस्तकें वे प्रकाशित कर चुके हैं। इनके चचेरे भाई श्री रामकृष्ण बैष्णव चमोली के एक प्रमुख वकील हैं। इनके जन्म के समय इनके पिता पौड़ी में नायब तहसीलदार थे। सन १९३० में इन्होंने मिशन हाइ स्कूल चोपड़ा से हाइ स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की और इविंग क्रिश्चियन कौलेज इलाहाबाद से सन १९३३ में ये इंटर-मीडियेट परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। उसी वर्ष जुलाई मास में इन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय की बी० ए० कक्षा में नाम लिखाया। किन्तु सितम्बर शुरू में अचानक इनकी तिल्ली बढ़ गई और इन्हें भयंकर पीड़ा रहने लगी, और १५ सितम्बर, सन १९३३ को इन्हें प्रभु ने अपनी शरण में बुला लिया!

बीस वर्ष का जीवन होता ही कितना है? लेकिन इतने ही अल्प समय में इन्होंने अपनी प्रतिभा का खूब चमत्कार दिखलाया। इन्होंने बचपन के वर्ष श्री बद्रीनाथपुरी के अलौकिक प्राकृतिक सौंदर्य और आध्यात्मिकतापूर्ण वातावरण में बिताये थे। तदुपरांत उत्कृष्ट कोटि की पुस्तकों के अध्ययन तथा प्रकृति की अनन्य उपासना ने इनकी भाषा में एक अद्भुत प्रांजलता तथा इनके भावों में एक अनिर्वचनीय कमनीयता ला दी; जिसके कारण इनकी वाणी व लेखनी का एक-एक शब्द मर्मस्पर्शी और हृदयग्राही होता था। शुद्ध, ओजस्विनी तथा कलामयी भाषा पर इन्हें अच्छा अधिकार प्राप्त था। इनके लेख स्फूर्तिदायक, कहानियां चुभती हुई तथा कलामयी, कवितायें सुन्दर तथा भावमयी तथा व्यक्तिगत पत्र भी कवित्वमय तथा दार्शनिक भावों से परिपूर्ण होते थे। इनकी रचनाओं में आध्यात्मिकता की पुट है, गढ़वाल और भारत के नव-

युवकों को कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होने का आवाहन है, प्रकृति का सुन्दर चित्रण है और अपने हृद्गत भावों की उड़ान का दिग्-दर्शन है; उनमें इनके अनुभवपूर्ण तथा प्रौढ़ विचार भरे पड़े हैं; लेकिन इनका मूलभाव सर्वदा विश्व-प्रेम (यूनिवर्सल लव) रहता था।

अक्सर इनकी रचनायें 'सेवा', 'गढ़वाली' और 'गढ़देश' आदि समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ करती थीं। इनके देहावसान के बाद इनके परम मित्र श्री तपीश्वरीप्रसाद नैथाणी ने "गोबिन्द-विचार-वाटिका" शीर्षक से इनके लेखों तथा फुटकर वाक्यों का संग्रह सन् १९३४ में प्रकाशित किया। बाद में इनके कुछ लेख, पत्र व फुटकर वाक्य लेखक ने भी 'सेवा', 'गढ़वाली' व 'गढ़-देश' में प्रकाशित कराये थे।

शुद्ध साहित्यिकता के साथ-साथ ये एक साधक और तत्व-चिंतक भी थे। इस दिशा में इन्होंने स्वामी रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ और साधु वास्वानी के पथ का अनु-सरण किया था। उनकी पुस्तकों के अध्ययन से इन्हें विशेष प्रेरणा मिली थी। ये एक डायरी लिखा करते थे। उसके पद-पद से अपने आराध्य-देव के प्रति आत्म-निवेदन और आत्म-समर्पण का भाव टपकता है। सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ी कवि मेकौले की "दि हैपी वारियर" (प्रसन्न योद्धा) शीर्षक कविता के नायक की तरह ये प्रत्येक रात्रि को अपने दिन भर के कार्य की समीक्षा करते थे और इस बात की जांच करते थे कि ये पिछले दिन से कितना आगे अपने लक्ष्य की ओर बढ़े हैं; कितने 'डेली स्यल्फ-सरपास्ट' हुए हैं! उदाहरणस्वरूप, इन्होंने अपनी डायरी में एक रात ये शब्द लिखे थे—

"चंचल भावों की लहरों में जीवन-नौका बही चली जा रही है। देव! मुझे शक्ति दो कि तुम्हारे चरणों पर बलि हो सकूं। भग-वान! मुझे वह शक्ति दो, जिससे पवन के झंकोरों में तुम्हारा संदेश

सुन सकूं। वह दृष्टि दो, जिससे मुस्काते हुए उत्फुल्ल रंग-बिरंगे कुसुमों में तुम्हारी दिव्य किरण का आलोक देख सकूं। वह स्वाद दो, कि मधुकोषों में तुम्हारे संदेश की मधुरता का पारावार देखने में आए। हां, जब शुष्क निराशा आकर मेरे ऊपर विजय पाना चाहती हो, तो उस समय नवपल्लवों के वातायन में से, अनन्त नील आकाश के नीचे, शुभ्र निर्मल निर्झर के तट पर, तुम्हारी मोहिनी मूर्ति का दर्शन कर सकूं। चंचल निर्झर वंशी की विश्व-विमोहिनी रागिनी से स्वर मिलाता हुआ तुम्हारे चरणों पर निर्वाण प्राप्त करके चला जाता हो—अपने प्राणों का अविरल, अनन्त विसर्जन करता हुआ। और देव ! मैं उस चंचल बालक के हर्ष, उल्लास, वेदना और उत्सर्ग के आनन्द से उद्भूत आंसुओं की झड़ी देखकर निहाल हो उठूं। बस, उस समय दो बूंदें आंसुओं की अंजलि-स्वरूप तुम्हारे कोमल चरणों पर गिरा जाऊँ। बस, यही मेरी भावुकता का सुरक्षित चित्र हो; कमल-पत्र पर दो उज्ज्वल तुहिन-कण ! मेरे काले हृदय से निःसृत वे दो बूंदें मोतियों की भांति जगमगाती रहें !!"

इनके पिताजी ने कर्णप्रयाग के पास 'शांति-सदन' स्थान पर इनकी स्मृति में 'गोबिंद-पाठशाला' स्थापित की है, तथा वहां स्वाध्याय में शांतिपूर्वक वे अपना काल-यापन कर रहे हैं।

---

(१७) श्री हरिकृष्ण रतूड़ी

(निधन-तिथि—सन १९३३ ई०)

सुलेखक तथा विद्वान राजकर्मचारी श्री हरिकृष्ण रतूड़ी का जन्म टिहरी-गढ़वाल राज्य के जेंवाला ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री सिद्धदत्त रतूड़ी था। घर में ही साधारण शिक्षा प्राप्त करके ये टिहरी चले आये और दर्बार में एक साधारण नौकरी कर ली। धीरे-धीरे अपनी योग्यता और परिश्रम के कारण इन्होंने

उन्नति की और सन १६०७ में महाराज कीर्तिशाह ने इन्हें वज़ीर पद पर नियुक्त किया। वे इनका बहुत सम्मान किया करते थे। १६१३ में उनके निधन के बाद इन्हें रीजेंसी कौंसिल का सदस्य नियुक्त किया गया। उन दिनों ये सब अदालती कार्यों के अध्यक्ष थे और योग्यता के साथ इन्होंने वह कार्य सम्पादित किया। सन सन १६१६ में महाराज नरेन्द्रशाह के राज्यारोहण तक ये राज-सेवा से अवकाश ग्रहण कर चुके थे; फिर भी उन्होंने इन्हें सेटलमेंट औफ़िसर बना दिया। सन १६२६ में उन्होंने इन्हें राज्य-प्रतिनिधि-सभा का सदस्य मनोनीत किया; और जब सन १६२७ व सन १६३० में वे यूरोप-यात्रा पर गए, तब इन्हें सलाहकार-परिषद का सदस्य भी नियुक्त किया।

पर राज-सेवा से अधिक इनका महत्वपूर्ण कार्य साहित्य-सेवा थी। साधारण शिक्षा पाने के बावजूद भी अपने अध्ययन से इन्होंने अपना ज्ञान खूब बढ़ा लिया था तथा अपनी लेखन-शैली उन्नत कर ली थी, इसीलिए महाराज कीर्तिशाह ने इन्हें गढ़वाल का इतिहास लिखने का भार सौंपा। सन १६१० में इन्होंने उसे तैयार कर दिया। उन्होंने उसका अँग्रेज़ी में अनुवाद कराया और इंगलैंड में उसके छपवाने की व्यवस्था भी कर दी; लेकिन उसी बीच उनका देहान्त हो जाने से वह काम वहीं पर रुक गया। बाद में इन्होंने उसे फिर दुबारा नये सिरे से तैयार किया और सन १६२८ में गढ़वाली प्रेस, देहरादून से उसे छपा कर प्रकाशित किया। मि० एटकिनसन के गज़ेटियर के बाद गढ़वाल के इतिहास पर अभी तक यही एक-मात्र ग्रंथ है; और यद्यपि उसकी बहुत सी तिथियों से स्वयं इन पंक्तियों को लेखक ने इस पुस्तक में कई स्थानों पर अपनी असह-मति प्रकट की है, तथापि इस दिशा में वह एक प्रशंसनीय उद्योग है और उसके अवलोकन से इनकी अध्ययनशीलता का पता लगता है।

इस पुस्तक के अतिरिक्त रीजेंसी कौंसिल के आदेश पर इन्होंने टिहरी-गढ़वाल राज्य के रीति-रिवाजों तथा क़ानूनी निर्णयों का अध्ययन कर के हिन्दी में 'नरेन्द्र हिन्दू लौ' शीर्षक एक ग्रन्थ की रचना की; इस पुस्तक से इनके क़ानूनी ज्ञान का पता चलता है। साथ ही इन्होंने "गढ़वाल वर्णन" पुस्तक की रचना 'डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर' के ढंग पर की; और फिर इन्होंने "हिमालय और हिमालय स्थित टिहरी-गढ़वाल राज्य की भौगोलिक स्थिति" शीर्षक से भी एक सुन्दर पुस्तक प्रकाशित की। इनकी 'पुरातन शिक्षा' पुस्तक भी शिक्षित-समाज द्वारा खूब पसन्द की गई थी। लेकिन इनकी कुछ पुस्तकें अप्रकाशित भी रह गईं।

अपनी ऐसी विद्वत्ता तथा साधु स्वभाव के कारण सब वर्गों पर इनका प्रभाव था। राज-दर्बार के अतिरिक्त ब्रिटिश सर्कार भी इनका आदर करती थी; ये गढ़वाल के सर्वप्रथम 'राय साहेब' थे। जनता पर इनका इतना प्रभाव था कि सन १९३० में रंवाई के सत्याग्रह के अवसर पर इन्होंने उत्तेजित भीड़ को शान्त कर दिया था; लेकिन बाद में इनकी सलाह पर अमल नहीं किया गया और लोमहर्षक गोलीकांड हो गया! स्वयं संस्कृत व फ़ारसी के जानकार होने के साथ-साथ चित्रकला में भी इनकी गति थी; और इन दिशाओं में ये नवयुवकों को भी प्रोत्साहित करते रहते थे। आख़िर सन १९३३ में लगभग सत्तर वर्ष की परिपक्वावस्था में इनका देहावसान हुआ।

(१८) श्री देवकीनन्दन ध्यानी

(निधन-तिथि—नवम्बर, सन १९३९ ई०)

उत्कट राष्ट्र-सेवी तथा पत्रकार श्री देवकीनन्दन ध्यानी का जन्म सन १९०७ में अल्मोड़ा ज़िले की शल्ट पट्टी के जखल गांव में हुआ

था; यह गांव गढ़वाल की गुजड़ू पट्टी से केवल डेढ़ मील की दूरी पर गढ़वाली-भाषा-भाषी इलाक़े में स्थित है। इनके पिता श्री प्रयागदत्त ध्यानी डाक-विभाग में इन्सपेक्टर थे; लेकिन अप्रैल, सन १६०६ ई० में केवल ३० वर्ष की आयु में ही अचानक उनका देहान्त हो गया; ये उस समय केवल दो वर्ष के थे। इनकी माता ने अपने एकमात्र पुत्र का पालन-पोषण किया और अपने क़ानूनगो ताऊ जी की सहायता से सन १६२५ ई० में इन्होंने डी० ए० वी० स्कूल, देहरादून से हाइ स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण कर ली और फिर देश-सेवा में लग लये।

सन १६३० के देशव्यापी असहयोग आन्दोलन में इन्होंने लगातार दौरे करके जनता में एक नई स्फूर्ति पैदा कर दी। विशेष कर लैंसडौन तहसील के पूर्वी इलाक़े में श्री रामप्रसाद नौटियाल (वर्तमान एम०एल०ए०) के साथ गांव-गांव घूम कर एक प्रबल जन-आंदोलन खड़ा कर दिया। इनके ही प्रयत्नों के कारण गुजडू, बिजलोट, साबली, खाटली आदि पट्टियों में तत्कालीन बन्दोबस्त के विरोध-स्वरूप दर्जनों थोकदारों और मालगुज़ारों ने त्यागपत्र दे दिये तथा भूमि-कर सम्बन्धी फांटों का वितरण असम्भव हो गया। उस परिस्थिति के कारण ही ब्रिटिश हुकूमत को उस इलाके में विशेष पुलिस का प्रबन्ध कर के 'प्यूनिटिव टैक्स' लगाना पड़ा था।

लैंसडौन इलाक़े के पूर्वी क्षेत्र का दौरा करने के अतिरिक्त मई, सन १६३० में सत्याग्रह-कौन्फ्रेंस, दुगड्डा और जून में कुमाऊँ परिषद् सम्मेलन, पौड़ी में ये सम्मिलित हुए; तथा ज़िला कांग्रेस कमेटी व 'वार कौंसिल' (युद्ध-समिति) के सदस्य चुने गये। उसके बाद ये आगे बढ़े; लेकिन ये अभी चमोली तक ही पहुँच पाये थे कि धारा १०८ के अन्तर्गत गिरफ़्तार करके पौड़ी लाये गये तथा इन्हें छै मास सादी क़ैद की सज़ा मिली, जिसे इन्होंने मुरादाबाद व आगरा जेल में बिताया। सन १६३१ ई० में ये अपने

इलाके से गढ़वाल ज़िला बोर्ड के सदस्य चुने गये। बोर्ड में ये सन १९३५ तक रहे और वहां योग्यता व लगन से कार्य किया। इनके कार्य-काल में ही ज़िला बोर्ड की ओर से नैणीडांडा में अस्पताल खोला गया।

इन्हें विद्यार्थी-जीवन से ही लेख लिखने का शौक़ था; इसलिए सन १९२८ में जब 'गढ़देश' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ, तब इनके कई लेख उस में प्रकाशित हुए। ये 'नूतन' उपनाम से कवितायें भी लिखा करते थे। लेकिन ये इतने से ही सन्तुष्ट होने वाले व्यक्ति नहीं थे; इसलिए जनवरी, सन १९३० में इन्होंने मुरादाबाद से साप्ताहिक 'विजय' का प्रकाशन प्रारंभ किया; लेकिन अभी ये ८-१० अंक ही निकल पाये थे कि ये सत्याग्रह--संग्राम में कूद पड़े, और 'विजय' का प्रकाशन स्थगित हो गया।

फिर किसी प्रकार हलद्वानी (ज़िला नैनीताल) से १५ जनवरी, सन १९३४ ई० को इन्होंने पाक्षिक 'स्वर्गभूमि' का प्रथम अंक प्रकाशित किया। लेकिन उसके बाद ही श्री अनुसूयाप्रसाद बहुगुणा ने इन्हें पौड़ी बुला लिया। वे सन १९३२ में एक प्रेस ख़रीद कर पौड़ी ले आये थे; लेकिन उपयुक्त सहायक न मिलने के कारण वह प्रेस वैसा ही पड़ा हुआ था; उन्होंने उसके संचालन का भार इनके सिपुर्द किया और निमंत्रण दिया कि उसी प्रेस से अपने पत्र को भी प्रकाशित करें। अतः हलद्वानी से 'स्वर्गभूमि' के ३-४ ही अंक निकाल कर ये पौड़ी चले आये।

पौड़ी पहुँचने पर इन्होंने 'स्वर्गभूमि प्रेस' के नाम से डिक्लेरेशन दे दिया; लेकिन उसकी मशीन के कुछ पुर्जे ख़राब थे; इसलिए उन्हें दुरस्त करने के लिए इन्हें कई बार सहारनपुर, मेरठ व दिल्ली आदि स्थानों का सफर करना पड़ा। आख़िर कई महीनों की दौड़-धूप के बाद प्रेस ठीक हुआ और ये 'स्वर्गभूमि' को दुबारा चालू करने ही वाले थे कि उसी बीच इन्हें राज्यक्षमा ने घेर लिया; और नवम्बर,

सन १६३६ ई० में इनका देहान्त हो गया !!

इनके घर में इनकी माता अभी तक जीवित हैं। सन्तान इनके कोई थी नहीं; पत्नी का भी देहान्त हो चुका है। ताऊ जी के लड़कों में से श्री तारादत्त ध्यानी सबसे बड़े हैं; वे आजकल सरकारी दफ्तरों के इन्सपेक्टर हैं।

(१६) श्री मथुराप्रसाद नैथाणी

(निधन-तिथि—अप्रैल, सन १६३७ ई०)

सर्वप्रथम गढ़वाली सब-इंजीनियर तथा जन-सेवक श्री मथुराप्रसाद नैथाणी का जन्म १४ जनवरी, सन १८८० ई० को मन्यारस्यूं पट्टी के नैथाणा गांव में हुआ था। इनके पिता श्री हरिराम नैथाणी नाजिर थे। इन्होंने सन् १८६६ में मिशन स्कूल चोपड़ा से अंग्रेजी मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की। फिर बरेली से इंट्रेंस की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद ये इंजीनियरिंग कौलेज रुड़की में प्रविष्ट हो गये। पहिले इन्होंने ओवरसियरी और फिर सब-इंजीनियरी की परीक्षा उत्तीर्ण की और प्रांतीय पी० डबल्यू डी० में नियुक्त हो गए। इन्होंने अमरोहा, इटावा, गढ़वाल और लखनऊ में सर्कारी कार्य किया और फिर त्यागपत्र दे दिया। ये एक बड़े ठेकेदार के साथ साझीदार होगये। बाद में इन्होंने स्वतन्त्र ढंग पर इमारतों के ठेके लेने शुरू किये और इन्हें खूब लाभ रहा। उन्हीं दिनों से ये लखनऊ में ही मकान बनाकर रहने लगे। आखिर वहीं अप्रैल, सन् १६३७ ई० में इनका देहावसान हुआ।

इनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य 'गढ़वाल-भ्रातृ-मण्डल' की स्थापना है। सन् १६०८ ई० में उस संस्था की स्थापना इन्होंने लखनऊ में की। इन्होंने गढ़वाल के प्रायः सभी प्रमुख व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त किया और शीघ्र ही उसे एक प्रथम श्रेणी की संस्था बना

दिया । 'मण्डल' का प्रथम अधिवेशन दिसम्बर, सन् १९०८ में कोटद्वार में मनाया गया; श्री कुलानन्द बड़थ्वाल उसके सभापति थे। अगले वर्ष उसका अधिवेशन टिहरी में हुआ और श्री प्रतापसिंह उसके सभापति थे। तीसरा अधिवेशन अक्तूबर, सन् १९१० में श्रीनगर में सम्पन्न हुआ और श्री चक्रधर जुयाल ने उसका सभापतित्व किया। इस प्रकार बीच-बीच में साधारण सभायें तो हुआ ही करती थीं, लेकिन प्रतिवर्ष वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर विराट सभायें भी की जाती थीं और गढ़वाल के सब इलाक़ों से प्रमुख व्यक्ति उनमें भाग लिया करते थे। लेकिन 'गढ़वाल यूनियन' व 'गढ़वाल भ्रातृ मंडल' नाम की दो अलग-अलग संस्थायें बन जाने के कारण गढ़वाल की एकता को हानि पहुँचने की आशंका होने लगी। इसलिये सन १९१४ ई० में ये दोनों संस्थायें 'गढ़वाल-सभा' नाम की एक नई संस्था में सम्मिलित कर दी गईं। वह संस्था सन १९२६-२७ तक जीवित रही।

'मंडल' ने अपने लगभग छै वर्ष के जीवन में कई उपयोगी कार्य किये। उसने कन्या विक्रय तथा समाज-सुधार के अन्य प्रश्नों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया; उसने यह व्यवस्था दी कि गढ़वाल के सब ब्राह्मण लड़के जब काशी, हरिद्वार, ऋषीकेष आदि पढ़ने के लिये जायें, तब मैदानी ब्राह्मणों के द्वारा पकाया हुआ खाना खा लिया करें, अन्यथा उस से पहिले उनके अध्ययन में बहुत बाधा पड़ती थी। इस मण्डल की संरक्षता में ही श्री रघुनाथ कीर्ति महाविद्यालय की देवप्रयाग में स्थापना हुई, जो अभी तक संस्कृत-शिक्षा के प्रसार में अच्छा कार्य कर रहा है। 'मण्डल' ने ज़िले भर में चन्दा एकत्रित करके एक कोष स्थापित किया तथा अनेक ग़रीब सुयोग्य विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां देना प्रारम्भ किया। बाद में जब 'गढ़वाल सभा' की स्थापना हुई तो वह पूंजी भी उसी के कोष में जमा कर दी गई। उन कई सहस्र रुपयों का उसने कुछ

दिनों उपयोग किया; लेकिन बाद में जब वह 'सभा' डूबी तो उस पूंजी के काग़ज़ात भी न जाने कहां ख़त्म हो गये !

ये एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। इसीलिये स्वामी रामतीर्थ-सम्बन्धी साहित्य के प्रकाशन के लिये जब लखनऊ में 'रामतीर्थ पब्लिकेशन्स लीग' की स्थापना हुई, तब उसका दफ्तर शुरू में कई वर्षों तक इनके ही मकान पर निःशुल्क रहा। सन् १६२८ ई० में युक्त प्रांतीय सर्कार ने राजा सर रामपालसिंह की अध्यक्षता में एक 'हिंदू-धर्मदाय-कमेटी' नियुक्त की; तब गढ़वाल के मन्दिरों सम्बन्धी जांच करने वाली उप-समिति के एक सदस्य के रूप में ये श्री बद्रीनाथ व श्री केदार-नाथ आये। उस कमेटी ने उन दिनों जो सिफ़ारिशें मन्दिरों के प्रबन्ध में सुधार करने के लिये कीं, बहुत-कुछ उन्हीं के आधार पर बाद में वर्तमान श्री बद्रीनाथ मन्दिर प्रबन्ध-सुधार क़ानून बनाया गया। तथ्य यह है कि "गढ़वाल भ्रातृ-मंडल" की समाप्ति के बाद इनका सम्बन्ध गढ़वाल के सार्वजनिक जीवन से बहुत कम रहा और धार्मिक कार्यों की ओर ही इन्होंने अधिक ध्यान देना प्रारम्भ किया।

फिर भी लखनऊ रहते हुए अन्त तक ये गढ़वाल के प्रश्नों में दिलचस्पी लेते रहे। जो भी गढ़वाली लखनऊ जाता, उसका ये आदर-सत्कार करते थे। लखनऊ में १०, हीवेट रोड पर इनका लाल दुमंज़िला मकान था; गढ़वाल से आने वाले सब प्रकार के लोग उसमें आश्रय पाते थे; इसीलिये गढ़वाल के लोगों के लिये १०, हीवेट रोड का उन दिनों प्रायः वही महत्व हो गया था, जो लन्दन में ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के सर्कारी निवासस्थान १०, डाउनिंग स्ट्रीट, को प्राप्त है !

इनके एकमात्र पुत्र श्री हर्षवर्धन नैथाणी, एम० ए०, बी० एस-सी०, ट्रेज़री औफिसर के पद पर नियुक्त हैं।

(२०) श्री सदानन्द कुकरेती

(निधन-तिथि—१८ जुलाई, सन १९३७ ई०)

'विशाल कीर्ति' के सम्पादक और 'सिलोगी के सन्त' श्री सदानन्द कुकरेती का जन्म ७ मार्च, सन् १८८६ ई० को ढांगू पट्टी के गुईल गांव में हुआ था। इनके पिता श्री बालादत्त कुकरेती पी० डबल्यू० डी० में एक साधारण कर्मचारी थे। निकटस्थ बड़ेथ स्कूल में प्रारम्भिक शिक्षा पाने के बाद इन्होंने मिशन हाइ स्कूल चोपड़ा में दसवीं कक्षा तक अध्ययन किया; लेकिन अचानक बीमार होजाने के कारण इन्हें पढ़ाई छोड़नी पड़ी। फिर पिता के आग्रह पर पौड़ी के पी० डबल्यू डी० औफ़िस में क्लर्क हो गये। इन्होंने वहां रहकर भी स्वदेशी का प्रचार करना शुरू किया। वह बंग-भंग-आंदोलन का ज़माना था; उस सिलसिले में इन्होंने चीनी तक का बहिष्कार कर दिया, और पिता की मृत्यु हो जाने के बाद ये भी सर्कारी नौकरी से अलग हो गये।

उसके तुरन्त बाद ही इन्होंने पौड़ी से मासिक 'विशाल कीर्ति' का प्रकाशन शुरू किया। फ़र्वरी, सन १९१३ ई० से दिसम्बर, सन १९१५ ई० तक उसके अंक निकले; लेकिन अपने कटाक्षपूर्ण लेखों के कारण वह पत्रिका अधिकारियों की आंखों में खटकने लगी थी; साथ ही आर्थिक स्थिति कमजोर थी; इसलिये ये कुछ वर्ष बाद उस संस्था से ही अलग हो गये।

पौड़ी की दुनिया में जो भी भली-बुरी घटनायें होती थीं उन पर इन्होंने 'विशाल कीर्ति' में प्रकाश डाला। उदाहरण-स्वरूप, कई अंकों में इन्होंने उन बैलों की करुण-कहानी लिखी, जो मांडाखाल-बूबाखाल से पौड़ी तक लकड़ी से लदी हुई गाड़ियां खींच कर लाया करते थे और सड़क के ऊबड़-खाबड़पन के कारण जिनके कंधे छिल जाते थे; उस सम्बन्ध में इन्होंने करुणा व प्रहसन दोनों

का आश्रय लिया और अपनी प्रभावशालिनी लेखनी के द्वारा सब का ध्यान आकर्पित किया। इनकी शैली बड़ी चुटीली थी; भापा इनकी लच्छेदार व चटपटी थी। ये 'गढ़वाली ठाठ' की चाशनी भी चटाया करते थे। उस 'ठाठ' में अधिकांशतया प्रहसन-पूर्ण चुटकुलों व गद्य-पद्य की बहार रहती थी; उनकी 'घरेलू मनोरंजकता' के कारण स्त्रियां और बच्चे भी चाव से उन्हें पढ़ते थे। ये अक्सर उर्दू की मुहावरेदार भापा का भी सफल प्रयोग करते थे। इन्होंने अपना 'मोटो' यह रखा था—

करते जो जड़ विघ्न मार्ग में उनको डांटो;
ज्ञान-रूप टांकी से उनकी जड़ता छांटो।
दिव्य मूर्ति वे मूढ़ शीघ्र ही हो जायेंगे,
इस से पूरी आप सफलता भी पायेंगे ॥

वह गढ़वाल में अधिकारियों की एकतंत्रता का ज़माना था; उनके विरुद्ध गुप्त स्थानों में भी विचार प्रकट करना खतरनाक था। ऐसी परिस्थिति में इन्होंने द्विअर्थक भापा का आश्रय लिया। ये अधिकारियों की काली करतूतों का सारा क़िस्सा सुना देते, लेकिन किसी का भी नाम न देते, इसलिये मुक़दमा चलने की नौबत नहीं आ पाती थी। उस शस्त्र के द्वारा इन्होंने कर्मचारियों की खुली ख़जाने, डकैती का खुले आम पर्दा फाश किया। इन्हें कई प्रकार के प्रलोभन दिये गये और भय दिखाये गये; पर ये अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए। हर महीने जब 'विशाल-कीर्ति' के निकलने का समय आता, तब सब लोग यह प्रतीक्षा करते ये कि इस बार किस अधिकारी की शामत आई है ? उन दिनों इसी कारण अधिकारियों में खलबली मच गई। कितनों ही ने अपने तबादले करा लिये। तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर श्री जे० एम० क्ले 'खाडू' (मेंढ़े) खाने के शौक़ीन बताये जाते थे; उनके लिये 'खाडू' हांकने वालों की आवाज़ पर इन्होंने एक प्रहसनात्मक लेख लिखा था। तत्कालीन

डिप्टी कलेक्टर श्री शिव्बनलाल सक्सेना जब बदनाम हो कर बस्ती ज़िले को बदले गये, तब इन्होंने लिखा था कि वे 'जंगलों' से 'बस्ती' (अर्थात आबादी) की ओर गये हैं !!!

'विशालकीर्ति' से अलग हो जाने के बाद जब श्री जोध सिंह नेगी टिहरी-गढ़वाल राज्य के बन्दोबस्ती अफ़सर नियुक्त हुये, तब उन्होंने इन्हें अपने साथ रीडर पद के लिये छांटा। इन्होंने चार वर्ष तक वहां बड़े परिश्रम और दियानतदारी से काम किया। 'रिश्वत' शब्द को सुनकर ही ये चिढ़ जाते थे। सारा अमला इनके स्वभाव और रहन-सहन से थर्राता था और चौकन्ना रहता था। फल यह हुआ कि जब कि औरों ने रूपयों के बोझ घर को ढोये, ये एक फूटी कौड़ी भी न कमा सके !

उसके बाद ४-५ वर्ष तक ये लगभग बेकार रहे। उन्हीं दिनों चेलूसैण में 'हिन्दू पाठशाला' की स्थापना हुई। वहां पहिले कुछ वर्षों से एक मिशन स्कूल चल रहा था। कुछ विद्यार्थियों को ईसाई बनाने के प्रश्न को लेकर गड़बड़ पैदा हो गई और हिन्दू जनता का विरोध उठ खड़ा हुआ। अतः सन १९२५ में वहीं पर 'हिन्दू पाठशाला' की स्थापना कर दी गई और ये वहां अध्यापक का कार्य करने लगे; पर आपस में मतभेद बढ़ता चला गया। आख़िर एक दिन कतिपय अध्यापकों और छात्रों को लेकर ये चेलूसैण से चल दिये तथा सिलोगी पहुँच कर अलग पाठशाला चालू कर दी !

अपने जीवन के अन्तिम ग्यारह वर्ष इन्होंने सिलोगी में एक आदर्श शिक्षण-संस्था स्थापित करने में लगाये। उसके लिये इन्हों-ने अपना पूरा समय और सारी शक्ति लगा दी। इस उद्देश्य से इन्होंने अपनी आवश्यकतायें बिलकुल कम कर दीं। कंधे का झोला और हाथ का डंडा ही इनके मित्र, सहायक और विश्वास-पात्र थे। उनके बल पर ये रातों-रात चल सकते थे। एक बार लैंसडौन से चलते समय शाम हो गई; क़रीब एक बजे रात द्वारी-

खाल पहुँचे; यद्यपि वहां सब परिचित थे; फिर भी किसी को कष्ट न देने के उद्देश्य से ये एक रसोईघर में चले गये और वहां गीली ज़मीन के ऊपर पीढ़े बिछाकर चुपचाप सो रहे। जब सुबह ये प्रसन्नता के साथ उठे, तो सब को आश्चर्य हुआ! पर यह साधुओं की सी फक्कड़ता इनके लिये नई नहीं थी। एक बार पौड़ी में एक मित्र को कुछ दूर पहुँचाने के उद्देश्य से ये आगे बढ़े और बातें करते-करते बढ़ते ही चले गये; यहां तक कि कंडोलियाखाल, टेका, गगवाड़ा, सूला, बांगघाट, लैंसडौन, दुगड्डा और कोटद्वार आये और पीछे छूट गये, और 'अभी कुछ दूर और' कहते हुए ये नैनीताल व अल्मोड़ा तक घूम आये !!

सिलोगी-पाठशाला के लिये इन्होंने अपना शरीर एक प्रकार से होम कर दिया। जहां जो कुछ मिलता, प्रेमपूर्वक उसे खा जाते। सत्तू-च्यूड़ा पर खूब हाथ साफ़ करते और कभी-कभी तो सफ़र में रास्ते किनारे की खड़ी फ़सल से कच्चा अनाज तोड़कर पेट भर लेते; क्योंकि इनके पास चन्दे का पैसा होता था और उसे ये अपने ऊपर ख़र्च करना महापाप समझते थे! कहीं चाय पीने को दी जाती तो उसके बदले स्कूल-कोष के लिये एक आना रखवा लेते !! बच्चों के साथ खेलने का इन्हें बहुत शौक़ था; अक्सर मुंह पर उंगलियां लगाकर जानवरों की अद्भुत बोलियां सुनाते थे, और जब वे और अनुरोध करते तो कहते कि "सिलोगी-स्कूल के लिये पैसे दो, तो सुनाऊं !!!"

लेकिन दुर्भाग्यवश ये सफल नहीं हो पाये। गवर्नमेंट से इन्हें सिर्फ एक कोरा प्रशंसा-पत्र मिला; सर्कारी सहायता की तो बात ही अलग, आठवीं कक्षा तक की भी मान्यता (रिकौगनीशन) इनकी पाठशाला को नहीं मिल पाई। उधर यद्यपि निकटवर्ती जनता ने प्रारम्भ में उत्साहपूर्वक सहायता दी, तथापि बाद में उसका वह उत्साह क़ायम नहीं रह पाया। लेकिन असफलता के

के साथ-साथ स्वयं इनमें भी कई दोष बढ़ते चले गये। इनके एक अन्तरंग मित्र श्री जयलाल वर्मा ने ठीक ही लिखा है—"यदि उनकी अद्भुत शक्ति, अध्यवसाय, कमख़र्ची और सराहनीय त्याग को उनके अविश्वास के परदे, हठ के जाल, सन्देह और अस्पष्टीकरण के घोर अन्धकार ने न ढंक लिया होता, तो शायद आज वे गढ़वाल के महामना मालवीय होकर प्रकट होते; किन्तु खेद है कि जो कुछ उन्होंने अपने अविरत पुरुषार्थ से बटोरा था, उसे उपर्युक्त त्रुटियों ने प्रायः बखेर सा दिया है।" इस असफलता का प्रभाव इनके स्वास्थ्य पर पड़ा। हर समय पाठशाला की चिन्ता और रोज़ ग्वील-बड़ेथ की चढ़ाई ! आखिर १८ जुलाई, सन १९३७ ई० को इन्होंने इस असार संसार से विदाई ली !

ये अपने एकमात्र पुत्र श्री विशालमणि की शिक्षा की कुछ भी व्यवस्था नहीं कर पाये थे; अतः वे अब घर पर ही रहते हैं। इनके दो सौतेले भाई हैं—श्री भास्करानन्द कुकरेती लखनऊ के प्रान्तीय सचिवालय में सुपरिनटेण्डेण्ड हैं और अपना मकान बनाकर वहीं रहने लगे हैं; और श्री जीतराम कुकरेती प्रान्तीय उद्योग विभाग में डिवीज़नल सुपरिनटेण्डेण्ट के पद पर नियुक्त हैं।

लेकिन इनका असली स्मारक सिलोगी का विद्यालय है। किसी को भी चन्दे का हिसाब न बताते हुए भी इनकी मृत्यु के समय लगभग चार हज़ार रूपये सेविंग बैंक में बाक़ायदा सुरक्षित थे। उन रूपयों के होते हुए भी प्रारम्भ में कुछ वर्षों तक विद्यालय की दशा असन्तोषपूर्ण रही। लेकिन बाद में गुईल गांव के ही श्री नन्दादत्त कुकरेती, सदस्य, जिला बोर्ड ने उसका प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया; मुख्यतया उनके ही परिश्रम से विद्यालय की मुख्य इमारत सम्पूर्ण हो गई है; और कई वर्षों तक हिन्दी मिडिल कक्षाऐं चलती रहीं तथा अब हाइ स्कूल की मान्यता भी प्राप्त हो गई है।

(२१) श्री भवानीदत्त उनियाल

(निधन-तिथि—६ अक्तूबर, सन १६३६ ई०)

विद्वान तथा कार्यदक्ष दीवान श्री भवानीदत्त उनियाल का जन्म अक्तूबर, सन १८७३ ई० में श्रीनगर में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री वाणी विलास उनियाल था।

हाइ स्कूल तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद प्रारम्भ में कुछ समय तक प्रताप हाइ स्कूल, टिहरी में ये अध्यापक रहे। फिर महाराज कीर्तिशाह ने इन्हें पी० डब्ल्यू० डी० का हेड क्लर्क नियुक्त किया। कुछ वर्षों के बाद ये भण्डार के सुपरिन्टेण्डेण्ट बनाये गए; और फिर उन्होंने इन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त किया। महाराज नाना कार्यों में अनवरत व्यस्त रहते थे, अतः वे अपने आदेश सूत्र रूप में इन्हें नोट करा देते थे और ये अपनी प्रतिभा से उन सूत्रों पर विस्तृत आदेश तैयार करके उनके हस्ताक्षर करा देते थे। इस कारण वे इन पर अत्यन्त प्रसन्न थे और उन्होंने अपनी लिखित पुस्तिका में इनके गुणों का उल्लेख किया था।

उनके देहांत के बाद रीजेंसी कौंसिल स्थापित हुई; ये पहिले उसके सदस्य बनाये गए और फिर उसके सेक्रेटरी नियुक्त किए गये। उस कार्यकाल में इन्होंने कौंसिल-प्रधान मि० शेमियर के नाम पर टिहरी में 'शेमियर ड्रामेटिक क्लब' की स्थापना कराई; एक साहित्यिक मित्र के अनुसार वह क्लब 'टिहरी के शुष्क जीवन की एक मधुर घूँट है!' आखिर अक्तूबर, सन १६१६ में महाराज नरेन्द्रशाह को राज्याधिकार प्राप्त हुआ, और उन्होंने इन्हें अपना दीवान बनाया।

दीवान के उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर इन्होंने दक्षता से कार्य किया। उस कार्यकाल में इन्होंने कई महत्वपूर्ण कार्य कराये। इन्होंने बुशहर, तिब्बत व ऋषीकेश की दिशाओं में उचित ढंग पर

सीमा-निर्धारण करवाया। जंगलात-विभाग की उन्नति की ओर इन्होंने विशेष ध्यान दिया। इस उद्देश्य से इन्होंने ब्रिटिश गवर्नमेंट से लिखा-पढ़ी की और पिछले महाराजाओं के ज़माने में ठडियार (रंवाई) के इलाक़े का जो देवदार का मूल्यवान जंगल लीज़ पर उत्तरप्रदेशीय जंगलात-विभाग को दे दिया गया था, उसे पुनः सीधे राज्य के प्रबन्ध में ले लिया। इस प्रकार राज्य की आमदनी और अधिक बढ़ गई।

पेंशन का समय इन्होंने गंगा जी के किनारे मुनी की रेती में बिताया। आखिर वहीं ६ अक्तूबर, सन १६३६ ई० को इन्होंने स्वर्गलोक को प्रयाण किया !

ये एक विद्वान तथा धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। इन्होंने टिहरी-राज्य तीर्थ-सुधार-विधान स्वीकृत कराने के अतिरिक्त टिहरी नगर में एक अच्छा पुस्तकालय भी स्थापित कराया और उसमें उत्तोत्तम पुस्तकों का संग्रह कराया था। ये गंगोत्री-प्रवासी स्वामी ज्ञानानन्द के शिष्य हो गए थे। तन्त्र-शास्त्र का इन्होंने गहरा अध्ययन किया था; एक बार इन्होंने उस विषय पर एक मार्मिक ग्रन्थ लिखने की योजना भी तैयार की थी। एक मुलाक़ात में श्री नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ, एम० एल० ए० ने बताया कि "सारे गढ़वाल में ये सबसे अधिक चतुर राजनीतिज्ञ (श्रयूड पौलीटिशियन) थे; टिहरी के बारे में बहुत गहरी (औथौरिटेटिव)बातें कहा करते थे; अतः गढ़वाल के चाणक्य कहलाये जा सकते थे। टिहरी राज्य का सम्मान व पद बढ़ाने के साथ-साथ ये गढ़वाल की धार्मिक श्रेष्ठता का बहुत खयाल रखते थे।" इसीलिये इनके प्रथम वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर श्री योगीन्द्र कृष्ण दौर्गादत्ति शास्त्री ने पद्य-बद्ध 'भवानी-विलाप' शीर्षक पुस्तिका प्रकाशित की थी।

इनके चार पुत्रों में से सबसे बड़े श्री रमेशदत्त स्कूलों के सब-डिप्टी इन्सपेक्टर हैं तथा अन्य पुत्र साधारण रोज़गार करते हैं।

(२२) श्री कुलानंद बड़थ्वाल

(निधन-तिथि—१४ जनवरी, सन १६४० ई०)

राज-सेवी ब्रह्मर्षि श्री कुलानन्द बड़थ्वाल का जन्म ढांगू पट्टी के बड़ेथ ग्राम में मार्च, सन १८४७ ई० में हुआ था। इनके पिता श्री जयानन्द बड़थ्वाल एक ज्योतिषी व कर्मकांडी ब्राह्मण थे। ये अभी १० वर्ष के भी न हो पाये थे कि पिता का देहावसान होगया; इस कारण इनकी शिक्षा की ठीक व्यवस्था न हो सकी। पर बाद में इन्होंने छात्रवृत्ति प्राप्त की और मिशन स्कूल, चोपड़ा में कुछ वर्षों तक पढ़ने के बाद सन १८७४ में इन्होंने रुड़की की लोअर सबौडिनेट परीक्षा नामवरी के साथ उत्तीर्ण की।

उसी वर्ष ये सब-ओवरसियर के पद पर गढ़वाल में नियुक्त हो गये। सन १८८२ में ये प्रांतीय पी० डबल्यू० डी० में ले लिये गए और नैनीताल तराई-भाबर को परिवर्तित हुए। सन १८८८ में फिर इनका तबादला गढ़वाल को हो गया। सन १८६० से सन १८६६ तक ये जालौन ज़िले में रहे; उस बीच वहां अकाल-सहायता में प्रशंसापूर्ण कार्य करने के फलस्वरूप गवर्नमेण्ट ने इन्हें "रायबहादुर" की पदवी से सम्मानित किया। फिर चार वर्ष तक ये शाहजहांपुर में रहे। सन १६०५ के प्रारम्भ में इनकी बदली सहारनपुर को हुई; वहीं उस वर्ष १७ अप्रैल को ३१ वर्ष की सम्मानपूर्ण राजसेवा के बाद ५८ वर्ष की आयु में इन्होंने अवकाश ग्रहण किया; उस समय ये दूसरे ग्रेड के सब-इन्जीनियर थे।

वैसे तो ये अपने सर्कारी जीवन से ही गढ़वाल की सेवा का प्रयत्न करते रहते थे, तथापि पेंशन पर आ जाने के बाद इन्होंने इस ओर विशेष ध्यान दिया और श्रीनगर में गवर्नमेंट हाइ स्कूल खुलवाने में इन्होंने विशेष भाग लिया। इस विषय पर सन १८६४-६५ में एक शिष्ट-मण्डल डाइरेक्टर औफ़ पबलिक इन्सट्रक्शन स

मिला; ये उसके एक प्रमुख सदस्य थे। फिर १६ सितम्बर, सन १६०१ से जब श्रीनगर में प्राइवेट हाइ स्कूल खोला गया, तब मैदानों में सब सुविधायें होते हुये भी इन्होंने अपने पुत्र वहीं प्रविष्ट कराये। साथ ही उसे सर्कारी स्कूल बनाने के लिये ये प्रयत्न-शील रहे; आखिर १ अक्तूबर, सन १६०५ में शिक्षा-विभाग ने उसे मान्यता और कुछ आर्थिक सहायता प्रदान की और जुलाई, सन १६१० से पूरी तरह अपने हाथ में ले लिया। उस स्कूल की इमारतों के लिये इन्होंने १०००) की स्वयं सहायता दी तथा सारे गढ़वाल में चन्दा-संग्रह-कार्य में भी साथ दिया। उसके बाद सन १६०८ में 'गढ़वाल भ्रातृ-मण्डल' की स्थापना हुई; उसका प्रथम अधि-वेशन उसी वर्ष दिसम्बर में बड़े उत्साह के साथ कोटद्वार में मनाया गया और ये उसके सभापति निर्वाचित हुये।

उपरोक्त सार्वजनिक सेवाओं के कारण गवर्नमेंट ने इन्हें डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का सदस्य नामज़द किया। ये उसके वायस-चेयरमैन भी नियुक्त किये गये। उन दिनों डिप्टी कमिश्नर ही डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के भी चेयरमैन होते थे, जनता से कुछ प्रभाव-शाली व्यक्ति सदस्य नामज़द किये जाते थे और उनमें से सर्वोत्तम सदस्य को वायस चेयरमैन के पद पर नियुक्त कर दिया जाता था। अतः इन्होंने उन दिनों ज़िले के अन्दर वह सर्वोच्च पद प्राप्त किया जो ग़ैर-सर्कारी व्यक्तियों के लिये सम्भव था।

इनका निजी जीवन बड़ा सरल व निष्कपट था; ये हमेशा मिर्जई और पगड़ी पहिनते थे और उसी वेश में उच्च अधिकारियों से भी मिला करते थे। ये अँग्रेज़ी के विद्वान नहीं थे; लेकिन अपनी सच्चाई, ईमानदारी, परिश्रम और शुद्धाचरण के द्वारा इन्होंने ग़रीबी में पल कर भी अनुकरणीय उन्नति की थी। इसी कारण गढ़वाल के सब वर्गों के लोग समान रूप से इनका आदर करते थे।

ऐसे साधु धर्मनिष्ठ व्यक्ति संसारिक माया-जाल में कब तक लिप्त रह सकते थे ? पेंशन पर आये हुए इन्हें काफी वर्ष बीत गये थे। इसलिये एक दिन ये घर से चल दिये और उत्तरकाशी पहुँच कर सन्यास-धर्म को ग्रहण कर लिया। वहाँ महाराज दण्डी स्वामी रघु उत्तम के नाम से इन्होंने अपना शेष जीवन तपस्या व स्वाध्याय में व्यतीत किया; साथ ही दर्शन-ग्रन्थों और योग-विद्या में अच्छी गति प्राप्त की। वहीं १४ जनवरी, सन १९४० को मकर संक्रान्ति के मेले के अवसर पर ये ब्रह्मलीन हो गये ! उस समय इनकी अवस्था ६२ वर्ष की थी।

इनके बड़े पुत्र श्री उमानन्द बड़थ्वाल कई वर्षों से गढ़वाल मोटर ओनर्स यूनियन लिमिटेड के जनरल मैनेजर हैं तथा अपनी सूझ-बूझ तथा प्रबन्ध-पटुता के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके छोटे पुत्र श्री सिद्धानन्द बड़थ्वाल वैद्यक का कार्य करते हैं।

---

(२३) श्री नारायण सिंह नेगी

(निधन तिथि—४ जून, सन १९४१ ई०)

प्रवास में असाधारण उन्नति करने वाले श्री नारायण सिंह नेगी का जन्म सन १८५९ ई० में मवालस्यूँ पट्टी के पीपली गांव में हुआ था। इनका परिवार सिक्ख धर्म में दीक्षित था। इनके पिता श्री शिवसिंह नेगी ने गोरखा-पलटन में सूबेदार-मेजर के पद तक उन्नति की थी, और उन्हें 'सरदार बहादुर' की पदवी भी मिली थी। इनके बड़े भाई श्री भूपसिंह नेगी पटवारी-पद से उन्नति करके कोटद्वार-भाबर के खाम सुपरिनटेण्डेण्ड के पद तक पहुँचे थे; वहां की अधिकांश नहरें उन्हीं के जमाने में बनाई गईं।

इन्होंने बरेली कौलेज में इंटर मीडियेट तक शिक्षा पाने के

बाद सन १८८१ ई० में नहान-सिरमौर राज्य की नौकरी प्रारम्भ की। उन दिनों वहां के महाराज शमशेर प्रकाश बहादुर थे; उन्होंने इन्हें अपने दफ़्तर में क्लर्क पद पर नियुक्त कर दिया। कुछ वर्षों के बाद महाराज ने इन्हें अपना असिस्टेंट प्रइवेट सेक्रेटरी बनाया। फिर ये 'दून' इलाक़े के तहसीलदार नियुक्त किये गये। कुछ दिनों बाद महाराज ने सब से बड़ी अपील-कोर्ट स्थापित की; उसमें दो जज नियुक्त किये गये—एक तो ज्येष्ठ राजकुमार और दूसरे ये स्वयं। यह एक बड़े गौरव की बात थी।

सन १८६८ में उन महाराज की मृत्यु के बाद महाराज सुरेंद्र-विक्रम प्रकाश बहादुर गद्दी पर बैठे। उन्होंने इन्हें अपना मुख्य सचिव नियुक्त किया। सन् १६११ में 'प्रिंसेज़ एण्ड चीफ़्स ओफ़ इण्डिया' (भारत के राजे-महाराजे) पुस्तक में उसके लेखक श्री सोराब जी जहांगीर ने ये शब्द लिखे थे कि—"No extract of the ruler of Sirmoor would be complete without reference to the good services rendered by Sirdar Narain Singh, the Chief Secretary, whose co-operation in the enlightened policy of His Highness has been no small element in its successful prosecution." (सिरमौर-नरेश के विषय में कोई भी विवरण तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता, जब तक कि उनके मुख्य सचिव सर्दार नारायणसिंह की सुन्दर सेवाओं का भी उल्लेख न किया जाय; उनके सहयोग के कारण ही बहुत काफ़ी अंशों में महाराज की बुद्धिमत्तापूर्ण नीति सफलता के साथ चालू हो सकी है।)

शासन-सुधारों के अतिरिक्त मुख्य सचिव की हैसियत से इन्हें भारत-सर्कार के साथ भी पत्र-व्यवहार करना पड़ता था। उन दिनों इनके ड्राफ़्टों व रिपोर्टों की प्रशंसा पोलीटिकल विभाग के उच्च

अधिकारियों ने भी की। पिछले महाराज ने सन् १८७२ ई० में 'नहान फौंड्री' नाम की एक उत्पादन-संस्था स्थापित की थी। इन्होंने उसे और उन्नत कराया और अब उसकी अनेक शाखायें उस राज्य तथा उसके बाहर फैली हुई हैं। सिरमौर राज्य के जुब्बल व अंबाला आदि पार्श्ववर्ती राज्यों के साथ अनेक वर्षों से कई सीमा-संबन्धी विवाद चले आ रहे थे; इन्होंने उन सब मामलों को सन्तोषपूर्ण ढंग पर निपटाया। इन सब कारणों से महाराज तो इन पर मुग्ध थे ही; प्रजा भी इनसे सन्तुष्ट थी; और ब्रिटिश अधिकारियों ने भी प्रशंसा के पुल बांधे। कमांडर-इन-चीफ़ लौर्ड किचनर ने इनके कार्य को देखकर एक बार कहा था—"महाराज धन्य हैं, जिनको ऐसे सुयोग्य सचिव मिले!" उधर सन् १६१० में भारत-सर्कार ने 'सर्दार-बहादुर' की पदवी से इन्हें सम्मानित किया। इस प्रकार ३२ वर्ष की राज-सेवा के बाद सन् १६१३ ई० में इन्होंने अवकाश ग्रहण किया और गढ़वाल आ गये।

उन दिनों गढ़वाल में कई सभायें, कई प्रेस व कई समाचार-पत्र चल रहे थे; उस मतभेद को समाप्त करने के लिये दिसम्बर, सन १६१४ में एक 'एकता-सम्मेलन' कोटद्वार में किया गया; अपनी सर्वप्रियता के कारण ये उसके सभापति चुने गये। उसी सम्मेलन के फलस्वरूप 'गढ़वाल-सभा' की स्थापना हुई। उसके बाद ये 'गढ़वाल सभा' के भी कई बार सभापति रहे। पर अभी ये कुछ ही वर्ष यहां रह पाये थे कि उन महाराज का भी देहांत हो गया और नये शासक महाराज अमर प्रकाश बहादुर ने इन्हें फिर बुला लिया। अतः ये दुबारा नहान चले गये और सन १६२६ तक वहां फिर योग्यता के साथ कार्य करते रहे।

वहां से दुबारा अवकाश ग्रहण करने के बाद सन १६३० ई० में ये प्रांतीय कौंसिल के लिये खड़े हुए और एम० एल० सी० चुन लिये गए। लेकिन दुर्भाग्यवश ये कौंसिल में

अधिक कार्य नहीं कर पाये। क्योंकि सन १६३३ में महाराज अमर प्रकाश बहादुर का भी देहान्त हो गया और नये महाराज ने अपनी सहायता व परामर्श के लिये इन्हें जोर डाल कर फिर बुला लिया। इनके जीवन-काल के इन चौथे महाराज ने भी इनका यथेष्ट आदर-सत्कार किया और इनकी सलाह पर चलते रहे; और सन १६३७ में ये अंतिम रूप से गढ़वाल लौट आये।

उसी बीच ३० नवम्बर सन १६३६ को इनके सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र श्री प्रद्युम्न सिंह नेगी, डिप्टी कलेक्टर का घोड़े से गिर कर रुड़की में अकस्मात देहान्त हो गया; अतः उस बुढ़ापे में उस दुर्घटना से इन्हें गहरा आघात पहुँचा। उसके बाद इनका स्वास्थ्य बिगड़ता ही चला गया और आखिर ४ जून, सन १६४१ के दिन ८२ वर्ष की परिपक्व अवस्था में शिमला में इनका देहावसान हो गया !! इनके बड़े पुत्र स्व० श्री प्रद्युम्नसिंह नेगी के एकमात्र पुत्र श्री हरिहरसिंह नेगी, एम० ए०, लैंसडौन के एक सुसंस्कृत व सम्भ्रांत नागरिक हैं। इनके छोटे पुत्र श्री उद्धव सिंह नेगी कोटद्वार-भाबर में खेती करते हैं।

(२४) श्री अमर सिंह रावत

(निधन-तिथि—२० जुलाई, सन १६४२ ई०)

इन विचक्षण मेधावी अन्वेषक का जन्म पट्टी असवालस्यू के सीरौं ग्राम में १३ जनवरी, सन १८६२ ई० में हुआ था। इनके पिता श्री फतहसिंह रावत अपने गाँव के मालगुजार थे। इन्होंने कांसखेत से हिन्दी मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की। कुछ समय तक ये हिन्दी स्कूलों में अध्यापक रहे और फिर श्री जोधसिंह नेगी के साथ टिहरी-गढ़वाल के भूमि-बन्दोबस्त में भी कार्य किया; उनका इनकी योग्यता तथा सत्यता पर बहुत विश्वास था। वहां से लौट कर ये कुछ वर्षों तक घर पर ही रहे और तत्कालीन सार्वजनिक

जीवन में भाग लेते रहे। सन १६२४ में रोजगार की तलाश करते हुये ये करांची पहुँचे और वहां सन १६२७ तक हिन्दी-अध्यापक का कार्य करते रहे। वहीं इन्हें आर्यसमाज के प्रति आकर्षण पैदा हुआ और गढ़वाल की सामाजिक दुर्दशा का ध्यान आया; अन्त में गढ़वाल उपकारिणी सभा की ओर से प्रचारक नियुक्त होकर ये यहां आ गए। कुछ दिनों ये प्रचारार्थ यत्र-तत्र घूमते रहे और फिर निराश होकर इन्होंने खोज-कार्य पर अपनी शक्ति लगा दी।

सब से पहिले इन्होंने पीसने की कठिनाई दूर करने के लिए सन १६३० में 'अमर-चक्की' का आविष्कार किया। उसकी सहायता से एक व्यक्ति कुछ ही घण्टों में एक मन तक अनाज पीस सकता था। उस चक्की में बाद को इन्होंने और भी सुधार किये और सन १६३४ की जिला बोर्ड शिक्षा-प्रदर्शिनी, पौड़ी, में उसका सफलतापूर्वक प्रदर्शन किया; शिक्षा-समिति के तत्कालीन चेयरमैन श्री जगमोहन सिंह नेगी के नाम पर इन्होंने उसका नाम 'जगमोहन-चक्की' रखा। फलस्वरूप इन्हें प्रशंसापत्र मिले; लेकिन दुर्भाग्यवश उस चक्की का गांवों में सन्तोषजनक प्रचार नहीं हो पाया। ये फिर भी निराश नहीं हुए। इन्हें तो आविष्कारों की धुन सवार हो गई थी; इसीलिये अपनी वर्षों की तपस्या के फलस्वरूप इन्होंने अनेक प्रकार के चर्खे, वार्निश व काग़ज़ तैयार किए। साथ ही निम्नलिखित मुख्य बातों का पता लगाया—

(१) साधारण ग्रामीण पौधों के रेशों से सुन्दर कारआमद सूत तैयार करना। अपने इस प्रयोग के द्वारा इन्होंने बाबड़, भाँग, कंडाली, भरकंडाली, कोंदट, मुंगरेट, गींठी, पराल, चिलौ आदि से सूत तैयार किया और अच्छे टिकाऊ कपड़े बुनकर तैयार किए। इनका यह आविष्कार क्रांतिकारी महत्व रखता है; क्योंकि पर्वतीय प्रदेश में रुई प्रायः नहीं हो सकती और ऊन भी अधिकांशतया तिब्बत से लाई जाती है। अतः इन रेशों के उपयोग से कपडे की

आवश्यकता को बहुत आसानी और कम ख़र्चे में पूरा किया जा सकता है। भाँग के रेशे से तो अभी भी राठ-चाँदपुर के इलाक़े में भंगेले व थैले आदि तैयार किए जाते हैं; लेकिन इस प्रयोग की सहायता से उनकी अच्छाई और उपयोगिता में और अधिक उन्नति की जा सकती है।

(२) रंगने के लिये रंग। अभी तक विदेशों से ही कपड़े रंगने के रंग आया करते हैं, जिनकी क़ीमत अधिक होती है और जो हमें परावलम्बी भी बनाते हैं। इसीलिये इन्होंने अति साधारण चीजों जैसे तुण, कणमण, बासिंगा, किनगोड़ा, कठमिठाला आदि से सोफ़ियानी व टिकाऊ रंग तैयार किये और स्वयं अपने द्वारा तैयार किये गए रेशों पर उनका सफलतापूर्वक प्रयोग किया।

(३) रासायनिक पदार्थ। अपने आविष्कारों को पूर्णतया स्वदेशी, स्थानीय व स्वावलम्बी बनाने के लिए इन्होंने अनेक रासायनिक पदार्थों का आविष्कार किया और विदेशी 'ब्लीचिंग पाउडर', 'हाइपो' आदि के समकक्ष इन्होंने कई प्रकार के 'क्षार' तैयार किये। उन 'मारसाक्षार', 'सरलाक्षार', तीव्रा क्षार', 'दाहकक्षार' और 'श्वेत-मर्जन' आदि क्षारों का उपयोग इन्होंने अपने आविष्कृत रेशों और कपड़ों पर किया। उनकी सहायता से इन्होंने साधारण भंगेलों को धोकर इतना साफ़, मुलायम व चमकदार बना दिया था कि एक प्रदर्शिनी में पीलीभीत की रानी साहेबा आदि फैशनेबल महिलाएँ उन पर लट्टू हो गईं थीं!

(४) चीड़ की पत्तियों से ऊन तैयार करना। यह इनका सर्वाधिक आश्चर्यजनक आविष्कार है। उत्तर प्रदेशीय उद्योग-विभाग ने वर्षों पहिले इस दिशा में हजारों रूपये खर्च किये थे, लेकिन सफलता नहीं मिल पाई। यह इन्हीं 'मिडिल-पास' व्यक्ति की विलक्षण प्रतिभा थी जो कि यह प्रयोग सफल हुआ। चीड़ के रेशों से तैयार शुदा वास्कट ये अक्सर पहिने रहते थे। इन्होंने उस रेशे को चार

स्वाभाविक और पक्के रंगों में तैयार किया था। इसी कारण जून, सन १६४० में जब नैनीताल में कुमाऊँ कला-कौशल प्रदर्शिनी हुई थी, तब उस अवसर पर अहमदाबाद व बम्बई के सुप्रसिद्ध व्यवसायी सर चीनू भाई माधोलाल, बैरोनेट, इनकी प्रतिभा पर मुग्ध हो गये। वे इनके आविष्कार को हजारों रूपये देकर खरीदने को तैयार हो गये और यथेष्ट वेतन पर इनकी आजीवन नियुक्ति का भी बचन दिया; लेकिन विश्वयुद्ध की अनिश्चितता के कारण बाद को उन्हें वह विचार स्थगित कर देना पड़ा।

ऊपर इनके महत्वपूर्ण आविष्कारों की झांकी मात्र दी गई है; लेकिन अपने उस दीर्घकालीन प्रयत्न में इन्होंने अपना सब कुछ निछावर कर दिया था। पिता की संपत्ति, अपनी कमाई और सहायकों की सहायता—सब कुछ की इन्होंने भेंट चढ़ा दी। लुक़दार बर्तनों (इनेमल प्लेट्स) के प्रसिद्ध फ्रांसीसी आविष्कर्ता "पैलिसी" की तरह इन्होंने अपना सब कुछ स्वाहा कर दिया। फलस्वरूप सीरौं में इनका मकान 'वर्कशौप', 'स्टूडियो' और 'लेबोरेटरी' का सम्मिश्रण बन गया था। अपने उस मकान पर इन्होंने 'स्वावलम्वी शिक्षा-सदन' और 'स्वदेशी में ही स्वराज्य है' के आदर्श वाक्य अंकित कर रखे थे। पर उन आविष्कारों की धुन में इनकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त चिंताजनक हो गई थी।

इनके आविष्कारों का समुचित उपयोग करने तथा इनकी आर्थिक चिंता दूर करने के उद्देश्य से गढ़वाल के कतिपय कार्यकर्ताओं तथा संस्थाओं का इनकी ओर ध्यान गया। ज़िला ग्राम-सुधार एसोसिएशन ने इन्हें कुछ सहायता दी, तथा लिख-पढ़ करके प्रांतीय उद्योग विभाग से सन १६३६ में २५००) की ग्रांट मंजूर कराई, ताकि ये कुछ महीनों तक कानपुर रहकर अपने रेशों-संबंधी आविष्कार को व्यावसायिक दृष्टि से सफल सिद्ध कर दिखलाएँ, लेकिन इन्होंने वहां जाने से इन्कार कर दिया, क्योंकि ये अपने

आविष्कारों को बड़े व्यवसाइयों या गवर्नमेंट के हाथ बेचना नहीं चाहते थे, बल्कि ग्रामोद्योगों के रूप में उनका प्रसार करके गढ़वाल का आर्थिक विकास करना चाहते थे ! उसके बाद तत्कालीन ज़िलाधीश से मिलकर एसोसियेशन ने बाली-कंडारस्यूँ के इलाक़े के लिये सिविल जंगलात की आमदनी से एक भांग-योजना मंज़ूर कराई; ये उस स्थान व इलाक़े को देख आये थे और सन् १६४२-४३ के बजट में लगभग ८०००) हजार की ग्रांट भी आ गई थी। लेकिन उसी बीच निरभ्र वज्रपात हो गया !

जुलाई, सन १६४२ में इन्हें कार्यवशात हरिद्वार, देहरादून व सहारनपुर तक का सफ़र करना पड़ा; वहां से लौटते समय रास्ते से ही ये बीमार पड़ गये। घर पहुँच कर काफ़ी इलाज कराया गया। कुछ दिनों बाद इन्हें बांगघाट अस्पताल में पहुँचाया गया; लेकिन वहीं ३० जुलाई, सन १६४२ की रात को ५० वर्ष की ही आयु में इन्होंने सदा के लिए इस असार संसार से विदाई ले ली !

इनके परिवार में इनके छोटे भाई श्री जोधसिंह आर्य हैं; वे पहिले बंगाल पुलिस में थे; अब घर पर ही लगन के साथ सार्वजनिक सेवा करते हैं। सौतेली माता से भी इनके दो भाई हैं। इनके अतिरिक्त इनकी विधवा पत्नी और दो अविवाहित कन्यायें हैं और उनकी आर्थिक स्थिति दयनीय है।

---

(२५) श्री पातीराम परमार

(निधन-तिथि—१६ जनवरी, सन १६४३ ई०)

कुशल चिकित्सक तथा सफल लेखक श्री पातीराम परमार का जन्म १३ मार्च, सन १८५४ ई० को चन्द्रशिला (खदेड़) पट्टी के डूंगर नामक गांव में हुआ था। इनके पिता खेतीबाड़ी का कार्य करते थे। अपने अध्यवसाय से छात्रवृत्तियां प्राप्त करने के बाद

मिशन स्कूल चोपड़ा से इन्होंने अंग्रेज़ी मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की और मेरठ के मिलिटरी मेडिकल प्यूपिल क्लास में भर्ती हो गए। वहां की परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद इन्होंने टेम्पल मेडीकल कौलेज पटना में सन १८७५ से सन १८७६ तक अध्ययन किया और अन्तिम परीक्षा में नामवरी के साथ उत्तीर्ण हुए।

उसके बाद इन्हें ३४ नम्बर, पूर्बिया पलटन के अस्पताल में नियुक्त किया गया। फिर इन्हें कुछ समय के लिये नागा-युद्ध में जाने का अवसर मिला। सन १८८१ में ११वें प्रिंस औफ वेल्सेज़ ओन बेंगाल लांसर्स के अस्पताल में नियुक्ति मिली। सन १८८४ ई० में रूस-अफग़ान सीमा-निर्धारण कमीशन के साथ इन्हें नियुक्त किया गया; उस पद पर इन्हें लगभग २६ मास तक कठिन परिस्थितियों में कार्य करना पड़ा; साथ ही इन्हें बिलोचिस्तान, अफग़ानिस्तान, ईरान व मध्य एशिया के अन्य अनेक प्रदेश देखने का अवसर प्राप्त हुआ। उन दिनों की असाधारण प्रशंसनीय सेवाओं के कारण सन १८८७ ई० में इन्हें तीन दर्जों की एकदम तरक्क़ी दी गई और 'रायबहादुर' की पदवी से विभूपित किया गया। उस उपाधि को पाने वाले ये सर्वप्रथम गढ़वाली थे।

सन १८९३ में ये कमांडर-इन-चीफ़ के अस्पताल में नियुक्त किये गये। यद्यपि साधारणतया उस पद पर हिन्दुस्तानी कमीशंड मेडिकल अफसरों को अधिकतम पांच वर्ष तक ही रहने दिया जाता था, तथापि अपनी योग्यता व लोकप्रियता के कारण इन्हें उस पद पर लगभग १७ वर्ष तक रहने का अवसर प्राप्त हुआ। सन १९०१ में सम्राट एडवर्ड अष्टम के राज्यारोहण के अवसर पर इन्हें भारतीय फौजी दल के साथ लन्दन भेजा गया; उस यात्रा में इन्हें पांच मास लगे और अच्छे अनुभव प्राप्त हुए। वहां से लौटकर इन्हें 'औोर्डर औफ़ ब्रिटिश इण्डिया, सेकंड क्लास' तथा 'बहादुर' की उपाधि दी गई। कुछ वर्ष बाद इनकी प्रशंसनीय

सेवाओं के लिये तीन पीढ़ियों तक ६००) वार्षिक लगान की जागीर प्रदान की गई और मार्च, सन १९११ में ३२ वर्ष की सेवा के बाद इन्होंने अवकाश ग्रहण किया।

पेंशन प्राप्त होने पर ये अपने गांव चले आये। वहां इन्होंने एक सुन्दर बंगला बनवाया, उसके चारों तरफ एक विस्तृत बागीचा लगाया; साथ ही जंगल तैयार करके गांव वालों के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत किया; और शांतिपूर्वक उस 'पार्वतीपुर' में निवास करने लगे। इन्होंने कर्णप्रयाग में अंग्रेजी स्कूल स्थापित करने में भी सहायता दी और उसकी प्रबन्ध-समिति के सदस्य चुने गये। शासन ने भी इन्हें डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का सदस्य नामजद करके जन-सेवा का अवसर दिया। इसीलिए २७ फर्वरी, सन १९१२ में गढ़वाल यूनियन-देहरादून ने इन्हें अपना मुख्य प्रधान (जनरल प्रेसीडेंट) चुना। लेकिन उसी बीच प्रथम विश्व-महायुद्ध शुरू हो गया और ये फिर फौजी सेवा के लिए बुला लिये गये। सन १९१४ से सन १९१९ तक इन्होंने आर्मी हेडक्वार्टर्स के मुख्य अस्पताल में कार्य किया। उस काल की सेवाओं के कारण इन्हें 'ऑनरेरी लेफ्टिनैंट' का रैंक दिया गया तथा 'ऑर्डर ऑफ ब्रिटिश इण्डिया, फर्स्ट क्लास के पदक के साथ 'सर्दार बहादुर' की उपाधि भी दी गई।

इस प्रकार सन १९२० में ये फिर दुबारा अवकाश ग्रहण करके घर वापिस आ गये। यहां आकर अपनी लोकप्रियता के कारण ये सन १९२५ में निर्विरोध ज़िला बोर्ड के चेयरमैन निर्वाचित हुये और सन १९२८ तक उस पद पर कार्य करते रहे। अपने कार्यकाल को इन्होंने अत्यधिक योग्यता और निष्पक्षता से निभाया। कार्यभार संभालते समय इन्होंने जिला बोर्ड पर लगभग ८४,०००) का कर्ज पाया था; अतः इन्होंने बहुत सतर्कता व मितव्ययिता से काम किया; यहां तक कि अपने बुढ़ापे के बावजूद इन्होंने लम्बे-लम्बे दौरे किये और किसी प्रकार का भत्ता ग्रहण न करके

एक आदर्श प्रस्तुत किया। अन्त में इन्होंने अपने उत्तराधिकारी बोर्ड को बचत की आर्थिक स्थिति प्रदान की।

उपरोक्त कार्य के अतिरिक्त इन्होंने "गढ़वाल-एनशेण्ट एण्ड मौडर्न" नाम से अँग्रेज़ी भाषा में प्राचीन तथा अर्वाचीन गढ़वाल पर एक पुस्तक लिखी। इनका उद्देश्य गढ़वाल में अँग्रेज़ी राज्य प्रारम्भ होने के शताब्दी-समारोह को श्रद्धाञ्जलि चढ़ाने का था; लेकिन इन्होंने उस पुस्तक में यहां का धार्मिक तथा ऐतिहासिक महत्व, भूगोल, जलवायु तथा दृश्यावली, भूमि, जन-समाज व रीति-रस्म, तीर्थस्थान, तथा गढ़-नरेशों के क्रमागत इतिहास का भी वर्णन किया है। यह पुस्तक वैसे तो इनके प्रथम पेंशन-काल ही में लिख ली गई थी, लेकिन जब ये दुबारा शिमला में फ़ौजी नौकरी पर थे, तब सन १९१७ में वहीं के आर्मी प्रेस से छपाकर इन्होंने उसे प्रकाशित किया।

ज़िला बोर्ड की चेयरमैनी से निवृत्त होने के बाद इन्होंने शान्तिपूर्वक अपना शेष जीवन अपने गांव में बिताया; वहीं १६ जनवरी, सन १९४३ ई० को इन्हें प्रभु की शरण में जाने का अवसर मिला। इनके बड़े पुत्र श्री शालिग्रामसिंह परमार, बी० ए०, एल-एल० बी० ने कुछ वर्ष पौड़ी में वकालत की; फिर सन १९१८ में वे सीधे डिप्टी कलेक्टर नियुक्त हुये; पर अक्तूबर, सन १९३० में ही उनका देहान्त हो गया। दूसरे पुत्र श्री हरिसिंह परमार पुलिस-इन्सपेक्टर के पद से पेंशन पर आ चुके हैं; उन्हें कुख्यात डाकू सुल्ताना भांतू को चतुरतापूर्वक पकड़वाने के उपलक्ष्य में 'किंग्स पुलिस मेडल' प्रदान किया गया था। तीसरे पुत्र श्री प्रेमसिंह परमार भारतीय सचिवालय में सुपरिनटेण्डेण्ट के पद पर कार्य कर रहे हैं। इनके ही एक चचेरे भाई श्री भजरामसिंह, बी० ए० (औनर्स) तहसीलदारी से अवकाश ग्रहण करके घर में निवास करते हैं।

(२६) श्री मंगतराम जोशी 'मंगल'

(निधन-तिथि—जनवरी, सन १६४४ ई०)

सुकवि श्री मंगतराम जोशी 'मंगल' का जन्म सन १६१० ई० में सैंधार पट्टी के बहुखंड ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री बद्रीदत्त जोशी एक कर्मकांडी ब्राह्मण थे। पोखड़ा स्कूल से हिंदी मिडिल परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद इन्होंने देहरादून के डी० ए० वी० कौलेज से हाइ स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की। वहां इनका आर्यसमाज के प्रति आकर्षण हुआ और उसी जोश में आकर इन्होंने अपनी समाज-सुधार-सम्बन्धी फुटकर कविताओं का संग्रह "पोप पर तोप" शीर्षक से प्रकाशित किया। वहीं बाद में इन्होंने अपनी अन्य कविताओं का संग्रह 'मधु' पुस्तिका के रूप में प्रस्तुत किया। उसमें 'बच्चन'-शैली की कवितायें इन्होंने अधिकांशतया रखी थीं।

फिर कुछ समय तक ये दिल्ली से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक 'कर्मयोगी' के उप सम्पादक पद पर कार्य करते रहे। लेकिन जब उस दिशा में व्यवस्थित जीवन की आशा नहीं रही, तब इन्होंने गढ़वाल आकर पौड़ी के ज़िला बन्दोबस्त-कार्यालय में लिपिक का कार्य संभाल लिया। लेकिन अभी ये लगभग तीन वर्ष तक ही उस कार्यालय में रह पाये थे कि सन् १६४२ में वह बन्द हो गया और ये फिर बेकार हो गये। अतः ये रुड़की गये और वहां फ़ौज में 'सिविलियन टीचर' बन गये। पर रुड़की जाकर इन्हें राज्यक्षमा रोग ने घेर लिया; और आख़िरकार जनवरी, सन् १६४४ ई० में केवल ३४ वर्ष की अल्पायु में ही ये स्वर्गधाम को सिधार गये!

विद्यार्थी-जीवन की इनकी कविताओं का ऊपर उल्लेख किया जा चुका। उसके बाद भी इनकी काव्य-रचना चलती रही। विशेषकर 'कर्मभूमि' का प्रकाशन होने पर इन्हें भी प्रेरणा मिली और इनकी गति बढ़ गई। 'चांद', 'माधुरी', 'सरस्वती' व 'विशाल-

भारत' में भी इनकी कुछ कवितायें प्रकाशित हुईं। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'जंगल में मंगल' शीर्षक से अपना संग्रह तैयार किया, लेकिन वह प्रकाशित नहीं हो पाया। 'रबड़ी' शीर्षक से बच्चों के लिए भी एक कविता-संग्रह इन्होंने तैयार किया। पौड़ी ही में इन्होंने प्रसिद्ध-ग्राम-गीत 'नाग सुरीज' (सूर्यकमल या सूर्यकुमार) पर एक खण्ड-काव्य "मंगला" नाम से तैयार करने की योजना बनाई, लेकिन उस रूप-कथा (बैलेड) के केवल ६-७ सर्ग ही ये लिख पाये।

पौड़ी के कार्यकाल में इन्होंने कतिपय अन्य साहित्यिक मित्रों के सहयोग से 'गढ़वाल लेखक संघ' की स्थापना की और ये उसके उप-मन्त्री चुने गये। उस संघ की ओर से 'सप्तक' प्रकाशित करने की इन्होंने योजना तैयार की; उसमें ये गढ़वाल के सात प्रमुख कवियों की सर्वोत्तम कवितायें प्रकाशित करना चाहते थे; लेकिन वह योजना सफल नहीं हो पाई। पौड़ी में ही इन्होंने एक साहित्यिक गोष्ठी का भी प्रारम्भ किया था; उसमें कवि व लेखक अपनी रचनायें सुनाते थे तथा साहित्यिक विषयों पर विचार-विनिमय हुआ करता था। इनके परम मित्र व स्वयं कवि श्री बुद्धिबल्लभ थपलियाल के अनुसार—"रसिकता ने अन्तिम समय तक इनका साथ नहीं छोड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि इनके अादर काव्य की प्रेरणा थी। इनके अन्दर काव्य के रसाद्र और मार्मिक अंशों की अनुभूति की शक्ति थी। अपनी रचनाओं में इन्होंने भाषा को संवारने का कभी प्रयत्न नहीं किया। फिर भी इन्हें तत्सम शब्दों के प्रयोग का मोह था।"

यद्यपि इनकी कविताओं में अधिकांशतया 'बच्चन' के 'हालावाद' की पुट है, तथापि इन्होंने समाज-सुधार पर प्रारम्भ में कुछ कवितायें लिखी थीं और बाद में तत्कालीन संसार की समस्याओं पर भी इन्होंने क़लम चलाई। सन् १६३६ में जब द्वितीय विश्व-महा-

युद्ध प्रारम्भ हुआ, तब इन्होंने व्याकुल होकर 'आज का एक चित्र' शीर्षक कविता लिखी। उसके कुछ पद इस प्रकार हैं—

आज जन का भक्ष्य जन ही, पेय जन का रक्त जन का,
हृदय दानव का मनुज में, मनुज, केवल मनुज तन का;
स्वामि भौतिक साधनों का, सभ्यता-विज्ञान-धन का,—
आज का मानव बना है हिंस्र, बर्बर जन्तु बन का।
वाष्प, विद्युत शक्तियों के व्याल, यानों के उठा फण—
विश्व के उर पर निरन्तर कर रहे विष-वन्हि वर्षण,
दे रही हैं आज दस दिशि प्रलय विप्लव को निमन्त्रण,
आज कण-कण में जगत के, मच रहा रण, घोर घर्षण।
भीम पोतों, यान, टैंकों से प्रकम्पित सिन्धु, नभ, भू,
विश्व डगमग, प्रलय तांडव नाचता सर्वत्र शम्भू,
धधकती कालाग्नि पग-पग पर रही है आज नभ छू,
आज हिंसक अरु अशांतिक बुद्ध-ईसा की धरम-भू।
व्योम पर, भू पर, उदधि पर, नाश का ताण्डव मचा अह!
उच्च धन-बल का हिमालय, दैन्य भूतल पर पड़ा ढह,
सभ्यता, विज्ञान का, बहु वर्ग, वादों की धरा यह—
देखने द्रुत जा रही है दिवस कटु, भीषण, भयावह।
आज का युग नग्न पतझर, क्या मधुर मधु ऋतु जनेगा?
आज का युग क्रुद्ध शंकर, क्या सदय ब्रह्मा बनेगा?
जगह इस कृष्णा निशा की, क्या सुस्वर्णिम प्राप्त लेगा?
पूछते हैं लोग, मैं हूं मौन, उत्तर समय देगा।

गढ़वाल व अल्मोड़ा जिलों की सीमा पर स्थित दूधातोली पर्वत-श्रेणी के आंचल में घनघोर जंगल के मध्य बिनसर (अविनश्वर) महादेव का प्रसिद्ध पुरातन मन्दिर है; वहां प्रति वर्ष बैकुण्ठ चतुर्दशी को एक बड़ा मेला लगता है। एक बार इन्हें वहां जाने का अवसर मिला; और उस पर इन्होंने 'बिनसर शिव-मन्दिर के प्रति'—शीर्षक

कविता लिखी। उससे निम्न लिखित पद उद्धृत किये जाते हैं—

तुम 'दुग्धताल' गिरि के उत्तुंग, इस एक श्रृंग पर खड़े मौन—
कह रहे युगों की मधुर-मधुर, कटु कठिन कहानी अरे कौन?
यह विविध विहग स्वर-सुरा-स्नात, वन सुभग प्रकृति-श्री का विशाल,
विचरण जिसमें करते समोद, हरि-हरिण-शशक-शूकर-श्रगाल।
उर इसके तुम यहां हरित, मखमली दूब की, दरी डाल—
बैठे हो जग से दूर किन्तु—शत देख चुके जग-सदी-काल।
दुनिया की कितनी धूप-छांह, कितने उजले दिन, कृष्ण रात,
तुमने देखी हैं जीवन में कितनी सन्ध्या, कितने प्रभात?
कहते 'वेणी माधव' महीप ने करी तुम्हारी यहां सृष्टि;
बीते, युग इस जर्जर तन से अब तक होती है कला-वृष्टि।
बीते कितने हैं काल कठिन, पर विश्व विमोहक भव्य वेष—
रे, अभी तुम्हारी शिला-शिला करती दर्शकों को निर्निमेष।
हम तिमिर घिरे, तेरे उर में होंगे कितने जलते चिराग—
वह त्रिविध अहिंसा गौतम की, वह शंकर का जग से विराग,
वह मुहमद का एकता-भाव, वह प्रभु मसीह का शांति-सीख;
हम रिक्त, द्वार पर हुये खड़े दो कुछ की भी तो हमें भीख।
वह शिवा राज का धर्म-त्राण, वह भामा का सर्वस्व दान,
वह जननि-जन्मभू-भक्ति-पूर्ण राणा प्रताप का स्वाभिमान—
ऐसे कितने ही रत्नों की, है लगी तुम्हारे पास खान;
हम नग्न मांगने आये हैं, कुछ भी तो 'बिनसर' करो दान!
बैकुण्ठ चतुर्दशि पर निशि को, जन-सिंधु उमड़ते सप्त अत्र,
रे जुड़ता अल्मोड़ा समस्त, गढ़वाल प्रांत का यत्र-तत्र।
तुम देते हो सब को सदैव सब की मन-वांछित वस्तु, नाथ,
बस, धरो हमारे मस्तक पर तुम उसी कृपा से पूर्ण हाथ!!

इनके परिवार में इनकी विधवा पत्नी तथा छोटे भाई श्री तोताराम जोशी हैं; उनकी आर्थिक स्थिति सामान्य है।

(२७) श्री ज्ञानसिंह बिष्ट

(निधन-तिथि—१७ मार्च, सन १९४५ ई०)

आज़ाद हिंद फ़ौज में वीरतापूर्वक शहीद होने वाले श्री ज्ञान-सिंह बिष्ट बंड पट्टी के खैंडुड़ी गांव के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम श्री दयालसिंह बिष्ट था। इनका जन्म सन १९१४ में हुआ था। ये १२ सितम्बर, सन् १९३२ को भर्ती हुए तथा २।१८वीं रौयल गढ़वाल रायफ़ल्स में हवल्दार के पद पर पहुँच चुके थे। जब भार-तीय फ़ौजों को मिलाकर मलाया में आज़ाद हिंद फौज की स्थापना की गई, तब इन्हें सेकंड-लेफ़्टिनेंट का पद दिया गया और ये नेहरू ब्रिगेड की एक बटैलियन की 'बी' कम्पनी के कमांडर नियुक्त किये गये और वह ब्रिगेड इरावदी के मोर्चे पर नियुक्त की गई। उसी सिलसिले में उसे १७ मार्च, सन् १९४५ को टौंगज़िन स्थान पर मोर्चा लेना पड़ा। उस युद्ध का वर्णन मेजर-जनरल शाहनवाज़ खां ने अपनी अंग्रेज़ी में लिखी पुस्तक "माइ मेमरीज़ औफ़ आइ० एन० ए० एण्ड इट्स नेताजी" में इस प्रकार किया है—

"१७ मार्च को हमारी एक बटैलियन टौंगज़िन के पास रक्षा-त्मक स्थिति में थी। लेफ़० करतारसिंह के नायकत्व में 'ए' कम्पनी नलैंग गांव के पास थी। 'बी' कम्पनी का संचालन से० लेफ़० ज्ञानसिंह बिष्ट कर रहे थे और वह टौंगज़िन के उत्तर-पूर्व में स्थित थी। 'सी' कम्पनी रिज़र्व में थी।

"११ बजे के क़रीब उत्तर-पश्चिम दिशा से शत्रु के तोपख़ाने ने हम पर बहुत ज़ोरों की बमबारी शुरू कर दी। उस समय 'ए' कम्पनी का एक पेट्रोल हमारे स्थान के सामने वाले इलाक़े में गश्त लगा रहा था। इस पेट्रोल पर गोरखा सैनिकों की लगभग एक प्लैटून ने अचानक हमला कर दिया; वे मोटर-लारियों में न्यौंगू की दिशा से आये थे।

"हमारे पेट्रोल ने रक्षात्मक स्थिति संभाल ली और शत्रु की गोलाबारी का जवाब दिया, जिससे उनके सात सैनिक मर गये। बटैलियन कमांडर को जब इस मुठभेड़ की सूचना मिली तब उन्होंने लेफ० दित्तूराम के नायकत्व में एक और लड़ाकू पेट्रोल भेज दिया; उसने पहिले वाले पेट्रोल से सम्पर्क स्थापित किया तथा शत्रु-दल को आगे बढ़ने से रोकने में सफल हुआ।

"लगभग साढ़े बारह बजे, शत्रु-पक्ष के १५ टैंक, ११ बख़्तरबंद मोटरें और १० लारियां मुख्य सड़क के रास्ते आगे बढ़ीं और उन्होंने हमारी अगली टुकड़ियों पर ज़ोरदार बमबारी तथा मशीन-गनों से गोलियों की बौछार करना शुरू कर दी। हमारे सैनिकों ने उस गोलाबारी का जवाब अपनी राइफ़लों और मशीनगनों से दिया। उस शत्रु-दल ने तब अपने आपको दो भागों में विभाजित कर लिया—एक दल 'ए' कम्पनी की दिशा में गया और दूसरा दल 'बी' कम्पनी की तरफ़ बढ़ा; वह कम्पनी से० लेफ० ज्ञानसिंह बिष्ट के नायकत्व में टौंगज़िन के उत्तर-पूर्व में रक्षात्मक मोर्चा संभाले हुये थी।

"जिस इलाक़े पर इस कम्पनी का क़ब्ज़ा था वह ज़मीन का एक समतल भाग था और उस पर विपक्ष की दृष्टि या गोलाबारी से बचने की कोई आड़ नहीं थी। उसी स्थान के पास एक छिछला सूखा तालाब था; उसके पास ही सामरिक महत्व की तीन सड़कें मिलती थीं। उस स्थान से चार मील उत्तर-पश्चिम की ओर १४२३ फ़ीट ऊँची एक पहाड़ी थी; उसके पीछे शत्रु का तोपख़ाना था और वहां से सड़कों के उस संगम तथा उससे दक्षिण के इलाक़े पर निशाना लगाया जा सकता था। अगर उस पर क़ब्ज़ा हो जाता तो युद्ध की सारी योजना पर बुरा असर पड़ सकता था।

"ऐसी कुंजी के स्थान पर ले० ज्ञानसिंह की 'बी' कम्पनी नियुक्त थी; उन्हें सिंगापुर के ऑफ़िसर्ज ट्रेनिंग स्कूल में ट्रेनिंग दी जा

चुकी थी। इस कम्पनी में सिर्फ ९८ व्यक्ति थे। उनके पास भारी या हल्की किसी प्रकार की भी मशीनगनें नहीं थीं। राइफ़लें ही रक्षा तथा आक्रमण के लिये उनके हथियार थे। उन्हें आदेश दिया गया था कि किसी भी हालत में उस स्थान पर शत्रु का क़ब्ज़ा न होने देवें।

"वे उस स्थिति में दो दिनों से थे, लेकिन शत्रु-दल ने आगे बढ़ने का साहस नहीं किया था। तब उस १७ मार्च, सन १९४५ को सुबह तड़के से ही ११ बजे तक शत्रु-पक्ष के लड़ाकू वायुयानों ने उन पर बमबारी की तथा मशीनगनों से गोलियां चलाईं। उसके बाद, शत्रु-पक्ष के बड़े तोपख़ाने ने उनकी कम्पनी के स्थान पर गोले बरसाने शुरू किये और उस बमबारी की आड़ में मोटर-सवार पैदल सेना का एक दल आगे चला। वह दल सीधे उस तालाब की ओर बढ़ा; वहां पर इस कम्पनी की अगली प्लैटूनें मोर्चा संभाले हुये थीं। शत्रु-पक्ष की बख़्तरबन्द गाड़ियों से हमारी खाइयों पर बम तथा गोलियां बरसाई जाने लगीं। हमारे सैनिक छिप गये और अपनी खाइयों में प्रतीक्षा करने लगे, ताकि शत्रु-पक्ष की पैदल सेना मोटरों से नीचे उतर आये। इस्पात के राक्षसों की तरह अपनी गोलाबारी से नरक का दृश्य उपस्थित करते हुये शत्रु-पक्ष के टैंक और बख़्तरबन्द मोटरें इतना समीप आ गईं कि उन्होंने हमारे सैनिकों को कुचल डालने के उद्देश्य से हमारी खाइयों पर धावा करना शुरू कर दिया। उनके सामने दो विस्फोटक खानें (माइन्स) फेंकी गईं, लेकिन दुर्भाग्यवश वे फूटी ही नहीं!

"उस स्थल तथा बटैलियन हेडक्वार्टर्स के मध्य कोई संचार-सम्बन्ध नहीं रह गया था। जब से० लेफ़० ज्ञानसिंह ने अनुभव किया कि अपनी राइफलों से वे शत्रु की बड़ी मशीनगनों, हथ-गोलों और हल्की स्वचालित तोपों का मुक़ाबला नहीं कर सकते और अगर वे अपनी खाइयों में ही रुके रहते हैं तो उन सब की

मृत्यु अथवा क़ैद निश्चित है, और शत्रु को भी कोई हानि नहीं होगी, तब उन्होंने अपने सैनिकों को आक्रमण करने का आदेश दिया। "नेता जी की जय", "इनक़लाब ज़िन्दाबाद", "आज़ाद हिन्द ज़िन्दाबाद" के नारे लगाते हुए उन्होंने उस हमले का स्वयं नेतृत्व किया और शत्रु की उस पैदल सेना पर हल्ला बोल दिया, जिसे कि इस्पात के राक्षसों से सहायता मिल रही थी। हमारे सब सैनिकों ने उनके नारों को दुहराया और उनकी गूंज शत्रु की गोलाबारियों से भी ऊपर उठ गई। हमारे सैनिक जानते थे कि वे लगभग निश्चित मृत्यु पर हमला कर रहे हैं; लेकिन वे तो सब प्रकार के भय को तिलांजलि दे चुके थे। उनकी दृढ़ इच्छा-शक्ति ही उनकी एकमात्र सहायिका थी; और उसी के आसरे पर उन बहादुरों ने शत्रु के उन्नततर अस्त्र-शस्त्रों का मुक़ाबला करने की ठानी थी। भारत और भारत की आज़ादी के नाम पर उन्होंने शत्रु की गाड़ियों पर हमला बोला। शत्रु-पक्ष के सैनिक तुरन्त भूमि पर उतर पड़े और आमने-सामने की मुठभेड़ प्रारम्भ हो गई; वह संघर्ष पूरे दो घंटों तक चलता रहा; लेकिन हमारे वीर हार मानने को तैयार नहीं थे। उनमें से चालीस ने अपने प्राण न्यौछावर कर दिये; लेकिन उन्होंने शत्रु-पक्ष को उससे भी अधिक हानि पहुंचाई। उनकी दृढ़ता से शत्रु-दल इतना प्रभावित हुआ कि वह फुर्ती के साथ पीछे को हटता चला गया।

"ठीक तब से० लेफ० ज्ञानसिंह ने अपनी तीसरी प्लैटून को पुकारा तथा आदेश जारी कर ही रहे थे, कि अचानक उनके सिर पर एक गोली लग गई और फिर कभी न उठने के लिए वे गिर पड़े। उनके सहायक ने तब नायकत्व संभाल लिया और अपनी कम्पनी को पुनर्संगठित किया।

"से० लेफ० ज्ञानसिंह बिष्ट अपने सैनिकों से कहा करते थे कि वे उनके साथ मरेंगे। उन्होंने अपने वचन को पूरा किया और

अपने आप को ज़िंदगी व मौत दोनों में उनका सच्चा साथी सिद्ध करके बता दिया।"

इसीलिये इनके ब्रिगेड-कमाण्डर लेफ० कर्नल जी० एस० ढिल्लन ने अपनी ६ अप्रैल, सन १६४५ की रिपोर्ट में "चार्ज औफ़ दि इममौर्टल्स" (अमरों का आक्रमण) शीर्षक के अन्तर्गत इनके वीरतापूर्ण कार्य का विवरण प्रधान सैनिक कार्यालय को भेजा था। उनका वह पत्र लाल क़िले के ऐतिहासिक मुक़द्मे में उनके खिलाफ सर्कारी पक्ष की ओर से पेश किया गया था और वह उस मुक़द्मे के इतिहास के साथ संलग्न है।

(२८) श्री महेन्द्रसिंह बगड़ी

(निधन-तिथि—२२ अप्रैल, सन १६४५ ई०)

आज़ाद हिन्द फ़ौज में चिरस्मरणीय वीरता दिखाने वाले श्री महेन्द्रसिंह बगड़ी का जन्म सन १८८६ ई० में ज़िला अल्मोड़ा की पट्टी मल्ला दानपुर के बगड़ गांव में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री धनसिंह बगड़ी था। गढ़वाल की सीमा से मिले होने के कारण इनकी भाषा गढ़वाली से मिश्रित थी और इनके गांव के वैवाहिक सम्बन्ध ज़िला गढ़वाल की पड़ोसी पट्टियों से थे; अतः १२ अक्तूबर, सन १६१४ को ये लैंसडौन आकर भर्ती हो गये। ये २।१८ वीं, रौयल गढ़वाल राइफ़ल्स, में धीरे-धीरे उन्नति करते हुए सूबेदार के पद पर पहुँच गये थे।

मलाया में जब आज़ाद हिन्द फ़ौज का निर्माण हुआ तब ये कैप्टेन के पद पर नियुक्त किये गये। इन्हें सेकंड इनफ़ैन्ट्री रेजीमेण्ट के अन्तर्गत तीसरी बटैलियन का कमाण्डर बनाया गया। उस रेजीमेण्ट का संचालन कर्नल पी० के० सहगल करते थे और उनके ऊपर सारे डिवीज़न, नं० २, के अधिनायत्व में

मेजर-जनरल शाहनवाज़ खां नियुक्त थे। वह रेजीमेंट दिसम्बर, सन १९४३ में सिंगापुर में खड़ी की गई थी और दिसम्बर, सन १९४४ में वह रंगून पहुँची। फ़रवरी, सन १९४५ में उसे आदेश मिला कि वह पोपा जाकर शत्रु-सेना की बाढ़ को रोके। उस समय तक ब्रिटिश, अमरीकन व ब्रिटिश भारतीय सेनायें दुबारा आसाम के रास्ते बर्मा में प्रविष्ट हो चुकी थीं और धीरे-धीरे विजय प्राप्त करती हुई आगे बढ़ रही थीं। ऐसी निराशा के वातावरण में उस रेजीमेण्ट को मुक़ाबला करने का आदेश मिला।

उसी मुहिम में ३० मार्च, सन १९४५ को काब्यू नामक स्थान पर इन्होंने बड़ी बहादुरी दिखाई। इनके पास ही जो जापानी सेना थी वह शत्रु-दल के घेरे में आ गई थी; लेकिन इन्होंने दूसरी ओर से हमला बोल दिया और शत्रु को भारी हानि पहुंचाई। इनकी बटैलियन ने शत्रु को ही पीछे नहीं खदेड़ा, बल्कि सब जापानी लाशों व जख्मियों को भी अपने डेरे पर ले आये। उस शाम जापानी सेनापति स्वयं मेजर-जनरल शाहनवाज़ खां के पास आये और उन्होंने इनके कार्य की बहुत प्रशंसा की।

उसके बाद सामरिक स्थिति और भी निराशाजनक हो गई और आज़ाद हिन्द फौज को पोपा का महत्वपूर्ण केन्द्र ख़ाली करके पीछे हटना पड़ा। उस पीछे हटने में इनकी बटैलियन ने बड़ी सतर्कता और वीरता से कार्य किया और २२ अप्रैल, सन १९४५ को इन्हें शहादत प्राप्त हुई। उस घटना का वर्णन मेजर-जनरल शाहनवाज़ खां ने अपनी अंग्रेजी भाषा की पुस्तक में इस प्रकार किया है—

"२० अप्रैल के लगभग, जब कै० बगड़ी का दल टौंडविंगी से लगभग २० मील दक्षिण की तरफ़ था, तब अचानक शत्रु टैंक पहुंच गये और इन्हें घेर लिया। उस समय वह बटैलियन एक छोटे गांव में खुले धान के खेतों में बिखरी हुई थी। सन्तरियों ने

कै० बगड़ी को खबर दी कि शत्रु-टैंक बड़ी संख्या में उस गांव के पास पहुँच रहे हैं। उनकी बटैलियन उस हमले के लिये तैयार नहीं थी। उन्हें खाइयां खोद कर आड़ लेने का भी समय नहीं मिल पाया था; उनके पास इस्पात के उन राक्षसों का मुक़ाबला करने के लायक़ हथियार भी नहीं थे। अतः कै० बगड़ी के सम्मुख दो ही मार्ग थे—या तो वे शत्रु के समक्ष आत्मसमर्पण कर दें या निराशापूर्ण युद्ध करके शानदार मौत प्राप्त करें।

"उन्होंने तुरन्त अपने सैनिकों को बुलाया और उन्हें परिस्थिति समझाई। उन्होंने कहा—'हम शत्रु-टैंकों से घिर गये हैं। हम अब या तो लज्जापूर्ण आत्म-समर्पण कर सकते हैं या सच्चे सिपाहियों की तरह लड़ते हुये शानदार मौत प्राप्त कर सकते हैं।' आगे बढ़कर फिर उन्होंने कहा—'मैं तो कायर अंग्रेज़ों के सामने अपने हथियार डालने की सोच भी नहीं सकता। मैंने तो आखिर तक लड़ते रहने का निश्चय किया है।' यह कहते हुये उन्होंने १०० सैनिकों के दल के साथ शत्रु-टैंकों पर हमला बोल दिया। हथगोलों और पेट्रोल से भरी बोतलों के साथ उन्होंने शत्रु की गाड़ियों पर आक्रमण किया और एक टैंक व एक बख्तरबन्द मोटर को नष्ट कर दिया। जब वे दूसरी बार हमला कर ही रहे थे कि कै० बगड़ी पर मशीनगन की सीधी गोलाबारी आ गई और वे फिर कभी न उठने के लिए गिर पड़े। जो सैनिक उनके पीछे-पीछे चल रहे थे उनमें से भी अधिकांश मारे गये।

"जिन ब्रिटिश अफ़सरों ने कै० बगड़ी का यह कार्य देखा वे उनकी वीरता तथा अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा के प्रति पूर्ण लापरवाही से मंत्र-मुग्ध हो गये। वे यह कारण जानना चाहते थे कि अपने विरुद्ध असम्भव संकटों का अनुभव करते हुए भी क्यों कै० बगड़ी ने शत्रु-टैंकों पर धावा किया और मृत्यु प्राप्त की? इसका कारण स्वभावतया सीधा-सादा था, लेकिन एक अंग्रेज़ की

समझ में वह कठिनता से आ सकता था। भारत के सच्चे पुत्र मारे जा सकते हैं; लेकिन वे कभी भी पराजित नहीं किये जा सकते। शत्रु-टैंकों पर धावा करते समय बगड़ी जानते थे कि वे निश्चित मृत्यु को निमंत्रण दे रहे हैं; लेकिन उन्हें उसका भय नहीं था। वे कभी पराजय को स्वीकार नहीं कर सकते थे। इस प्रकार आज़ाद हिन्द फ़ौज के एक सर्वाधिक वीर सैनिक की मृत्यु हुई।"

---

(२६) श्री पद्मसिंह गुसांई

(निधन-तिथि—मई, सन १६४५ ई०)

आज़ाद हिन्द फ़ौज में शहीद होने वाले लगभग ६०० गढ़वाली सैनिकों में अग्रगण्य श्री पद्मसिंह गुसांई का जन्म सन १८६७ ई० में रिंगवाड़स्यूं पट्टी के सतराली गांव में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री बुथाड़सिंह गुसांई था। ये २० अगस्त, सन १६१५ ई० को लैंसडौन में भर्ती हुये और अपनी योग्यता के कारण उन्नति करते-करते ये ५।१८ वीं रौयल गढ़वाल राइफ़ल्स में सूबेदार-मेजर के पद तक पहुंच गये।

दक्षिण-पूर्व में युद्ध प्रारम्भ होते ही २।१८ वीं रौयल गढ़वाल राइफ़ल्स मलाया भेजी गई; उसने क्वांटन व जोहोर-बाहरू आदि स्थानों में जापानियों से भिड़न्त की, लेकिन उसके बहुत से सैनिक मारे गये या क़ैद हो गये और केवल लगभग ३०० सैनिक ही वापिस सिंगापुर लौट सके। उसके बाद इनकी बटैलियन ३ जनवरी, सन १६४२ को सिंगापुर पहुंची और तुरन्त युद्ध पर भेज दी गई। उसने मुआर व बकारी में तगड़े मोर्चे लिये; कई अफ़सर व सैनिक मारे गये व क़ैद हुये और केवल लगभग ४०० सैनिक सिंगापुर लौट सके। अभी दोनों गढ़वाली पलटनों को मिलाकर पुनर्संगठित किया ही जा रहा था, कि सिंगापुर पर १५ फरवरी, सन

१६४२ को जापानियों का अधिकार हो गया। इस प्रकार लगभग १८०० गढ़वाली सैनिक विभिन्न स्थानों पर युद्धबन्दी बन गये।

उसके बाद जब पहिली आज़ाद हिन्द फौज का संगठन जनरल मोहनसिंह के नेतृत्व में किया गया, तब गढ़वाली सैनिकों ने प्रायः सर्वप्रथम अपना नाम लिखाया। लेकिन वह प्रयत्न कुछ दिनों बाद असफल हो गया। फिर जुलाई, सन १६४३ में नेताजी के सिंगापुर पहुँचने पर आज़ाद हिन्द फौज का नये सिरे से संगठन किया गया और गढ़वाली सैनिकों व अफ़सरों ने उस में प्रशंसनीय भाग लिया।

२।१८ वीं फौज के कैप्टेन चन्द्रसिंह नेगी को लेफ० कर्नल का पद मिला और उन्हें औफिसर्स ट्रेनिंग स्कूल का कमांडेण्ट नियुक्त किया गया। उसी फौज के कैप्टेन बुद्धिसिंह रावत को भी लेफ० कर्नल बनाया गया; शुरू में वे एक रेजीमेंट के कमांड में रहे और फिर नेताजी ने उन्हें अपना व्यक्तिगत सहकारी (एडजुटैण्ट) नियुक्त किया। उसी फौज के सूबेदार-मेजर देवसिंह दाणू को नेताजी ने अपनी बौडीगार्ड बटैलियन का कमांडर नियुक्त किया।

इनकी बटैलियन के कैप्टेन पितृशरण रतूड़ी लेफ० कर्नल बनाये गये; उन्हें पहिले सुभाष रेजीमेंट की फ़र्स्ट बटैलियन का कमांडर नियुक्त किया गया; उस पद से उन्होंने अराकान मोर्चे में सुन्दर कार्य किया, जिसके कारण उन्हें नेताजी ने अपने हाथों से 'सर्दारे जंग' का पदक प्रदान किया; बाद में वे नेताजी के व्यक्तिगत स्टाफ में नियुक्त हो गये थे। और इन्हें मेजर बनाया गया और सुभाष रेजीमेंट की थर्ड बटैलियन का कमांडर नियुक्त किया गया।

इनकी बटैलियन बर्मा में बढ़ते-बढ़ते आसाम की सीमा तक पहुँच गई; तथा उसे भारतीय भूमि के कुछ अंश पर अधिकार

करने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। लेकिन कोहिमा के समीप अंग्रेज़ों, अमरीकनों व ब्रिटिश भारतीयों की विशाल तथा सुसज्जित सेना के आक्रमणों के कारण उस सारी रेजीमेंट को ही पीछे हटने का आदेश दिया गया। मार्च, सन १९४४ में इनकी रेजीमेंट ने पीछे हटना शुरू किया और दुर्भाग्यवश फिर सारी आज़ाद हिन्द फ़ौज व जापानी फ़ौज के कहीं पर पांव न जम सके। उसे पीछे हटने में इन्होंने बहुत बुद्धिमानी और सतर्कता से काम लिया। फिर भी चूंकि मार्ग में राशन व यातायात की कोई व्यवस्था नहीं थी, अतः कई सैनिक बीमारी और भूख से मर गए। साथ ही प्रायः प्रत्येक स्थान पर शत्रु-पक्ष की गोलाबारी होती रही। कई स्थानों पर जमकर लड़ाइयां भी हुईं। इस प्रकार अप्रैल, सन १९४५ तक पीछे हटते-हटते इनकी बटैलियन का तीन-चौथाई भाग समाप्त हो चुका था।

जब बर्मा की स्थिति ऐसी निराशापूर्ण हो गई, तब नेताजी ने आदेश दिया कि जो लोग अंग्रेज़ों के घेरे से बाहर नहीं जा सकते, वे आत्म-समर्पण कर देवें; लेकिन जो बाहर निकल सकते हैं वे श्याम (थाइलैंड) आकर उन्हें मिलें! अतः अन्य सब सेनाओं ने तो बर्मा में ही आत्म-समर्पण कर दिया; लेकिन इनकी सुभाष रेजीमेंट के बचे हुए सैनिकों को संगठित करके कर्नल ठाकुरसिंह के नायकत्व में 'एक्स' रेजीमेंट तैयार की गई। उस दल ने बर्मा के पूर्वी पहाड़ों की ओर रुख़ किया और अनेकों कष्ट उठाते हुए वह पहिले मौलमीन पहुँचा और फिर २७ मई, सन १९४५ को बैंगकौक पहुँच कर नेताजी के समक्ष उपस्थित हुआ। वह दल तब तक लगभग ३००० मील की पैदल यात्रा कर चुका था। नेताजी ने उन बहादुरों का प्रसन्नता से स्वागत किया; लेकिन दुर्भाग्यवश ये मार्ग में ही 'शहीदे-भारत' हो चुके थे!

(३०) श्री नागेन्द्रदत्त सकलानी

(निधन-तिथि—११ जनवरी, सन १९४८ ई०)

कीर्तिनगर-कांड में शहीद होने वाले श्री नागेन्द्रदत्त सकलानी का जन्म टिहरी-गढ़वाल के सकलाना इलाक़े में हुआ था। साधारण शिक्षा पाने के बाद ये देहरादून गये और वहां कम्यूनिष्ट पार्टी के सम्पर्क में आने के बाद एक अच्छे साम्यवादी कार्यकर्ता बन गये। कुछ समय तक वहां कार्य करने के बाद इन्होंने सन १९४६ से लगभग एक वर्ष तक पौड़ी में रहकर पार्टी का कार्य किया और फिर टिहरी-गढ़वाल के जन-अन्दोलन में कूद पड़े। बन्दोबस्त की ज्यादतियों के विरुद्ध इन्होंने श्री दौलतराम कुगसाल के साथ एक ज़ोरदार आन्दोलन खड़ा कर दिया। अगस्त, सन १९४६ में ये टिहरी में गिरफ़्तार हुए तथा इन्हें लम्बी सज़ा दे दी गई; पर २३ फ़रवरी, सन १९४७ को ये श्री दौलतराम आदि के साथ टिहरी जेल से बिना शर्त छोड़ दिये गए। उस के बाद जन-आन्दोलन में और भी प्रगति आ गई और १० जनवरी, सन १९४८ को जनता ने उत्तेजित होकर कीर्तिनगर पर अधिकार कर लिया। फिर ११ जनवरी को वहां रियासती कर्मचारियों के साथ जो मुठभेड़ हुई, उसमें ये गोलियों के शिकार हुये! इनकी शहादत से जनता पर और भी आग लग गई। इनके शव के साथ हजारों व्यक्तियों का दल खास पट्टी के रास्ते टिहरी को गया और १४ जनवरी, को जनता ने उस पर भी अधिकार कर लिया। आख़िर १५ जनवरी, सन १९४८ को टिहरी नगर के पास भागीरथी व भिलंगना के संगम पर समारोह के साथ इनकी अन्त्येष्टि-क्रिया की गई!!

इसीलिये श्री मनोहरलाल उनियाल 'श्रीमन' ने अपनी पुस्तिका 'मन्दाकिनी' में "बलिदानी नागेन्द्रदत्त सकलानी" शीर्षक कविता के अन्तर्गत ये शब्द लिखे हैं—

हुई गोली सीने के पार !

बता युग के उर का दाग,
लगा दी जन-मन में आग,
कौन था तू काला नाग,
राज-सिंहासन की ओर, बढ़ा आता था फुंकार ?

हुई गोली सीने के पार !

उठी जब तेरी आवाज,
उठा बागी कृषक समाज,
डरा टिहरी का अधिराज,
देख तव मुद्रा भयमान, गये सब अधिकारी हार !

हुई गोली सीने के पार !

जुल्म की जंजीरें तोड़,
मुक्ति के स्वर्णिम दिन छोड़,
मृत्यु से चिर नाता जोड़,
अमर कर तू अपनी आन, गया तन का वसन उतार !

हुई गोली सीने के पार !

और इसीलिये श्री भजनसिंह 'सिंह' ने २२ जनवरी, सन १६४८ की 'कर्मभूमि' में "शहीद नागेन्द्रदत्त सकलानी" शीर्षक अपनी कविता के अन्त में ये पंक्तियां लिखी थीं—

सादर देश समर्पित करके, अपनी भरी जवानी !
रात और दिन रहा घूमता, चिंतित, पिया न पानी !!
देश-प्रेम की वेदी पर, देकर अन्तिम कुर्बानी !
धन्य हो गया आज वही, 'नागेन्द्रदत सकलानी !!

इस प्रकार श्री देव सुमन के अनुपम उत्सर्ग से जिस जन-संग्राम का श्रीगणेश हुआ था, इनके बलिदान से उसे पूर्णाहुति और पूर्ण सफलता प्राप्त हुई ।

(३१) श्री कोतवाल सिंह नेगी

(निधन-तिथि—२३ मार्च, सन १६४८ ई०)

शान्त जन-सेवक और 'पौड़ी के कोतवाल' श्री कोतवालसिंह नेगी का जन्म अक्तूबर, सन १६०० ई० में कांडेई (पौड़ी) में हुआ था। इनके पिता श्री सौण सिंह नेगी एक साधारण स्थिति के व्यक्ति थे। फिर भी मिशन स्कूल, चोपड़ा से हाइ स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उन्होंने डी० ए० वी० कौलेज, कानपुर, से बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की तथा मिशन स्कूल, चोपड़ा में अध्यापक हो गये। लेकिन बाद में मतभेद हो जाने के कारण इन्होंने वहां से त्यागपत्र दे दिया।। उससे पहिले ये एल० टी० परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो चुके थे। अध्यापकी से विदा लेने के वाद इन्होंने सन १६२६ में एल-एल० बी० की परीक्षा उत्तीर्ण की और पौड़ी में वकालत करने लगे।

इन्हें विद्यार्थी-जीवन से ही समाज-सेवा की लगन थी। कानपुर के प्रवास में ये वहां के 'गढ़वाल डिबेटिंग क्लब' के मंत्री रहे तथा कुछ समय तक 'हिलमैन' पत्रिका का सम्पादन भी इन्होंने किया। उन्हीं दिनों सन १६२१ में 'गढ़वाल नवयुवक सम्मेलन' की स्थापना हुई और ये उसके उप-प्रधान निर्वाचित हुये। इन्होंने अकाल-सहायता का भी प्रशंसनीय कार्य किया; उन दिनों सस्ते भाव पर अनाज बेचने की दुकानें खोली गई थीं; इनकी देखभाल में जो दूकानें चालू थीं, उनमें कुल ३५००) तक का अनाज प्रतिदिन इन्होंने बिकवाया!

अध्यापक-जीवन में भी इन्होंने विद्यार्थियों के चरित्र-सुधार तथा उनमें सेवा-भावना भरने का प्रयत्न किया। फिर मिशन स्कूल से मतभेद हो जाने के बाद इन्होंने डी० ए० वी० हाइ स्कूल, पौड़ी की स्थापना में सर्वप्रमुख भाग लिया। उन दिनों इन्होंने अपना

पूरा समय और शक्ति उस पर लगा दी थी; एक प्रकार से अपना जीवन ही इन्होंने उसके लिये समर्पित कर दिया था। मुख्यतया इन्हीं के प्रयत्नों से उस स्कूल के दो भवनों का निर्माण हुआ तथा डी० ए० वी० कौलेज ट्रष्ट की संरक्षकता प्राप्त हुई। प्रारम्भ से प्रायः अन्त तक ये उस स्कूल के व्यवस्थापक रहे।

शिक्षा-प्रसार के इस कार्य के अतिरिक्त ये कांग्रेस के एक लगन-शील कार्यकर्ता थे। सन १९३० के सत्याग्रह-आन्दोलन में पौड़ी के 'इबटसन-कांड' में इन्हें अन्य महानुभावों के साथ छै मास का कारावास मिला; फिर सन १९४१ के व्यक्तिगत सत्याग्रह-आन्दोलन में उन्हें एक वर्ष का कारावास और ५०) जुर्माने का दण्ड प्राप्त हुआ। फिर अगस्त, १९४२ में ये नजरबन्द किये गये और सन १९४३ के अन्त में मुक्त हुए। उस जेल-प्रवास में इन्हें पुत्र-शोक उठाना पड़ा और स्वास्थ्य भी इनका बिगड़ गया। फिर भी इन्होंने ज़िला कांग्रेस कमेटी का मंत्री-पद स्वीकार किया और उसे परिश्रम के साथ निभाया। ये कुछ समय तक प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य भी रहे।

उपरोक्त दो मुख्य कार्यों के अतिरिक्त गढ़वाल ज़िले की अनेक गति-विधियों में इनका हाथ था। क्षत्रिय बालकों में शिक्षा-प्रसार करने का इन्होंने ज़ोरदार प्रयत्न किया; इसी उद्देश्य से कई वर्षों तक इन्होंने पाक्षिक 'क्षत्रियवीर' का सम्पादन भी किया। उन दिनों उस पत्र का स्तर सभी दृष्टियों से इन्होंने उठा दिया था। सन १९३५ से मृत्यु-पर्यन्त ये ज़िला बोर्ड के सदस्य रहे और कुछ समय तक उसके सीनियर वायस-चेयरमैन पद पर भी कार्य किया। ज़िला ग्राम-सुधार एसोसियेशन के भी ये सन १९३८ से सन १९४० तक सदस्य रहे और उसके वायस-चेयरमैन भी निर्वाचित हो गये थे।

पौड़ी के सार्वजनिक जीवन के तो ये आधार-स्तम्भ थे। दरी

व कुर्सियां उठाने से लेकर सभाओं का सभापतित्व करने तक ये अपना उत्तरदायित्व समझते थे। पौड़ी-क्षेत्र की ओर से ही ये ज़िला बोर्ड के सदस्य थे। साथ ही पौड़ी के पंचायती जंगल के सरपंच भी थे; उस पद से एक बार तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर मि० कौगहिल के साथ इनकी ज़ोरदार भिड़न्त हुई थी। रामलीला का ये प्रबन्ध ही नहीं करते थे; बल्कि स्वयं 'प्रौम्पटिंग' भी किया करते थे और कभी-कभी कोई 'पार्ट' भी खेला करते थे। एक शब्द में ये पौड़ी के 'बहुमुखी स्वयंसेवक' थे। इनकी इसी सेवा-भावना के कारण एक बार स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने इन्हें 'पौड़ी के कोतवाल' की उपयुक्त उपाधि प्रदान की थी!

आख़िरकार २३ मार्च, सन १९४८ ई० में इन्होंने इस मृत्यु-लोक के रंगमंच से विदाई ली! इनके दो भाई जीवित हैं। इनके बड़े पुत्र श्री बसन्तसिंह बी० ए० कक्षा में पढ़ रहे हैं, और छोटे पुत्र श्री मनोहर सिंह अभी छोटी कक्षाओं के विद्यार्थी हैं। इनके एक भतीजे श्री मनोहर सिंह नेगी, बी० कौम०, इनकमटैक्स के मुक़दमों की पैरवी करते हैं तथा सुलझे हुये विचारों के युवक हैं।

---

(३२) श्री चक्रधर जुयाल

(निधन-तिथि—२४ दिसम्बर, सन १९४८ ई०)

तेजस्वी राज-कर्मचारी तथा दीवान श्री चक्रधर जुयाल का जन्म सन १८७६ ई० में सितोनस्यूं पट्टी के झांझड़ ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री गजाधर [illegible] एक ज्योतिषी तथा कर्मकांडी ब्राह्मण थे।

प्रारम्भिक शिक्षा मिशन स्कूल चोपड़ा में पाने के बाद ये बरेली कौलेज में प्रविष्ट हुये और वहीं से इन्होंने इंट्रेंस की परीक्षा उत्तीर्ण की और सारे प्रान्त में चौथा नम्बर प्राप्त किया। फिर ये

म्योर सेंट्रल कौलेज, इलाहाबाद में प्रविष्ट हो गये और वहीं से ये बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुये।

इस प्रकार शिक्षा से सुसम्पन्न होने के बाद ये अल्मोड़ा में नायब तहसीलदार नियुक्त किये गये; कुछ समय बाद ये तहसील-दारी में पदोन्नत किये गये; और फौजदारी मामलों की तहक़ीक़ात में विशेष प्रतिभा दिखाने के बाद सन १९०८ में इन्हें पुलिस विभाग में डिप्टी सुपरिनटेण्डेण्ट बनाया गया। उस पद पर नियुक्त होने वाले ये सर्वप्रथम गढ़वाली थे। उस पद का कार्य इन्होंने बड़ी योग्यता से निबाहा। इन्होंने कई डाकुओं को गिरफ्तार किया। उन प्रशंसनीय कार्यों के कारण इन्हें 'सम्मान का खड्ग' (सोर्ड औफ़ औनर) तथा 'राय बहादुर' की पदवी प्रदान की गई। उसके कुछ दिनों बाद इन्हें सुपरिनटेण्डेण्ट औफ़ पुलिस का पद भी मिल गया।

उसके बाद ही इन्हें टिहरी-दर्बार ने बुला लिया। ये सन १९२५ से सन १९२९ ई० तक होम मेम्बर के पद पर कार्य करते रहे और फिर महाराज ने इन्हें अपना दीवान नियुक्त किया। राज्य में ये लगभग १४ वर्ष तक रहे और १ जुलाई, सन १९३९ ई० को इन्होंने अन्तिम रूप से अवकाश ग्रहण किया।

अपनी पेंशन का प्रायः सारा समय इन्होंने अपने गांव में ही बिताया और अन्य अनेक उच्च गढ़वाली अफसरों की तरह 'रिटायर' होने पर इन्होंने प्रवास का आश्रय नहीं लिया। पर सन १९४८ में ये सख्त बीमार पड़े। इनके पुत्र इन्हें देहरादून ज़िले में स्थित अपने ढकरानी गांव में ले गये और वहां इनका इलाज कराया; लेकिन २४ दिसम्बर, सन १९४८ ई० को चोहड़पुर के अस्पताल में इनका देहावसान हो गया!

इन्हें अपने गढ़वालीपन का गौरव था और गढ़वाल के लिये इन्हें एक लगन थी; यहां तक कि विद्यार्थी-जीवन और सर्कारी

नौकरी में भी ये यहां की उन्नति के बारे में सोचा करते थे। इसीलिये अक्तूबर, सन १९१० में "गढ़वाल भ्रातृ मंडल" का जो अधिवेशन श्रीनगर में हुआ था, ये उसके सभापति चुने गये थे।

फिर जब ये टिहरी-गढ़वाल-राज्य के दीवान नियुक्त हुये, तब इन्होंने मोटर-सड़क का निर्माण कराके अपनी सफलता सिद्ध की। इन्हें प्रारम्भ से ही इस बारे में लगन थी। एक बार किसी ज़माने में गढ़वाल के डिप्टी-कमिश्नर और बाद में संयुक्तप्रान्तीय सर्कार के अर्थ-सदस्य (फाइनैन्स मेम्बर) सर जे० एम० क्ले के सामने नैनीताल में जब एक बार इन्होंने यह मांग रखी, तब उन साहब बहादुर ने फ़र्माया था कि—"सारे गढ़वाल को बेच कर भी सड़क का ख़र्चा नहीं निकल पायेगा !" इस पर इन्होंने मोटर-सड़क निकालने की भीष्म-प्रतिज्ञा की। इन्होंने महाराज को समझा-बुझा कर तैयार कर लिया और पहिले मुकीकीरेती से देवप्रयाग तक और फिर कीर्तिनगर तक सड़क बनवाई। उस सड़क को बनवाने में इन्होंने गढ़वाल के दोनों अंगों की भलाई अपने सामने रखी थी। जब देवप्रयाग तक सड़क बन गई तब इन्होंने उसके उद्-घाटन-संस्कार के दिन सर जे० एम० क्ले को भी पधारने का निमंत्रण दिया, लेकिन तब तक वे पेंशन प्राप्त करके विलायत जाने के लिए बम्बई तक पहुँच चुके थे !

इनके छोटे भाई स्व० श्री पृथ्वीधर जुयाल कई वर्षों तक ज़िला बोर्ड के सदस्य रहे। दूसरे छोटे भाई श्री चन्द्रधर जुयाल ज़िला मजिस्ट्रेट तक रह कर अब देहरादून में पेन्शन-जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सब से छोटे भाई श्री मुरलीधर जुयाल जंगलात-विभाग से पेन्शन पाकर अब लैंसडौन में बस गये हैं। इनके बड़े पुत्र श्री विद्याधर जुयाल भारतीय फौज में ब्रिगेडियर हैं; तथा इनके छोटे पुत्र श्री नरेन्द्रधर जुयाल फौजी इंजीनियरिंग विभाग में मेजर हैं और अच्छे पर्वतारोही हैं।

(३३) श्री छवाण सिंह नेगी

(निधन-तिथि—११ जुलाई, सन १९४९ ई०)

कर्मठ और निर्भय जन-सेवक तथा व्यवसाय-कुशल श्री छवाण सिंह नेगी का जन्म उदयपुर वल्ला पट्टी के कोलसी ग्राम में सन १८९९ ई० में हुआ था। इनके पिता श्री देवसिंह नेगी पलटन में हवलदार थे।

अपने परिवार की साधारण स्थिति के कारण इन्होंने कक्षा छै तक ही शिक्षा पाई; लेकिन अपने अध्यवसाय से बाद में इन्होंने यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उसके बाद ही इनका ध्यान स्वतन्त्र व्यवसाय की तरफ़ गया और इन्होंने जंगलात के बड़े ठेकेदारों से छोटे-छोटे ठेके लेने शुरू किये। उन ठेकों को लगभग ये सहकारी ढंग पर चलाया करते थे; अर्थात इनके ग्राम-वासी इनके साथ मेहनत-मज़दूरी करते थे और जो कुछ प्राप्त होता था उसे सब लोग बांट लेते थे। बाद में इन्होंने अपने गांव में ही दूकान खोली और उसे सफलता के साथ चलाया। उस सफलता से उत्साहित होकर पर्गना गंगासलाण की व्यापारिक मंडी लालढांग में इन्होंने अपनी मुख्य दूकान खोली; साथ ही इन्होंने इन्जन द्वारा कुटाई, पिसाई व तेल का भी काम शुरू किया। कुछ समय बाद इन्होंने कनखल में दूध का व्यापार भी प्रारम्भ किया। इस प्रकार अपने अध्यवसाय तथा व्यवहार-कुशलता के द्वारा इन्होंने व्यापार में सफलता पाई और सामान्य स्थिति से उठकर अपनी आर्थिक स्थिति को उन्नत किया।

प्रारम्भ से ही इन्हें समाज-सेवा की लगन थी। सन १९१६-१७ में जब स्वामी श्रद्धानन्द ने अकाल-सहायता-कार्य के सिलसिले में गढ़वाल का भ्रमण किया था, तब ये उनसे बहुत प्रभावित हुये और आर्यसमाज में प्रविष्ट हो गए। गुरुकुल कांगड़ी की संस्था

इनके समीप ही थी; अतः इन्हें अपने जीवन को सदाचार में ढालने का सुअवसर मिला। फिर अपने इलाक़े में इन्होंने दो मुख्य कार्य किये—(१) उत्साहपूर्वक चन्दा संग्रह करके इन्होंने जाखणीखाल में पानी की व्यवस्था कराई; वह पानी लगभग दो मील की दूरी से नलों द्वारा लाया गया था। (२) श्री जगमोहन सिंह नेगी (वर्तमान उपमंत्री) को इन्होंने सन १९२८ में 'अष्ट-ग्राम-भ्रातृ-मण्डल' की स्थापना व संचालन में सर्वाधिक सहयोग दिया; उस मण्डल का उद्देश्य सम्बन्धित आठ गांवों में ग्राम-सुधार के काम करना था; उसके कारण सारे इलाके में एक नई जागृति पैदा हुई।

उसके बाद ही सन १९३० का सत्याग्रह-आंदोलन प्रारम्भ हो गया और ये उत्साह के साथ उसमें कूद पड़े। इनके अधिनायकत्व में ताल की शराब-भट्टी पर सफल पिकेटिंग किया गया और फलस्वरूप सारे जिले में उत्साह की एक लहर दौड़ गई। उस सिलसिले में श्री जगमोहन सिंह नेगी आदि के साथ ये यमकेश्वर में गिरफ्तार किये गये और इन्हें छै मास का कारावास दिया गया। उसके बाद तो ये कांग्रेस से इस प्रकार सम्बद्ध हो गये कि वह इनके जीवन की प्राणवायु बन गई थी! विशेषकर सन १९४२ के तूफ़ानी दिनों में तो इन्होंने कुछ कार्यकर्ताओं का संगठन करके लैंसडौन की अदालतों और खज़ाने पर क़ब्ज़ा कर लेने की योजना तैयार कर ली थी; लेकिन किसी प्रकार भेद खुल जाने के कारण इन्हें फ़रार होना पड़ा और आख़िर दिल्ली में ये गिरफ्तार हुये। इन्हें लम्बी सज़ा मिली और सन १९४५ में ये मुक्त हुये। उसके बाद फिर ये कांग्रेस-संगठन में जुट गये। सितम्बर, सन १९४८ में ये ज़िला कांग्रेस कमेटी के प्रधान निर्वाचित हुये और मृत्यु के समय तक उसी पद पर थे।

आर्यसमाज में इनके दीक्षित होने का उल्लेख पहले किया जा चुका है; इसी कारण इन्हें समाज-सुधार की भी लगन थी और शिल्पकारों के ये प्रबल सहायक थे। इसीलिये जब डोला-पालकी

का प्रश्न उठ खड़ा हुआ, तब इन्होंने अपने इलाक़े की शिल्पकार-बारातों को अपना प्रबल समर्थन प्रदान किया। एक बारात के कारण तो इनकी दूकानों का वहिष्कार कर दिया गया था और इन्हें बड़ी आर्थिक हानि उठानी पड़ी थी। एक अन्य बारात में, उत्तेजित बिठ भाइयों ने पत्थर तक फेंके; लेकिन ये ज़रा भी विचलित नहीं हुये; और धीरे-धीरे सवर्ण जनता ने अपने शिल्पकार भाइयों के उस अधिकार को स्वीकार कर लिया।

वैसे तो इन्होंने अनेक विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता दी, लेकिन भगड़ू (भृगुखाल) में 'श्रद्धानन्द विद्यालय' की स्थापना इस दिशा में इनका मुख्य कार्य है। इस स्थान पर पहिले सन १६१६ में एक पाठशाला स्थापित हुई थी; लेकिन वह कुछ ही वर्ष चलकर बन्द हो गई। मुख्यतया इन्हीं के प्रयत्नों से सन १६३८ में उसका पुनर्जन्म हुआ; पर सन १६४२ में राजनैतिक झंझावात के कारण वह फिर बन्द हो गई। तदुपरांत सन १६४७ में दुबारा उपरोक्त नाम से उसकी स्थापना की गई। इस बार उसे पहिले से अधिक सहयोग मिला और अब उसे हाइस्कूल तक की मान्यता प्राप्त हो चुकी है तथा मुख्य पाठ-भवन का प्रायः निर्माण हो चुका है।

तथ्य यह है कि ये एक दुस्साहसी और निर्भय व्यक्ति थे। इनके विरोधी इनसे भयभीत रहते थे, लेकिन इनकी सत्यवादिता का लोहा मानते थे। अपने इलाके की जनता पर इनका गहरा प्रभाव था, इसलिये ज़िला बोर्ड के निर्वाचित सदस्य के रूप में इन्होंने सन १६३६ से सन १६४८ तक कार्य किया। इनका दर्वाज़ा सब साथी कार्यकर्ताओं के लिए उन्मुक्त रहता था। कई बार ज़िला कांग्रेस कमेटी की बैठकों के अवसरों पर इन्होंने सैकड़ों कार्यकर्ताओं के भोजन व निवास की सहर्ष व्यवस्था की। खादी की कताई-बुनाई के पीछे इन्होंने अपने हज़ारों रूपये बर्बाद किये।

अभी ये इस प्रकार की बहुमुखी जन-सेवा कर ही रहे थे कि

ये लालढाँग में बीमार पड़े; इन्हें इलाज के लिए कनखल ले जाया गया; लेकिन केवल छै ही दिन बीमार रह कर ११ जुलाई, सन १६४६ ई० को वहां इनका देहावसान हो गया। इनकी पत्नी का इनके जेल-प्रवास में ही देहान्त हो चुका था। इनके एकमात्र पुत्र श्री वीरेन्द्र सिंह नेगी दसवीं श्रेणी के छात्र हैं। इनके बड़े भाई श्री जीतसिंह फौरेस्ट-गार्ड थे; उनके पुत्र श्री सुरेन्द्र सिंह घर की देखभाल करते हैं तथा इनके चचेरे भाई श्री बालीसिंह नेगी परिश्रम के साथ इनके कारोबार को चला रहे हैं।

(३४) श्री दरबान सिंह नेगी

(निधन-तिथि—२४ जून, सन १६५० ई०)

जागे नि सुद्दे गढ़ तू र तू भी,
सुद्दे नि बाकी गढ़ की सरस्वती।
सुद्दे नि औन्यागढ़ मां कब्यों तुम,
भी० सी० हि ह्वेगे दरबान सिंह ज ॥
गढ़ का सुछत्र्यों खुश हवा, गएयां गयैं,
सब क्षत्रियों मां तुम ही शिरोमणी।
अलभ्य भी० सी० पदवी स्वयं जब,
सम्राट देंदो दरबान सिंह क ॥
प्रफुल्ल होवा गढ़ की सत्यों तुम,
सब जगत करदो तुम कू नमोनम।
ज्यू की कुख्यौं मां 'गढ़वाल रैफल',
जन्मे र शूरो दरबान सिंह यो ॥
तेरा जु भाई गढ़ का पशू जना,
शिमला मसूरी मिंज बोझ ढ्वै रहेन।
फुलूसि हल्का बणिग्येन आज वो,
ख्वै कैक ख्वै कै दरबान ख्वैं करी ॥

जिन श्री दरवान सिंह नेगी के प्रथम विश्व-महायुद्ध में 'विक्टोरिया क्रौस' पाने पर सुकवि श्री चन्द्रमोहन रतूड़ी ने उपरोक्त पद रचे थे, उनका जन्म नवम्बर, सन १८८७ ई० में पट्टी कड़ाकोट के कफाड़तीर गांव में हुआ था। इन्होंने बहुत ही साधारण शिक्षा पाई और लैंसडौन जाकर फ़ौज में भर्ती हो गये। प्रथम विश्व-महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय तक ये नायक के पद पर पहुंच गये थे और अपनी "१—३९ वीं गढ़वाल राइफ़ल्स" के साथ ये शीघ्र ही फ्रांस की रणभूमि में पहुंच गये।

वहाँ फ़ेस्टुवर्ट के समीप खाइयों के भीतर २५ दिन तक लगातार परिश्रम करने के पश्चात २३ नवम्बर, सन १९१४ को इनकी टोली छुट्टी प्राप्त होने के बाद आराम करने के लिए अपने डेरे को लौट ही रही थी कि ये फिर बुला लिये गये। जर्मनी की एक फ़ौज ने अंग्रेजों की एक महत्वपूर्ण खाई के कुछ भाग पर क़ब्ज़ा कर लिया था और उसे वहां से खदेड़ने की सब चेष्टायें विफल हो गई थीं; इसीलिये इनकी दो टोलियां वापिस बुलाई गई। पहिले इनकी पहिली टोली ने धावा किया और दूसरी टोली सहायता के लिये बाद में गई; उसमें ये स्वयं थे। उस आक्रमण के समय संगीनों से वार करते हुए ये तथा इनके साथी उन टेढ़ी-मेढ़ी खाइयों के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में, दूसरे से तीसरे में, तीसरे से चौथे में, इसी प्रकार अन्त तक बढ़ते ही चले गये और शत्रुओं की लाशें ज़मीन पर लेटती रहीं। जर्मनों के बमों की बौछार से घायल हो जाने पर भी ये आगे ही बढ़ते रहे। आधी रात के बाद लगभग चार बजे वह क़रीब ३०० गज़ लम्बी खाई जर्मनों के चंगुल से निकाल ली गई। उस समय तक अनेक जर्मन सैनिक मारे जा चुके थे, और १०५ क़ैद कर लिये गये; तथा तीन तोपें, अनेक बन्दूक़ें तथा बहुत सी युद्ध-सामग्री भी हस्तगत हुई। यह इन्हीं की वीरता और पराक्रम का परिणाम था। यदि ये उतनी निर्भयता से अपनी

टोली के आगे-आगे न बढ़ते, तो अंग्रेजी सेना को भारी हानि उठानी पड़ती तथा वह खाई तो शत्रु के ही हाथ में रहती।

उसी अनुपम असाधारण वीरता के लिए इन्हें ब्रिटिश साम्राज्य का सर्वोच्च वी० सी० (विक्टोरिया कौस) पदक प्रदान किया गया। उस प्रथम विश्व-महायुद्ध में वह भारतीयों के लिए भी सम्भाव्य कर दिया गया था। उस पदक को प्राप्त करने वाले उस महायुद्ध में केवल दस भारतीय थे। उक्त धावे के ग्यारहवें दिन इन्हें उस पदक को देने की घोषणा की गई और इन्हें हवल्दार बना दिया गया। उस महायुद्ध में ही कुछ समय बाद फिर इन्हें जमादार बनाया गया। बाद में स्वयं सम्राट ज्यौर्ज पंचम ने अपने हाथों से लन्दन में इन्हें वह पदक पहिनाया। उस घटना से भारतीय सेनाओं, और विशेषकर गढ़वाली सैनिकों, में एक नया उत्साह पैदा हो गया; तथा गढ़वाल में भी आनन्द और गर्व की एक लहर फैल गई।

प्रथम महायुद्ध से लौटने के बाद भी ये फ़ौजी सेवा में रहे और सन १९२३ में पेंशन पर घर आ गये। तब तक इन्हें सूबेदार का पद प्राप्त हो चुका था। पेंशन में आ जाने के बाद इन्होंने हर भले कार्य में सहयोग दिया। सन १९३१ से सन १९३५ तक ये गढ़वाल ज़िला बोर्ड के निर्वाचित सदस्य रहे। ज़िला सोल्जार्स बोर्ड के भी ये एक सम्माननीय सदस्य थे। इन्होंने कई होनहार व निर्धन छात्रों को स्वयं आर्थिक सहायता दी तथा अन्यत्र से दिलाई। इनकी सहायता से कुछ गढ़वाली युवकों को अच्छी नौकरियां प्राप्त हुईं। सन १९४६ में इन्होंने कतिपय अन्य व्यक्तियों की सहायता से पैतौली स्थान पर एक जूनियर हाइ स्कूल की स्थापना की तथा उसका भवन-निर्माण कराने तथा उसे आर्थिक सहायता दिलाने में अपनी सारी शक्ति व समय लगाया। अप्रैल, सन १९४८ में मैंने इन्हें कर्णप्रयाग में देखा था; उस वृद्धावस्था में भी पीठ पर 'हैवर-सैक' कसे हुए ये जवानों से भी अधिक फुर्ती के साथ अपने विद्या-

लय को सहायता दिलाने के लिये दौड़ धूप कर रहे थे !

आखिर ४-५ दिनों के ही साधारण ज्वर के बाद लगभग ७० वर्ष की परिपक्वावस्था में इनका २४ जून, सन १६५० को देहावसान होगया। इनकी पत्नी जीवित हैं और तीन पुत्र हैं; उनमें सबसे बड़े श्री पृथ्वी सिंह नेगी एम्पलवाइमेंट एक्सचेंज कानपुर में सुपरिन-टेण्डेण्ट हैं।

---

(३५) श्री भोलादत्त काला

(निधन-तिथि—१८ जनवरी, सन १९५२ ई०)

सफल चिकित्सक तथा संगीतज्ञ श्री भोलादत्त काला का जन्म सन १८७६ ई० में पट्टी कट्टूलस्यूं के सुमाड़ी गांव में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री भजराम काला था। घर पर प्रारम्भिक शिक्षा पाने के बाद ये देहरादून के 'इंगलिश ट्रेनिंग स्कूल' में प्रविष्ट हो गये। शिक्षा समाप्त करके कुछ समय इन्होंने वहीं 'इंगलिश मेडिसिन फ़ार्मेसी' में कार्य किया; फिर अपनी योग्यता से सर्कारी छात्रवृत्ति पाकर ये मेडीकल स्कूल आगरा में प्रविष्ट हुए और नामवरी के साथ एल० एम० पी० परीक्षा में उत्तीर्ण हुये।

प्रारम्भ में कुछ समय तक कालाढुंगी (ज़िला नैनीताल) में कार्य करने के बाद इनकी बदली पौड़ी को हो गई; वहां ये काफ़ी लम्बे समय तक रहे। पौड़ी के बाद इन्हें कुछ समय तक ऊखीमठ के अस्पताल में कार्य करना पड़ा। वहां से इनका श्रीनगर को स्थानान्तरण हुआ; वहां इन्हें पदोन्नति मिली और ये 'पी० एम० एस०' में ले लिये गये। वहीं से सन १६३५ ई० में इन्होंने अवकाश ग्रहण किया।

ये एक अत्यन्त सफल चिकित्सक थे। ये विज्ञान की नवीनतम खोजों से परिचित रहते थे। शल्य-चिकित्सा में इनकी अच्छी

गति थी। इसीलिये सिविल-सर्जनों के पौड़ी में रहते हुए भी तत्कालीन अंग्रेज़ डिप्टी-कमिश्नर व अन्य अफ़सर हमेशा इन्हीं से इलाज कराते थे। उन्हीं के ज़ोर देने पर इनका तबादला गढ़वाल से बाहर को नहीं हुआ और इन्हें अनेक वर्षों तक पौड़ी और श्रीनगर में रहने का मौक़ा मिला। प्रथम महायुद्ध के बाद इन्फ़्ल्यूएंज़ा की बीमारी चारों तरफ फैली; उन दिनों इन्होंने रात-दिन कार्य करके हज़ारों रोगियों का इलाज किया ; उसी प्रशंसनीय सेवा के कारण अँग्रेज़ी सरकार ने इन्हें 'राय साहब' की उपाधि प्रदान की और ५००) का पुरष्कार भी दिया।

ये एक साहित्य व कला-प्रेमी व्यक्ति थे। संस्कृत की साहित्यिक व धार्मिक पुस्तकों का इन्होंने विस्तृत अध्ययन किया था। गढ़वाल के इतिहास पर इन्होंने बहुत सी खोजपूर्ण सामग्री एकत्र की थी। संगीत का इन्हें पूर्ण शास्त्रीय ज्ञान था। जहां-जहां ये रहे, इन्होंने संगीत का प्रसार किया। इन्होंने संगीत-सम्बन्धी पुस्तकों का एक बड़ा संग्रह एकत्र किया तथा स्वयं अनेक गानों की स्वर-लिपि-रचना की। इनकी अनेक स्वर-लिपियां 'सुधा', 'माधुरी' व 'सरस्वती' में समय-समय पर प्रकाशित हुई थीं। पौड़ी के कार्य-काल में इन्हीं के प्रयत्नों से रामलीला का प्रारम्भ हुआ। उन दिनों श्री पूर्णचन्द तिवाड़ी, स्कूलों के डिप्टी इन्सपेक्टर थे तथा अच्छे संगीत-प्रेमी थे। इन दोनों महानुभावों के सहयोग से पौड़ी में प्रति वर्ष शानदार उच्च कोटि की रामलीलायें हुआ करती थीं। उसके साथ ही सुन्दर सुरुचिपूर्ण नाटकों का भी अभिनय किया जाता था और उत्कृष्ट संगीत की धारा प्रवाहित होती थी। उन दिनों इसी कारण वहां साहित्य व कला का अच्छा वातावरण पैदा हो गया था।

ये एक मिलनसार और वाकपटु व्यक्ति थे। इनके इसी गुण के कारण गढ़वाल के प्रायः प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य में इनकी

पूछ होती थी। इसीलिये इन्हें वार मेमोरियल कमेटी, सदाव्रत फण्ड कमेटी, अकाल सहायता कमेटी तथा ग्राम सुधार एसोसियेशन आदि संस्थाओं में नियुक्त किया गया था। स्वयं अपने गांव व अपनी जाति के ये सर्वाधिक हितैषी थे। १८ जनवरी, सन १९५२ को इनका गोलोक-वास हुआ। इनके बड़े पुत्र श्री गिरीशचन्द्र काला पौड़ी के बन्दोबस्त दफ्तर में लिपिक हैं और छोटे पुत्र श्री सतीशचन्द्र काला, एम० ए०, प्रयाग म्यूनिसिपल म्यूज़ियम के 'क्यूरेटर' हैं; उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं।

---

(३६) श्री जयानन्द भारतीय

(निधन-तिथि—९ नवम्बर, सन १९५२ ई०)

निर्भय समाज-सुधारक तथा कर्मठ राष्ट्रीय कार्यकर्ता श्री जयानन्द भारतीय का जन्म साबली पट्टी के अरंकडई ग्राम में १७ अक्तूबर, सन १८८१ ई० को हुआ था। इनके पिता श्री छविलाल खेती-बाड़ी के साथ-साथ 'जागरी' का कार्य करके भी किसी प्रकार अपना जीवन-निर्वाह करते थे। ऐसे ग़रीब शिल्पकार परिवार में जन्म होने के कारण इन्हें बहुत ही साधारण शिक्षा मिल पाई, लेकिन बाद में अपने अध्यवसाय से इन्होंने यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

अपना पैतृक धन्दा होने के कारण शुरू में इन्होंने भी 'जागरी' के व्यवसाय से निर्वाह करना प्रारम्भ किया। लेकिन उस व्यवसाय से भी ठीक निर्वाह न होते देखकर इन्हें नैनीताल व देहरादून आदि पर्वतीय नगरों में अंग्रेज़ साहबों के साथ नौकरी करनी पड़ी। सन १९११ में, जब इनका प्रवास मसूरी में था, इनके जीवन ने क्रांतिकारी पलटा खाया। वहां इन्हें आर्यसमाज की तरफ़ आकर्षण पैदा हुआ और 'सत्यार्थ-प्रकाश' पढ़ने का मौक़ा

मिला। उस घटना ने इनकी आंखें खोल दीं। ये शीघ्र ही गुरुकुल कांगड़ी जाकर स्वामी श्रद्धानन्द से मिले और उनके हाथों से यज्ञोपवीत धारण करके आर्यसमाज की शिक्षाओं का गहरा अध्ययन किया। उन्हीं दिनों इन्होंने एक जिज्ञासु के रूप में श्री बद्रीनाथ धाम की यात्रा भी की। अभी ये गढ़वाल में आर्य-समाज के प्रचार की तैयारी कर ही रहे थे कि प्रथम विश्व-महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। उस अवसर पर आर्थिक स्थिति सुधारने की दृष्टि से ये फौज में भर्ती हो गए और भारत से बाहर जाकर कई देशों में कार्य किया। वहां के जीवन का अध्ययन करके भी इन पर प्रभाव पड़ा और सन १९२० में ये भारत वापिस आकर फौज की नौकरी से मुक्त हो गये।

अब इन्होंने जम कर आर्यसमाज का प्रचार प्रारम्भ किया और लगन के साथ उसमें जुट गये। कुछ समय तक तो ये 'आर्य-पथिक' के नाम से सारे ज़िले का भ्रमण करते रहे और स्थान-स्थान पर आर्यसमाजों की स्थापना की। विशेषकर पिछड़े हुये वर्ग में एक अभूतपूर्व क्रांति पैदा हो गई। इनके प्रचार-कार्य से शिल्पकारों ने अपनी तरह-तरह की कुरीतियां छोड़ना तथा अपने बच्चों को शिक्षा देना प्रारम्भ कर दिया। लेकिन उस जागृति के कारण कट्टरपंथी उच्चवर्णी लोगों में विरोध भाव पैदा हो गया। उन दिनों इन्हें गालियां मिलीं, पत्थर मिले और लाठियां मिलीं; लेकिन एक सच्चे सत्याग्रही की तरह इन्होंने धैर्य के साथ उन्हें सहन किया और एक बार भी किसी आक्रमणकर्ता के विरुद्ध क़ानूनी कार्यवाही नहीं की। इनके उस धैर्य तथा तपस्या से पूर्ण कार्य से धीरे-धीरे सवर्ण समाज में भी हृदय-परिवर्तन दिखाई देने लगा।

उपरोक्त धार्मिक प्रचार के साथ-साथ इन्होंने डोला-पालकी आन्दोलन को जन्म दिया। इन्हीं की प्रेरणा से सन १९२४ ई०

में डोला-पाल्की के साथ शिल्पकारों की सब से पहिली बारात संगठित की गई; वह दुगड्डा के पास वीरगांव से पट्टी बिजलोट के कांडी ग्राम को गई; वापिस आते समय सींधीखाल में वह बारात लूट ली गई तथा मार-पीट पड़ी। उस अवसर पर ये स्वयं उपस्थित थे। उसके बाद और भी अनेक बारातें व्यवस्थित रूप से निकाली गईं; कुछ निर्विघ्न सम्पन्न हुईं, लेकिन कुछ–कुछ में तो हफ़्तों तक बीच में रुके रहना पड़ा, और अधिकांश में लूट-पाट हुई; लेकिन एक ओर हाइकोर्ट ने इस नागरिक अधिकार को पूर्णतया वैध क़रार दिया, तो दूसरी ओर धीरे-धीरे सवर्ण जनता में भी उदारता की भावना पैदा हुई; और सन १९४१ में १७ वर्ष के अनवरत जन-आन्दोलन के बाद उसके प्रमुख नेताओं ने उस वर्ष २३ फ़र्वरी को लैंसडौन के सर्व-दल सम्मेलन में डोला-पाल्की के इस नागरिक अधिकार को स्वीकार कर लिया। उसके बाद भी कभी-कभी कुछ अड़चन आती रही; लेकिन फिर धीरे-धीरे वातावरण शांत हो गया। उसके बाद ही उत्तरप्रदेश की कांग्रेसी सर्कार द्वारा सामाजिक असमर्थता निवारक क़ानून बन जाने से स्थिति और भी सुधर गई।

केवल आर्यसमाज के ही द्वारा पददलित वर्ग का सुधार सम्भव न समझकर सन १९२८ में इनके प्रयत्नों से 'गढ़वाल सर्व-दलित बोर्ड' की स्थापना हुई और ये उसके प्रधान निर्वाचित हुये। उस बोर्ड ने शिल्पकारों को भूमि दिलाने का आन्दोलन शुरू किया और कुछ वर्षों में कुछ सफलता भी प्राप्त की। उस ने भारत-सर्कार से भी लिख-पढ़ की और शिल्पकारों को फ़ौज में भर्ती कराने का अनुरोध किया। साथ ही उसने शिल्पकार छात्रों को छात्रवृत्तियां तथा अन्य सुविधायें दिलाने की भी कोशिश की।

इन्होंने केवल धार्मिक व सामाजिक सुधार तक ही अपना कार्य-क्षेत्र सीमित नहीं रखा। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में भी ये छै बार

जेल गये तथा हमेशा प्रत्येक आंदोलन में आगे रहे। इस सम्बन्ध में इनका एक कार्य सदा स्मरणीय रहेगा। सन् १६३२ में जब दुबारा सत्याग्रह-आंदोलन प्रारम्भ हुआ, तब कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी के बाद सारे प्रदेश में 'क़ब्र की सी शांति' स्थापित हो गई; उन्हीं दिनों संयुक्त प्रांत के तत्कालीन गवर्नर सर मालकम हेली पौड़ी तक तशरीफ़ लाये। यहां के अधिकारियों व अमन सभाइयों ने उन्हें यह बताना चाहा कि "गढ़वाल में तो कांग्रेस मर चुकी है!" ये उन दिनों बाहर ही थे; इनसे वह बात नहीं सही गई; अतः इन्होंने पुलिस के सख्त पहरे की भी पर्वाह न करते हुये पौड़ी के विशाल दर्बार में किसी प्रकार घुस कर ठीक गवर्नर के सामने राष्ट्रीय तिरंगे झंडे का प्रदर्शन करके यह सिद्ध कर दिया कि—"कांग्रेस अमर है; और वह गढ़वाल में भी जीवित है!" अधिकारियों और चाटुकारों के मुंह फ़क़ हो गये तथा इन्हें घेर कर जेल पहुँचा दिया गया; और फिर इन्हें एक साल के कठोर कारावास की सज़ा मिली। उस घटना का वर्णन श्री शांतिप्रकाश 'प्रेम' ने अपनी पुस्तिका 'जयानन्द-गौरव-गान' में इस तरह किया है—

शस्त्रधारी सैनिक थे चारों ओर घूम रहे,
शेर-सा स्वच्छन्द घुसा जनता की ठेल में।
आगे बढ़ा और बढ़ा मंच ही के पास गया,
बोलता था लाट जहां स्वागत के मेल में।
हाथ में तिरंगा उठा, नारे भी गूंज उठे,
भाग चला लाट निज साथियों की रेल में।
जनता पुलिस मध्य शेर यहां घेर लिया,
वीर जयानन्द चला पौड़ी वाली जेल में॥

इस प्रकार इन्होंने अपना सारा जीवन देश, समाज व धर्म की सेवा में लगाया। उस लम्बे तपस्या-काल में इन्हें अनेक कष्ट भुगतने पड़े; कट्टरपंथी भाइयों के विरोध व प्रहारों का सामना करने

के अतिरिक्त इन्हें अपने परिवार को ग़रीबी का श्राप सहते देखना पड़ा। सन् १९४२ के अगस्त-आंदोलन से कुछ पहिले इनकी पत्नी का देहांत हो चुका था; घर में बच्चे अनाथ थे; बड़े पुत्र के विवाह का प्रबन्ध किया हुआ था; लेकिन ठीक जिस दिन विवाह था, उसी दिन इन्हें हाथों में हथकड़ी डालकर जेल ले जाया गया! अत: किसी प्रकार सम्बन्धियों ने वह कार्य निभाया। एक बार ये एक डोला-पाल्की के झगड़े को निपटाने के लिये अन्यत्र गये हुये थे; घर में मरणासन्न बच्चे को छोड़ आये थे; जब घर लौटे तब तक पुत्र स्वर्गधाम सिधार चुका था! इनकी इसी प्रकार की सेवाओं के कारण गढ़वाल-कांग्रेस ने इन्हें प्रांत में अपना प्रतिनिधि भेजा था।

जीवन के अन्तिम वर्षों में इन्होंने टिहरी-गढ़वाल की शिल्पकार-समस्या पर ध्यान दिया। ४ फ़र्वरी, सन् १९५१ को खास पट्टी के हिंसारियाखाल स्थान पर ये एक बड़ी सभा में भाषण दे रहे थे कि उत्तेजित सवर्णों के एक दल ने लाठियों व पत्थरों से आक्रमण कर दिया; स्वयं इनके सिर पर चोट लगी; लेकिन इन्होंने अपराधियों पर से मुक़दमा उठवा कर उन्हें मुक्त करा दिया!

अभी ये वहां प्रचार की और योजना बना ही रहे थे कि इनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। ये ५-६ मास बीमार रहे; कोटद्वार, लैंसडौन और देहरादून में इलाज कराया; फिर डाकपत्थर के क्षय-चिकित्सालय में निशुल्क चिकित्सा की भी व्यवस्था हो गई थी, पर बीमारी बढ़ जाने के कारण इन्होंने अपने गांव जाना उचित समझा। वहीं ७१ वर्ष की आयु में इन्होंने ९ सितम्बर, सन् १९५२ को प्रभु के धाम को प्रयाण किया! इनके एक पुत्री और तीन पुत्र हैं, और उनकी आर्थिक स्थिति दयनीय है।

(३७) श्री महेशचन्द्र शर्मा

(निधन-तिथि—२४ अक्तूबर, सन १९५२ ई०)

प्रवास में प्रसिद्धि पाने वाले ज्योतिष के विद्वान श्री महेशचन्द्र शर्मा का जन्म पट्टी खाटली के खेत्तू ग्राम में ७ जनवरी, सन १९१३ ई० को हुआ था। इनके पिता श्री सदानन्द शास्त्री एक विद्वान व्यक्ति हैं और वे 'सतगुरु बाबा' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इन्होंने नैणीडांडा स्कूल से हिंदी मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद कुछ समय तक बीरोंखाल के डी० ए० वी० स्कूल में शिक्षा प्राप्त की; फिर अपने भाई के पास ये करांची जाकर अध्ययन करने लगे। अभी ये दसवीं श्रेणी में पढ़ ही रहे थे कि सन् १९३० का सत्याग्रह-आंदोलन प्रारम्भ हो गया। उन दिनों इन्होंने विद्यार्थियों का एक 'क्रांतिकारी-दल' तैयार किया और विविध प्रकार की हलचलें शुरू कर दीं। महात्मा गांधी के प्रति श्रद्धा रखते हुये भी ये उनके कार्यक्रम से बुनियादी मतभेद रखते थे। उन दिनों की उन हलचलों के फलस्वरूप इन्हें विद्यालय से निकाल दिया गया और पुलिस इन पर कड़ी नज़र रखने लगी। एक दिन अचानक ये ग़ायब हो गये और सन् १९३२ ई० में अफ्रीक़ा पहुँच गये। वहां इन्होंने अपना नाम 'पंडित एम० एस० शर्मा' रख लिया, और बाद में ये इसी नाम से प्रख्यात हुये। अफ्रीक़ा से ही ये जर्मनी पहुँचे और वहां अनेक विद्वानों के निकट संपर्क में आकर इन्होंने सामुद्रिक विद्या और खगोल शास्त्र का विशेष अध्ययन किया, तथा सन् १९३६ ई० में करांची लौट आये।

अब इन्होंने वहां अपना 'ज्योतिष-कार्यालय' स्थापित किया। कुछ समय बाद सन् १९३८ से इन्होंने 'प्रोफ़ेसी' नामक अंग्रेज़ी भाषा की एक मासिक-पत्रिका प्रकाशित करना प्रारम्भ की। इनके कुशल सम्पादकत्व में उस पत्रिका ने विशेषकर सिन्ध, बिलोचिस्तान व

गुजरात में अच्छी ख्याति प्राप्त की; उसकी मांग अफ्रीका, जापान व इंगलैंड से भी हुआ करती थी। इनकी भविष्यवाणियां अधिकांशतया सत्य सिद्ध होती थीं; इस कारण वह बहुत लोक-प्रिय थीं। साथ ही बड़े-बड़े लोग इनके पास आकर इनसे अपने भविष्य के बारे में परामर्श किया करते थे; इस कारण इनकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी हो गई।

ये केवल अपने 'ज्योतिष-कार्यालय' तक ही सीमित नहीं थे; सार्वजनिक जीवन से भी इन्हें गहरी रुचि थी। जब 'नेताजी' श्री सुभाषचन्द्र बोस ने 'फ़ार्वर्ड ब्लौक' की स्थापना की, तब कांग्रेस से त्यागपत्र देकर ये भी उसमें सम्मिलित हो गये। इन्होंने उस दल की सिन्ध-शाखा संगठित करने में उत्साहपूर्वक भाग लिया और उसके उप-प्रधान चुने गये। इन्हीं गरमागरम कार्य-कलापों के कारण अगस्त, सन् १९४२ ई० के 'भारत-छोड़ो'—आंदोलन के सिलसिले में इन्हें हैदराबाद (सिंध) में बन्दी बना लिया गया; इनके प्रभाव के कारण इन्हें गिरफ़्तार करने के लिये पुलिस के डी० आइ० जी० स्वयं एक बड़ा दल लेकर इनके निवास-स्थान पर पहुँचे थे। वहां से इन्हें करांची जेल में परिवर्तित किया गया; लेकिन वहां के अधिकारियों के दुर्व्यवहार के विरुद्ध इन्होंने जेल में ही एक प्रबल आंदोलन संगठित कर दिया; फलस्वरूप इन्हें सक्खर जेल को बदल दिया गया। वहां की गर्मी प्रसिद्ध है; उस पर इन्हें और भी कई शारीरिक कष्ट दिये गये; पर इन्होंने धैर्यपूर्वक उन सब कष्टों को सहन किया। आख़िर लगभग चार वर्ष तक जेल की यातनायें भुगतने के बाद सन् १९४५ ई० में ये मुक्त हुये।

फिर भी इन्हें राजनीति से सक्रिय दिलचस्पी रही। अपने ज्योतिष-सम्बन्धी व्यवसाय से समय बचाकर अनेक संस्थाओं में ये भाग लेते रहते थे। सिन्ध फौर्वर्ड ब्लौक के उप-प्रधान होने के सिवाय, ये आगरा व अवध प्रांतीय सभा, गढ़वाल सभा, चपरासी

संघ, विद्यार्थी एसोशियेशन सिंध, आर्यसमाज, थियोसोफिकल सोसायटी आदि कई संस्थाओं के सभापति थे; साथ ही पैरामाउण्ट इन्श्योरेन्स कम्पनी और यू० पी० कोऑपरेटिव बैंक के भी डाइरेक्टर थे।

लेकिन सन् १६४७ में स्वाधीनता के साथ-साथ भारत का बंटवारा हुआ और इन्हें भी अन्य लाखों नागरिकों के साथ करांची से सदा के लिये विदाई लेनी पड़ी। अतः सितम्बर, सन् १६४७ में ये अहमदाबाद आ गये और वहां नये सिरे से इन्होंने अपना कार्यारम्भ किया। वहां आकर इन्होंने अंग्रेज़ी मासिक पत्रिका 'प्रोफ़ेसी' को फिर चालू किया; साथ ही गुजराती भाषा में 'भविष्यवाणी' नाम से एक और मासिक-पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ कर दिया। वहां इन्होंने जन-सेवा के कार्यों में भी क्रियात्मक सहयोग दिया; विशेषकर सिंधी शरणार्थियों के संस्थापन-कार्य में इन्होंने जी-तोड़ परिश्रम किया। उनकी सुविधा के लिये इन्होंने वहां सिन्ध मौडर्न हाइ स्कूल की स्थापना की और उसका सफलता के साथ संचालन किया। इसी कारण अनेक संस्थाओं ने इन्हें सभापति चुनकर स्वयं अपना सम्मान किया; उनमें उत्तर-प्रदेश सभा, समाज-सेवा-संघ, वर्कर्स वेलफ़ेयर सोसायटी, शरणार्थी एसोसियेशन, आदि मुख्य थीं।

सन १६५०-५१ में अनेक मित्रों के आग्रह पर इन्होंने मलाया, सिंगापुर और दक्षिण अफ्रीका का भ्रमण किया। सिंगापुर में तत्कालीन भारतीय ट्रेड-कमिश्नर सर्दार जोगेन्द्र सिंह ने इन्हें अपना विशेष अतिथि बनाया। अन्य सब स्थानों पर भी इनका शानदार स्वागत हुआ। आर्थिक लाभ तथा प्रसिद्धि—दोनों दृष्टियों से इनकी वह यात्रा आशातीत सफल रही। अपनी विद्वत्ता तथा मासिक-पत्रिकाओं के द्वारा इनकी प्रसिद्धि पहिले ही भारत की सीमाओं का अतिक्रमण कर चुकी थी; इस भ्रमण के बाद विश्व भर के सर्वोत्तम

ज्योतिषियों में इनकी गणना की जाने लगी। इस प्रकार सफल यात्रा करने वाले सम्भवतया ये सर्वप्रथम गढ़वाली थे।

हिंदी व अंग्रेज़ी के अतिरिक्त सिंधी व गुजराती का इन्होंने उच्च ज्ञान प्राप्त किया था। इसी कारण ये 'भविष्यवाणी' का योग्यतापूर्वक सम्पादन करने में सफल हुये थे। अंग्रेज़ी की इनकी योग्यता 'प्रोफेसी' के सम्पादन से स्पष्ट हो जाती है। संस्कृत में भी इनकी पर्याप्त गति थी तथा मराठी भाषा से भी ये जानकार थे। इनकी भाषण-शैली में एक विशेष आकर्षण था। इनका व्यक्तित्व मनोमोहक था। हास्य तथा प्रसन्न-चित्तता हमेशा इनके साथ रही; ये निरभिमानी और मिष्टभाषी थे। इन्होंने कई कवितायें भी 'स्वान्तः सुखाय' लिखीं; तथा तीन-चार एकांकी नाटक भी लिखे। इनके लेखों से इनकी विचार-प्रौढ़ता स्पष्ट है। इतना होने पर भी, इन्हें अपने गढ़वाली होने का गौरव था; हमेशा अपने ग़रीब व अशिक्षित प्रवासी भाइयों की सहायता के लिये ये उद्यत रहते थे। गढ़वाल की कई शिक्षा-संस्थाओं को इन्होंने आर्थिक सहायता प्रदान की। तथ्य यह है कि इनके कारण सिंध और गुजरात में गढ़वालियों ने एक सम्मान का स्थान प्राप्त कर लिया था।

लेकिन विधाता का विधान कुछ और ही था! 'भविष्य-वाणी' का 'दीपावली-विशेषांक' निकालने के बाद ही ये बीमार पड़ गये, और केवल डेढ़ दिन ही रोग-ग्रसित रह कर अकस्मात् केवल ३६ वर्ष की आयु में ही २४ अक्तूबर, सन १६५२ ई० को हृदय-रोग के आघात से इन्होंने इस नश्वर संसार से विदाई ले ली! दुर्भाग्य-वश उस समय परिवार का कोई भी व्यक्ति वहां उपस्थित नहीं था। करांची में गढ़वालियों के अनन्य सेवक श्री केशरीप्रसाद वैद्यभूषण ही इनकी सेवा में थे। फिर भी अहमदाबाद के सब प्रमुख व्यक्ति उनकी शव-यात्रा में सम्मिलित हुये तथा २६ अक्तूबर, सन १६५२ की महती शोक-सभा में उन्होंने अपनी श्रद्धां-

जलियां अर्पित कीं।

इनके असामयिक निधन पर जिन महानुभावों ने समवेदना के संदेश भेजे उनमें से कुछ प्रमुख व्यक्ति ये थे—(१) सिंध के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री श्री एम० ए० खुहरो; (२) फौर्वर्ड ब्लौक के नेता सर्दार शार्दूलसिंह कवीश्वर; (३) भारत-सर्कार के भूतपूर्व उप-गृहमन्त्री श्री आर० के० सिद्धवा; (४) सौराष्ट्र एसेम्बली के स्पीकर श्री मगनलाल बी० जोशी; (५) बम्बई के प्रसिद्ध व्यापारी सर चीनूभाई बैरोनेट; (६) 'भविष्य-दर्शन' के सम्पादक प्रो० बी० एच० शाह, और (७) 'कल्याण' (गोरखपुर) के सम्पादक श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार। इन्हीं नामों से इनकी प्रसिद्धि व लोक-प्रियता का पता लगता है।

परिवार में इनके चार भाई, विधवा पत्नी, एक पुत्र तथा दो पुत्रियां मौजूद हैं। इनके पिता अब 'भविष्यवाणी' का संचालन कर रहे हैं।
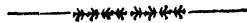
तृतीय खण्ड

(१) श्री हरि शर्मा मुनि

इनका जन्म मार्च, सन १८५० ई० में एक पन्त ब्राह्मण कुल में हुआ था। ये श्री क्यूँकालेश्वर मंदिर, पौड़ी, के महन्त पद पर सन १८८६ में आसीन हुये। इन्होंने मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया और उसे खूब लोकप्रिय बना कर उसकी आय बढ़ाई। वहां इन्होंने एक संस्कृत पाठशाला की स्थापना की तथा निशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध किया। वहां के कई छात्र बाद में बड़े विद्वान हुये। श्रीनगर में भी इन्होंने एक मंदिर और धर्मशाला का निर्माण कराया था। भारत धर्म महामण्डल ने इन्हें 'धर्म-रत्न' की उपाधि प्रदान की। उधर सर्कार ने भी इन्हें डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का सदस्य नामज़द किया। सन १९१० में ब्रिटिश सर्कार ने इन्हें 'महामहोपाध्याय' की पदवी और १००) वार्षिक की जागीर प्रदान की; सारे कुमाऊँ प्रदेश में इस पदवी को पाने वाले ये सर्वप्रथम व्यक्ति थे। ४ मार्च, सन १९१७ को इनका देहान्त हुआ। इनका विद्यालय अभी तक विद्यमान है।

(२) श्री कुँवर शिव सिंह

इनका जन्म चांदपुर सीली पट्टी के कँसुवा ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री कुँवर हयात सिंह तहसीलदार के पद पर रह चुके थे।

मि० वाल्टन ने अपने 'गज़ेटियर' में उन्हें गढ़वाल का सबसे बड़ा भूमिपति (लैंड-प्रोपाइटर) माना है। इण्टरमीडियेट तक शिक्षा पाने के बाद इन्होंने सर्कारी नौकरी शुरू की और अन्त में तहसीलदार के पद पर पहुँच गये थे। पर युद्ध-ज्वर के कारण २४ दिसम्बर, सन १६१८ को इनका देहांत हो गया !

पौड़ी के अपने कार्य-काल में इन्होंने श्रीनगर हाइ स्कूल की स्थापना व उन्नति में सहयोग दिया। उसके बाद इन्होंने चमोली तहसील के लिये एक हाइ स्कूल की मांग उठाई और कर्णप्रयाग को उसके लिये निर्वाचित किया। सन १६१४ में संयुक्त प्रांत के लेफ़० गवर्नर अल्मोड़ा आये हुये थे; इन्होंने उनके समक्ष यह मांग रखी। उनके आश्वासन पर इन्होंने गढ़वाल के प्रमुख व्यक्तियों को पत्र लिखे और फिर लम्बी छुट्टी लेकर इस काम पर जुट गये और इस योजना को सफल बनाया। यद्यपि ये अपने जीवन-काल में उस स्कूल को साकार रूप में नहीं देख पाये, तथापि उसकी नींव डालने का श्रेय इन्हीं को है। इनके बड़े पुत्र श्री कुंवर जोधसिंह ने तहसीलदार के पद से अवकाश ग्रहण किया और उनका भी देहावसान हो चुका है। इनके छोटे पुत्र श्री कुंवर रघुनाथ सिंह चमोली में वकालत करते हैं और एक प्रमुख जन-सेवक हैं।

(३) श्री बालासिंह चौहान

इनका जन्म सन १८७० ई० में उदयपुर पट्टी के जामली ग्राम में हुआ था। कांसखेत मिडिल स्कूल में पढ़ने के बाद इन्होंने कुछ समय तक जंगलात विभाग की नौकरी की, पर शीघ्र ही त्यागपत्र देकर घर आ गये। वहीं इन्हें स्वामी श्रद्धानन्द से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला और ये आर्यसमाज में प्रविष्ट हो गये। उसके कुछ समय बाद गढ़वाल में अकाल पड़ा और उसमें इन्होंने प्रशंसनीय सेवा-कार्य किया। इनकी ही प्रेरणा पर स्वामी श्रद्धानन्द ने

गुरुकुल-कोप से सहायता दी और भगड़ स्थान पर एक ऐंग्लो-वैदिक पाठशाला की स्थापना की गई। वह कई वर्षों तक चलती रही और जुलाई, सन १६१६ ई० में इनका एन्फ्ल्यूएंज़ा से अचानक देहांत हो जाने के बाद बन्द हो गई। इनके भतीजों में से श्री प्रताप सिंह चौहान एक सुयोग्य डिप्टी कलक्टर व बद्रीनाथ कमेटी के मन्त्री रह कर 'रिटायर' हो चके हैं।

(४) श्री प्रतापसिंह रावत

इनका जन्म सन १८८६ ई० में मौंदड़ास्यूँ पट्टी के गोर्ली ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री रघुनाथ सिंह रावत जंगलात विभाग में रेंजर थे। हाइ स्कूल तक पढ़ने के बाद इन्होंने लैंसडौन हाइ-स्कूल को स्थायी बनाने में प्रशंसनीय कार्य किया। अधिकांशतया इन्हीं के आश्वासन पर श्री धनीराम शर्मा उस स्कूल को धूरा से जहरीखाल लाये। ये कई वर्षों तक स्कूल-कमेटी के मन्त्री रहे। इन्होंने कुली-बर्दायश की प्रथा के विरुद्ध आंदोलन में भी भाग लिया। उस कारण इनकी बन्दूक़ ज़ब्त कर ली गई और इन्हें कई तरह के भय दिखाये गये; पर ये अविचल रहे। उन दिनों गढ़-वाल भर में आंदोलन का संचालन करने के लिये एक कांग्रेस कमेटी स्थापित की गई थी; इन्होंने दो वर्षों तक उसके मन्त्री पद पर योग्यता के साथ कार्य किया। अचानक ये बीमार पड़े; और ३१ दिसम्बर, सन १६२१ ई० को ३५ वर्ष की ही आयु में इनका देहावसान हो गया! इनके चचेरे भाइयों में से श्री नन्दन-सिंह रावत चमोली में वकालत करते हैं और श्री कुन्दन सिंह रावत जिला बोर्ड में असेसिंग औफिसर हैं तथा श्री गोविंद सिंह रावत, थोकदार, ठेकेदारी का व्यवसाय करते हैं।

(५) श्री आलम सिंह राना

इनका जन्म ८ दिसम्बर, सन १८४३ ई० को चलणस्यूँ पट्टी

के डुंग्रीपंथ गाँव में हुआ था । इन्होंने कुछ समय तक अध्यापकी करने के बाद सब-डिप्टी इन्सपेक्टर का पद प्राप्त किया और सन १६०६ में ४२ वर्ष की लम्बी नौकरी के बाद डिप्टी इन्सपेक्टर के पद से अवकाश ग्रहण किया । जब ये सब-डिप्टी-इन्सपेक्टर होकर गढ़वाल आये, तब यहां २ मिडिल स्कूल और ४३ प्रायमरी स्कूल थे; लेकिन जब ये पेंशन पर गये उस समय ४ मिडिल स्कूल, ३१ अपर प्रायमरी स्कूल, ७२ लोअर प्रायमरी स्कूल, ६ कन्या-पाठशालायें, २५ इमदादी स्कूल और १ ट्रेनिंग स्कूल चालू हो गई थी । पेंशन-जीवन में ये कुछ समय तक डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के नामज़द मेम्बर भी रहे । १५ अक्तूबर, सन १६२३ ई० को इनका देहावसान हुआ । इनके एकमात्र पुत्र श्री महिपत सिंह राना स्थानीय डाकघर में पोस्टमास्टर हैं ।

(६) श्री गिरिजाशंकर ध्यानी

इनका जन्म सितम्बर, सन १८८२ ई० में कंडवालस्यूँ पट्टी के रणाकोट ग्राम में हुआ था । ये अत्यन्त मेधावी व्यक्ति थे; सारा समाज इनकी पैनी सूझ और क़लम का क़ायल था । इन्होंने सन १६११ में 'गढ़वाल भ्रातृ-मण्डल' का एक विशाल अधिवेशन देवप्रयाग में कराया और ऋषिकुल प्रणाली पर 'श्री रघुनाथ कीर्ति-महाविद्यालय' की स्थापना कराई । उस कार्य्य पर इन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी । हज़ारों रूपये एकत्र हुये और भवन का निर्माण किया गया । उस उद्योग में इन्हें सर्वश्री लक्ष्मीधर जोशी, मायाराम तेवाड़ी और शिवचरण शर्मा का भी सहयोग मिला था; ये महानुभाव भी दिवंगत हो चुके हैं । संस्कृत-शिक्षा के प्रसार का उसने प्रशंसनीय कार्य्य किया है । जुलाई, सन १६२४ ई० में इनका देहावसान हुआ । इनके एकमात्र पुत्र स्व० श्री नवकुमार ध्यानी डी० ए० वी० स्कूल, पौड़ी में अध्यापक थे ।

(७) श्री महेशानन्द नैथाणी

इनका जन्म अप्रैल, सन १६०१ ई० में कोटद्वार-भाबर के जसोधरपुर ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री पद्मादत्त नैथाणी खेती तथा वैद्यक करते थे। हाइस्कूल का अध्ययन छोड़कर इन्होंने बेगार-विरोधी आंदोलन में जोरदार भाग लिया। उसके बाद अपने धार्मिक विचारों के कारण इनका अपने पिता से घोर मतभेद पैदा हो गया; वे कट्टर सनातनी थे और इन्हें आर्यसमाज का चस्का लग गया था। अतः एक दिन इन्होंने अपनी पत्नी सहित अपने घर से बिदाई ली और फिर नहीं लौट सके!

दिल्ली जाकर ये आर्य सार्वदेशिक सभा के कार्यालय में लिपिक हो गये और इनकी पत्नी एक पाठशाला में अध्यापिका हो गईं। पर अपनी सत्य-प्रियता के कारण इन्हें वहां से भी त्यागपत्र देना पड़ा। अतः कुछ समय तक बेकार रहने के बाद ये कन्या गुरुकुल, इन्द्र-प्रस्थ के कार्यालय में लिपिक नियुक्त हो गये; बाद को उसी संस्था के साथ देहरादून आये; तथा फिर दुबारा कुछ समय के लिये दिल्ली चले गये। आर्य-संस्थाओं की इस सेवा के अतिरिक्त इन्हें गढ़वाल में भी आर्यसमाज के द्वारा सामाजिक क्रांति लाने की धुन थी। एक प्रकार से ये आर्यसमाज के पीछे पागल, स्वदेशी व खादी के कट्टर भक्त तथा समाज-सुधार के ज़बर्दस्त हिमायती थे। इन विषयों पर ये 'गढ़देश' में कभी-कभी लेख भी लिखते थे, पर २६ वर्ष की ही आयु में २७ दिसम्बर, सन १६२६ ई० में इनका देहावसान हो गया! कुछ दिनों बाद इनकी पत्नी श्रीमती दीपादेवी ने भी इनके मार्ग का अनुसरण किया!! अब इनके भाई श्री सुरेशानन्द नैथाणी, आयुर्वेद-शास्त्री, एक सर्कारी औषधालय में वैद्य हैं; इनके सबसे छोटे भाई श्री विश्वम्भरदत्त नैथाणी ने कानपुर व आस्ट्रेलिया में ऊन-उद्योग की विशेषज्ञता प्राप्त की है।

(८) श्री ईश्वरीदत्त ध्यानी

इनका जन्म सितम्बर, सन १८७३ ई० में ईड़ियाकोट मल्ला पट्टी के खंद्वारी ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री दयाधर ध्यानी था। इन्हें सभा-समाजों से रुचि थी। बेगार-विरोधी आंदोलन में इन्होंने जोरदार भाग लिया। ३१ जनवरी, सन १९२१ को लैंसडौन के समीप चमेठाखाल में एक विराट सभा हुई और आंदोलन की धूम मच गई। इन्होंने लैंसडौन के पूर्वी इलाके का दूर-दूर तक भ्रमण किया और भाषण दिये। इन्होंने स्वयं मालगुजारी से त्याग-पत्र दिया तथा कई स्थानों पर मण्डल कांग्रेस कमेटियां स्थापित कराईं।

इन्होंने नैणीडांडा मिडिल स्कूल के खुलवाने में सहायता दी थी। रिखणीखाल मिडिल स्कूल तो एक प्रकार से इन्हीं की रचना है। सन १९२५ में ये अपने इलाके से ज़िला-बोर्ड के सदस्य चुन लिये गये। इन्होंने बोर्ड से स्वीकृति लेने के बाद यत्र-तत्र चन्दा किया और भवनों का निर्माण कराया। ये निर्व्यसनी, स्वदेशी के व्रती, शांत व निर्भीक तथा अपने कार्य-साधन में चाणक्य थे। इसीलिये अंतिम दिनों में मुकदमेबाजी के कारण इनके चारों ओर कटु वातावरण पैदा हो गया और ३ अगस्त, सन १९३० को नौदाणू की अपनी दूकान में जब ये सोये हुये थे, तब अपने एक पुत्र-सहित क़त्ल कर दिये गये! इनके एकमात्र पुत्र श्री कुलानन्द ध्यानी घर पर ही रहते हैं; इनके भाई श्री केशवानंद ध्यानी भी बाद में डि० बोर्ड के सदस्य रहे; इनके एक भतीजे श्री बुद्धिराम ध्यानी सार्वजनिक सेवा करने वाले वकील थे, पर कोटद्वार में मोटर के धक्के से उनका भी देहांत हो चुका है!

(९) श्री अमरदत्त ध्यानी 'कुमुद'

इनका जन्म सन १९०२ में कोलागाड पट्टी के बड़ेथ ग्राम में

हुआ था। हिंदी मिडिल तक ही पढ़ने के बाद ये कोइटा जाकर नौकरी करने लगे। वहां इन्होंने अपने अध्ययन से काफ़ी ज्ञान प्राप्त किया तथा सर्कारी नौकरी में उन्नति करने के सिवाय प्रवासी गढ़-वालियों की सेवा भी की। बाद में इन्होंने सर्कारी नौकरी छोड़ दी और स्वतन्त्र रूप से जीविकोपार्जन का प्रयत्न करने लगे। ये एक साहित्य-प्रेमी युवक थे। इन्होंने अनेक कवितायें लिखीं। उनका संग्रह "श्रद्धा-सुमन" शीर्षक से इन्होंने तैयार किया था; पर वह अप्रकाशित रह गया। इन्होंने "कन्या-विक्रय" शीर्षक नाटक प्रकाशित किया था; उसमें इन्होंने गढ़वाल की इस कुप्रथा का अच्छा ख़ाका खींचा है। इन्होंने "कृष्ण-लहरी" शीर्षक से भी एक पुस्तिका प्रकाशित की; उसमें भगवान श्री कृष्ण को सम्बोधित करते हुये तत्कालीन भारत की दुरवस्था का करुणापूर्ण भाषा में वर्णन किया गया है। पर सन १६३४ ई० में केवल ३२ वर्ष की ही आयु में ये अकस्मात काल-कवलित हो गये!

(१०) श्री माधोसिंह रावत

इनका जन्म सन १८५१ ई० में लंगूर पल्ला पट्टी के धारी ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री गजय सिंह रावत एक थोकदार थे। इन्होंने अपनी ग्राम-पाठशाला का जीर्णोद्धार कराया; धीरे-धीरे इन्होंने छात्रों की इतनी संख्या बढ़ा दी कि शिक्षा-विभाग ने वहां प्राइमरी टीचर्स ट्रेनिंग स्कूल खोल दिया; वह अनेक वर्षों तक चलता रहा। उन दिनों सारी लैंसडौन तहसील में एकमात्र पोखड़ा ही में हिन्दी मिडिल स्कूल था; अतः इन्होंने लैंसडौन के पश्चिमी इलाक़े में एक नया मिडिल स्कूल खोलने की आवाज़ उठाई। कई वर्षों के उद्योग के बाद एक नये स्कूल की मांग स्वीकार की गई और इनके सुझाव पर मटियाली स्थान को छांटा गया। जब तक मटियाली में सर्कारी इमारतें बनती रहीं, तब तक वह मिडिल स्कूल

इन्हीं की ग्राम-पाठशाला पाली में रही । वहां उसके लिये इन्होंने एक मकान बनवा दिया था, जो बाद में ट्रेनिंग स्कूल के काम आया। मटियाली स्कूल के मकानों का निर्माण भी इनकी देखभाल में हुआ, क्योंकि अपनी योग्यता के कारण इन्हें डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का सदस्य नामज़द कर दिया गया था। इनका देहान्त सन १९३४ ई० में हुआ। इनके पुत्र स्व० श्री शिबसिंह रावत भी सार्वजनिक सेवा की रुचि रखते थे।

(११) श्री प्रताप सिंह नेगी

इनका जन्म सन १८७२ ई० में गगवाड़स्यूँ पट्टी के नेग्याणा ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री दुलफसिंह नेगी था। इन्होंने हिन्दी मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद सर्कारी नौकरी शुरू की और पौड़ी अदालत में सीनियर अहलमद के पद तक उन्नति की, लेकिन स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण इन्होंने समय से पहले ही पेंशन ले ली थी। इन्हें लिखने-पढ़ने का शौक़ था; इनके निजी पुस्तकालय में एक-डेढ़ हज़ार तक पुस्तकें थीं; उनमें से प्रायः प्रत्येक का अध्ययन करके इन्होंने अपनी टिप्पणियां अंकित कीं। इनके सम्पादकत्व में क्षत्रिय-समिति के मुखपत्र पाक्षिक 'क्षत्रिय वीर' का प्रथम अंक १५ जनवरी, सन १९२२ को प्रकाशित हुआ और मृत्यु-पर्यन्त ये उसके सम्पादक रहे। अपनी प्रहसन-प्रियता के कारण इन्होंने कभी कटु आक्षेप नहीं किये, और बहुत संयत व प्रहसन-पूर्ण भाषा में सम्पादन किया। ये पौड़ी रहकर उसका सम्पादन व प्रकाशन करते थे, यद्यपि वह हमेशा बाहर के प्रेसों से छप कर आता था। सन१९२८ में ये अपने इलाके से निर्विरोध जिला बोर्ड के सदस्य निर्वाचित हुये। आख़िर अगस्त, सन १९३५ में ६३ वर्ष की आयु में इनका देहान्त हुआ! इनके बड़े पुत्र श्री रामदयाल सिंह नेगी पौड़ी में डाक्टरी करते हैं और इनके छोटे पुत्र श्री विक्रम सिंह

नेगी पौड़ी अदालत में अहलमद हैं ।

(१२) श्री रामप्रसाद उनियाल

इनका जन्म नवम्बर, सन् १६०८ में डबरालस्यूं पट्टी के अमाल्डू ग्राम में हुआ था । इनके पिता का नाम श्री कृतराम उनियाल था । पास-पड़ोस में प्रारम्भिक शिक्षा पाने के बाद ये लाहौर चले गये । मैट्रिक्युलेशन परीक्षा में ये प्रांत भर में नवें उत्तीर्ण हुये । एफ० ए० परीक्षा में ये प्रांत भर में तीसरे निकले । बी० ए० में ये सर्वप्रथम स्थान पर उत्तीर्ण हुये । फिर संस्कृत लेकर इन्होंने एम० ए० किया और सर्वप्रथम आने पर इन्हें सन् १६३३ में ५००) की 'मैकलियड-पर्स' (थैली) प्रदान की गई । अब इन्होंने अनुसन्धान-कार्य (रिसर्च) प्रारम्भ किया । इनका विषय था—"सेंट्रल ग्रुप ऑफ़ पहाड़ी लैंग्यूएजेज़" (पहाड़ी भाषाओं का केंद्रीय समूह); इस पर प्रशंसनीय निबन्ध लिखने के कारण इन्हें 'जसवन्तराय पदक' प्रदान किया गया । अपने विषय के व्याकरण पर भी इन्होंने एक गवेषणापूर्ण पुस्तक प्रारम्भ कर दी थी; लेकिन उसे पूरा नहीं कर पाये । सन् १६३६ में इन्हें सनातन धर्म कौलेज में संस्कृत-प्रोफेसर का स्थायी पद भी मिल गया । पर फ़र्वरी, सन् १६३७ में लगभग २८ वर्ष की ही आयु में इनका असामयिक देहावसान हो गया ! इनके चचेरे भाई श्री ललिताप्रसाद 'ललाम', डी० ए० वी० स्कूल, लाहौर में अध्यापक थे और अब वे घर पर ही रहते हैं, और साहित्य-प्रेमी व्यक्ति हैं ।

(१३) श्री भैरवदत्त बडूनी

इनका जन्म जुलाई, सन् १८६५ ई० में बणेलस्यूँ पट्टी के घोड़ी ग्राम में हुआ था । इनके पिता श्री देवीदत्त बडूनी पौड़ी के एक प्रभावशाली नागरिक थे और मुख्यतया उन्हीं के प्रयत्नों से वहां का उपरला बाज़ार बसाया गया था । इन्होंने प्रारम्भ में दूकानदारी

की; फिर पी० डबल्यू डी० के ठेकों का काम शुरू किया और अच्छी सफलता पाई। 'गढ़वाल व्यवसाय भंडार' में भी इन्होंने २०००) के हिस्से ख़रीदे थे और उसके एक डाइरेक्टर थे। इन्हें शुरू से ही सभा-समाजों का शौक़ था; विशेषकर आर्थिक सहायता देने में इन्होंने काफ़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। सन् १६२१-२२ में इन्होंने 'गढ़वाल नवयुवक सम्मेलन' को सहयोग दिया और अपने गांव में एक पंचायती जंगल की स्थापना कराई। सन् १६३० के सत्याग्रह-आंदोलन में इन्होंने सक्रिय सहयोग दिया। ये ज़िला कांग्रेस कमेटी के सदस्य चुने गये। बाद में पौड़ी की 'इबटसन-गर्दी' में अन्य प्रमुख व्यक्तियों के साथ ये भी गिरफ़्तार हुये और इन्हें भी छै मास का कारावास भुगतना पड़ा। उसके बाद भी ये राष्ट्रीय कार्यों में सहयोग देते रहे। सन् १६३१ में ये ज़िला बोर्ड के सदस्य निर्वाचित हुये। जुलाई, सन् १६३८ ई० में ४३ वर्ष की ही आयु में इनका देहांत हो गया। ये निस्सन्तान रहे। इनके चचेरे भाई श्री बलदेवप्रसाद बड़ूनी देहरादून में उत्तराखण्ड प्रेस का संचालन करते थे और अब घर पर ही रहते हैं।

(१४) श्री रामप्रसाद नैथाणी

ये नैथाणा (पट्टी मन्यारस्यूं) के निवासी थे। इन्होंने संयुक्त प्रांतीय सेक्रेटैरियट में सुपरिनटेण्डेण्ट के उच्च पद तक पहुँच कर पेंशन प्राप्त की। पेंशन में नैथाणा आकर इन्होंने ग्राम-सुधार के कार्यों में विशेष दिलचस्पी ली। सितम्बर, सन १६३६ में इन्होंने घंडियाल की ग्राम्-सुधार प्रदर्शनी को सफल बनाने में बड़ा सहयोग दिया था। ये साहित्य-प्रेमी भी थे; गढ़वाल के इतिहास पर इन्होंने काफ़ी सामग्री एकत्र कर ली थी; श्री पुरिया नैथाणी पर इस पुस्तक में जो लेख दिया गया है वह मुख्यतया इन्हीं की सामग्री पर आधारित है। ये अपने उन पूर्वज पर एक रोचक उपन्यास लिखना चाहते

थे; पर सितम्बर, सन् १६३६ में इनका देहांत हो गया।

(१५) श्री नारायणसिंह बुटोला

ये पिंडर घाटी के थराली ग्राम में निवासी थे। चतुर व सुयोग्य होने के सिवाय तिब्बती भाषा जानने के कारण सन् १८८५ ई० में ये नीती में ट्रैफिक रजिस्ट्रेशन लिपिक नियुक्त किये गये; तिब्बत से जो माल आता था उसकी जांच करने का भार इन पर था। सन् १६२१ में ये पेंशन पर आ गये और सन् १६२२ से सन् १६२८ तक जिला बोर्ड के निर्वाचित सदस्य रहे। थराली में अस्पताल व मिडिल स्कूल स्थापित कराने में इन्हें पूरी सफलता मिली। सन् १६३६ ई० में इनका देहांत हो गया।

(१६) श्री मनोरथ जोशी

इनका जन्म सन् १६०६ ई० में सैंधार ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री गंगादत्त जोशी पटवारी थे। हिंदी मिडिल तक शिक्षा पाने के बाद लखनऊ के आर्ट्स एण्ड क्राफ्टस स्कूल की 'ड्राफ्टसमैन' परीक्षा इन्होंने नामवरी से उत्तीर्ण की। साथ ही इन्होंने चित्रकला का भी अभ्यास किया। फिर ये डाइरेक्टर औफ़ पबलिक हेल्थ, लखनऊ के कार्यालय में पोस्टर बनाने के कार्य पर नियुक्त हो गये।

सर्वप्रथम इनका 'साक़ी' नाम का चित्र 'माधुरी' में प्रकाशित हुआ; उसके बाद अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी इनके कई चित्र छपे। कांग्रेस प्रदर्शनी तथा अखिल भारतीय औद्योगिक व कृषि प्रदर्शनी, लखनऊ; स्वदेशी प्रदर्शनी, लाहौर व इलाहाबाद; तथा मैसूर कला-प्रदर्शनी में इनके चित्रों की अच्छी प्रशंसा हुई और इन्हें कई पारितोषिक मिले। तदुपरान्त इनके कुछ चित्रों ने लन्दन के ब्रिटिश म्यूज़ियम में भी स्थान प्राप्त किया। वैसे तो इन्होंने कई चित्र बनाये, तथापि 'जीवन-मरण', 'शीरीं-

फ़रहाद', 'नृत्य', 'दीपावली', 'वनदेवी', 'भूकम्प', 'एकलव्य' और 'प्रतीक्षा' शीर्षक इनके चित्र सबसे अधिक पसन्द किये गये थे।

पर ३० वर्ष की ही आयु में २७, जुलाई, सन १९३९ ई० को इनका देहांत हो गया ! इनकी चित्रकला खिल ही रही थी कि इन्हें अपने जीवन का चित्र अधूरा ही छोड़ देना पड़ा !! इनके परिवार में इनकी विधवा पत्नी के अतिरिक्त कई भाई हैं; उनमें सबसे बड़े श्री गुणानन्द जोशी, डी० ए० वी० कौलेज, देहरादून के कार्यालय में मुख्य लिपिक हैं।

(१७) श्री बलदेवप्रसाद बलूणी

इनका जन्म मार्च, सन् १८९६ ई० में डबरालस्यूँ पट्टी के कंडाखणी ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री तारादत्त बलूणी संस्कृत व ज्योतिष के ज्ञाता थे। इन्होंने क्वीन्स कौलेज, बनारस से 'शास्त्री' की परीक्षा उत्तीर्ण की; और फिर अखिल भारतीय मारवाड़ी एसोसियेशन, कलकत्ता के वैतनिक प्रचारक नियुक्त हो गये। स्वदेशी के ये प्रेमी थे ही; अतः सन १९३० के सत्याग्रह-आंदोलन के दिनों में ये गढ़वाल आकर प्रचार-कार्य करने लगे। उस सिलसिले में इन्हें २ वर्ष का कारावास और १०००) जुर्माने की सज़ा दी गई। लेकिन गांधी-इर्विन पैक्ट के कारण ये समय से पहिले ही रिहा हो गये। उसके बाद कटघर (पट्टी ढांगू) की शराब-भट्टी को हटवाने के लिये इन्होंने ज़ोरदार आंदोलन किया। पर ८ अगस्त, सन् १९४० ई० को इनका देहांत हो गया ! इनके सब भाई सुशिक्षित हैं; उनमें से श्री नारायणदत्त बलूणी लैंसडौन में वकालत करते हैं तथा जन-सेवा के कार्यों में सहयोग देते रहते हैं।

(१८) श्री सदानन्द भारद्वाज

इनका जन्म १० जनवरी, सन १९०५ को तल्ला बदलपुर पट्टी के घांघली-विदुरगांव स्थान में हुआ था। इनके पिता श्री विष्णुदत्त

एक कर्मकांडी ब्राह्मण थे। इन्हें प्रारम्भ से ही सभा-समाजों का चस्का था। अक्सर ये मेलों में सभा-सम्मेलनों का आयोजन करते थे और भाषण देते व दिलवाते थे। सन १९३७ से इन्होंने कांग्रेस-संगठन में जमकर कार्य करना प्रारम्भ किया। पहिले ये मण्डल कांग्रेस कमेटी अधारियाखाल के मन्त्री तथा वहां से ज़िला कांग्रेस कमेटी के सदस्य निर्वाचित हुये। सन १९३९ में ये तहसील कांग्रेस कमेटी के मन्त्री चुने गये। अगले वर्ष ये कांग्रेस डेलीगेट चुने गये और उस हैसियत से अखिल भारतीय कांग्रेस के रामगढ़–अधिवेशन में सम्मिलित हुये। मई, सन १९४० में इन्होंने डाबरी में एक विराट कान्फ्रेंस संगठित करके समीपवर्ती इलाक़े में एक नई जागृति फैला दी। जनवरी, सन १९४१ में वहीं पर इन्होंने व्यक्तिगत सत्याग्रह किया; उसके फलस्वरूप इन्हें एक वर्ष की कड़ी क़ैद की सजा मिली। इन्होंने अपने गांव में सफल पंचायत, अधारियाखाल में प्राइमरी स्कूल तथा ऊनी कारोबार समिति स्थापित कराई थीं; हिंदी मिडिल स्कूल, अधारियाखाल की स्थापना व उन्नति में भी इनका हाथ था। पर २५ सितम्बर, सन १९४१ ई० को ३६ वर्ष की आयु में ही इनका देहावसान हो गया ! इनके छोटे भाई श्री श्रीराम भारद्वाज पंचायत-मन्त्री हैं।

(१९) श्री विश्वम्भरदत्त डेवराणी

ये जेठागांव, पट्टी पैनों के निवासी थे। संस्कृत में 'शास्त्री' परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद इन्होंने अखिल भारतीय सनातन धर्म सम्मेलन की ओर से प्रचारक का कार्य किया। इनकी व्याख्यान-शैली ऐसी प्रभावपूर्ण और मनोरंजक थी कि इन्हें 'व्याख्यान-वाचस्पति' और 'महामहोपदेशक' की उपाधियां प्राप्त हुईं। महामना पं० मदनमोहन मालवीय इन्हें बहुत चाहते थे। उन्हीं के आदेश पर सन १९२५-२६ में सनातन धर्म का प्रचार करने के लिये ये अफ्रीका गये

और वहां भी इन्होंने अच्छी प्रतिष्ठा पाई ।

संस्कृत व गढ़वाली में ये अच्छी कवितायें लिख लेते थे । इन्होंने महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' का गढ़वाली भाषा में काव्यानुवाद किया था; साथ ही अपनी काली भैंस पर 'श्यामाष्टक' शीर्षक से संस्कृत में एक प्रहसनपूर्ण कविता लिखी थी ! सनातन धर्म-प्रचार-कार्य से सम्बन्धित इन्होंने कई पुस्तकें लिखीं; उनमें से 'यज्ञोपवीत-मीमांसा' तथा 'मेरी अफ्रीका यात्रा' अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने कुछ वर्षों तक दिल्ली से प्रकाशित हिन्दी साप्ताहिक "कर्मयोगी" का भी सम्पादन किया था। दिसम्बर, सन १९४१ में लगभग ४३ वर्ष की आयु में ही इनका देहांत होगया।

(२०) श्री शिवदत्त सकलानी

ये टिहरी नगर के निवासी थे तथा बी० ए० व बी० टी० की परीक्षायें उत्तीर्ण करने के बाद अध्यापक बन गये । इस प्रदेश के कई स्कूलों में शिक्षक रहने के बाद ये प्रताप हाइ स्कूल, टिहरी में अध्यापक नियुक्त हुये। ये एक आदर्श शिक्षक थे। इनके इन्हीं गुणों के कारण प्राइवेट स्कूल चम्बा की प्रबन्ध-समिति ने इनकी मांग की; वहां हेडमास्टर के पद से इन्होंने उसे खूब उन्नत किया। वही स्कूल अब 'सुमन मेमोरियल हायर सेकण्डरी स्कूल' के नाम से प्रसिद्ध है। ये साहित्य-प्रेमी व्यक्ति थे; स्कूल-सम्बन्धी इन्होंने कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित कीं; कुछ रचनायें अभी तक अप्रकाशित हैं । इन्होंने शिक्षा-प्रसार के साथ-साथ छात्रों में सच्चरित्रता व देशप्रेम भरने का उद्योग किया। २८ जुलाई, सन १९४२ को इनका देहांत हुआ। इनके भाई श्री भगवतीप्रसाद सकलानी, एम० ए०, बी० टी० एम० ईडी० हैं; आजकल प्रताप इण्टर कौलेज, टिहरी के प्रिंसिपल हैं तथा साहित्य व कला-प्रेमी, बहुश्रुत व्यक्ति हैं।

(२१) श्री सुन्दरलाल ध्यानी

इनका जन्म सितम्बर, सन १६०६ में कंडवालस्यूं पट्टी के रणाकोट ग्राम में हुआ था। पिता श्री युगलकिशोर ध्यानी का इनके बचपन में ही देहान्त हो गया था; फिर भी इन्होंने सन १६३६ में सनातन धर्म कॉलेज, लाहौर, से 'शास्त्री' परीक्षा उत्तीर्ण की और देवप्रयाग में ये सार्वजनिक जीवन के स्तम्भ बन गये। ये दो वर्ष तक पंडा-पंचायत के मंत्री रहे; उस पद से इन्होंने कुरीतियों के निवारण का उद्योग किया। अपनी योग्यता व सज्जनतापूर्ण व्यवहार के कारण ये पंडा-समाज के वृद्ध व नवयुवक दोनों दलों में लोकप्रिय थे तथा उनकी मध्यस्थता किया करते थे। ये रघुनाथ कीर्ति महाविद्यालय कमेटी के मंत्री भी थे और सन १६३७ ई० में इन्होंने 'कृष्णा-पुस्तकालय' की भी स्थापना कराई। उसी वर्ष इन्होंने श्री बद्रीनाथ पुरी में 'श्री बद्रीश-नवयुवक-संघ' की स्थापना कराई और मन्दिर-सुधार-आन्दोलन को प्रगति दी। इन्हें कांग्रेस से गहरा प्रेम था। सन १६४२ के अगस्त-आन्दोलन के अवसर पर ३ सितम्बर को गिरफ्तार कर के ये पौड़ी जेल में नज़रबन्द कर दिये गये, पर वहां पहुँचने के तीन दिन बाद ही ये बीमार पड़ गये। अचानक टायफाइड-ज्वर हो जाने के कारण २० सितम्बर की दोपहर को ये पौड़ी जेल से निकाल कर पुलिस के पहरे में ही पौड़ी-अस्पताल में पहुंचाये गये; लेकिन वहीं २१ सितम्बर, सन १६४२ की रात लगभग १२ बजे केवल ३६ वर्ष की आयु में ही इन्होंने देश-सेवा की वलि-वेदी पर अपनी भेंट चढ़ा दी! इनका एक पुत्र जीवित है।

(२२) श्री गीताराम पोखरियाल

ये ग्राम बराथ, पट्टी गुजड़ू के निवासी थे। अपने इलाक़े में ये कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्ता व केन्द्रीय पंचायत के सरपंच थे।

सन १६४१ में सल्ड महादेव के मकर संक्रान्ति के मेले में भाषण देने के कारण ये गिरफ़्तार कर लिये गये और इन्हें साढ़े तीन वर्ष के कारावास की सज़ा दी गई; पर आम रिहाई पर दिसम्बर में ये छूट गये। अगस्त, सन १६४२ ई० के जन-आन्दोलन में ये कई अन्य कार्यकर्ताओं के साथ फ़रार हो गये; लेकिन मलेरिया से पीड़ित होने के कारण इन्हें टनकपुर (ज़िला नैनीताल) के अस्पताल में प्रविष्ट होना पड़ा; वहीं अक्तूबर, सन १६४२ में इनका अकस्मात् देहान्त हो गया! इनके भतीजों में से श्री शीशराम पोखरियाल एक प्रमुख कांग्रेस कार्यकर्ता और ज़िला बोर्ड के सदस्य हैं; दूसरे भतीजे श्री सीताराम वैद्य हैं।

(२३) श्री नारायणदास वैष्णव

इनका जन्म २६ जून, सन १६०६ ई० को नन्दप्रयाग में हुआ था। इनके पिता श्री गोपालदास वैष्णव अच्छे अध्यवसायी तथा व्यापार-कुशल थे। बाद में अपने व्यापार को इन्होंने और भी चमका दिया था। ये कई बार अपने इलाक़े से निर्विरोध ज़िला बोर्ड के सदस्य चुने गये और एक बार उसके सीनियर वायस-चेयरमैन भी रहे। ज़िला ग्राम सुधार एसोसियेशन के भी ये सदस्य मनोनीत हुये थे। हरिजन-सेवा-कार्य में इन्हें विशेष रुचि थी; इसीलिये इन्हें डोला-पाल्की-स्थायी-समिति और ज़िला हरिजन सेवक-संघ का सदस्य भी नियुक्त किया गया था। कांग्रेस से इन्हें पूरी सहानुभूति थी और स्वदेशी व खादी के परम भक्त थे। नन्दप्रयाग में इन्होंने एक पंचायती जंगल भी बनवाया था; उसके ये सरपंच चुने गये थे।

इनका व्यक्तिगत जीवन अनुकरणीय था। महात्मा जी के प्रिय भजन—"वैष्णव जन तो तेने कहिये जो पीर पराई जाणे रे"—के अनुरूप ये सच्चे वैष्णव थे। जन-सेवकों का अन्दर-सत्कार तथा

आर्थिक-सहायता करने में इन्हें आन्तरिक सुख का अनुभव होता था। पर १ दिसम्बर, सन १९४२ ई० को अचानक हृदय की गति रुक जाने से केवल ३६ वर्ष की आयु में ही इनका देहावसान हो गया! एकमात्र पुत्र के अतिरिक्त इनके परिवार में चार और भाई हैं—श्री गंगाप्रसाद वैष्णव लेखक व फिल्म-एक्टर रह चुके हैं; श्री देवकीनन्दन वैष्णव, बी० एस-सी०, मधु-व्यवसाय की स्कौटलैंड से उच्च योग्यता प्राप्त करके उत्तरप्रदेशीय कृषि-विभाग में नियुक्त हैं; श्री हरिप्रसाद वैष्णव, एम० बी० बी० एस०, इंगलैंड में डाक्टरी का उच्च अध्ययन कर रहे हैं; और श्री राधा-कृष्ण वैष्णव नन्दप्रयाग में व्यापार करते हैं और प्रायः प्रत्येक बात में इन्होंने अपने स्वर्गीय भाईजी का स्थान ग्रहण किया है।

(२४) श्री जीवानन्द बडोला

इनका जन्म जून, सन १८९८ ई० में कोलागाड पट्टी के बडोल-गांव ग्राम में हुआ था। इन्होंने हिन्दी मिडिल परीक्षा के बाद बनारस से 'शास्त्री' परीक्षा उत्तीर्ण की। तभी सन १९२१-२२ का बेगार विरोधी-आन्दोलन आ गया और उसमें भाग लेने के कारण इन्हें ३ मास का कारावास और ५०) जुर्माने का दंड भुगतना पड़ा। सन १९३० के सत्याग्रह-आन्दोलन में भी ये गिरफ्तार हुये और 'गांधी-इर्विन-पैक्ट' हो जाने पर रिहा हुये। सन १९४१ के व्यक्तिगत सत्याग्रह-आन्दोलन में इन्हें ६ मास का कारावास और ५०) जुर्माने की सजा मिली, और लखनऊ कैम्प जेल से ही ये रोगी होकर लौटे। इसी कारण इच्छा रहते हुये भी अगस्त, सन १९४२ के आन्दोलन में भाग नहीं ले सके। आखिर फर्वरी, सन १९४३ में संग्रहणी रोग से इनका देहान्त हो गया। ये एक सत्यप्रिय, शान्त, कर्मनिष्ठ, जन-सेवक थे; तीस वर्ष तक ये देश के लिये कुर्बानी करते रहे। इनके छोटे भाई श्री ईश्वरी-

दत्त बडोला दिल्ली में ज्योतिषी हैं और जन-सेवी व्यक्ति हैं।

(२५) श्री पूर्णचन्द्र बडोला

इनका जन्म १ जुलाई, सन १६१० ई० को बडोली, पट्टी गुराडस्यूं में हुआ था इनके पिता श्री श्रीविलास बडोला मुनसरिम के पद से रिटायर हो कर ज्योतिष का कार्य कररते थे। इन्होंने गंगोह (ज़िला सहारनपुर) से हाइ स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद लखनऊ के आर्ट्स एंड क्राफ्टस स्कूल से सन १६३८ में नामवरी के साथ 'ब्लौक-मेकिंग' की सर्वोच्च परीक्षा उत्तीर्ण की। साथ ही इन्होंने चित्रकला का भी अभ्यास किया और फोटोग्राफी में विशेषज्ञता प्राप्त की। तदुपरान्त एक वर्ष तक इन्होंने कलकत्ते में भी ललित कलाओं का अभ्यास किया।

फिर इन्होंने लखनऊ में श्री शिवप्रसाद नौटियाल आदि के साथ मिलकर एक कला-शाला स्थापित की। कुछ समय बाद ये बनारस चले गये और प्रसिद्ध चित्रकार श्री विश्वम्भरनाथ जिज्जा के साथ जमकर चित्रकला का कार्य करने लगे; उनके साथ इन्होंने श्री बद्री-केदार-धाम की यात्रा भी की और एक मनोरम चित्रावली तैयार की। कुछ समय तक इन्होंने एक और कलाकार श्री विचित्र-दास नागर के साथ भी कार्य किया। इन्होंने एक बड़ी संख्या में चित्र बनाये तथा प्रशंसा पाई। सन १६३६ की मैसूर दशहरा प्रदर्शनी में इनके 'सान्ध्य-दीप' और 'विस्मृति का प्याला' शीर्षक दो चित्र बहुत पसन्द किये गये और इन्हें पुरस्कार मिला। वैसे इनका सर्वोत्तम चित्र 'पूर्व और पश्चिम की सभ्यता' है। इन्हें गढ़वाल में भी कला-प्रसार से बड़ा प्रेम था; अतः ये गढ़वाल साहित्य परिषद् में सम्मिलित हो गये। उसके तत्वावधान में सन १६३८ में लैंसडौन तथा सन १६४० में कोटद्वार में कला-प्रदर्शिनियां संगठित की गईं और इनके कारण दोनों को सफलता मिली।

पर २६ मार्च, सन १६४३ को हरिद्वार में इनका देहावसान हो गया ! इस प्रकार पूर्णचन्द्र 'पूर्ण चन्द्र' नहीं हो पाये और ३३ वर्ष की ही आयु में अस्त हो गये !! इनके भाइयों में सब से बड़े श्री रामशरण बडोला को फौज की अच्छी नौकरी अपने राष्ट्रीय विचारों के कारण छोड़नी पड़ी ।

(२६) श्री जीवानन्द डोभाल

इनका जन्म अस्वालस्यूँ पट्टी के बोरिख गांव में हुआ था । इनके पिता श्री परमानन्द डोभाल पटवारी थे । शिक्षा प्राप्त करने के बाद इन्होंने पौड़ी में वकालत शुरू की । ये बहुत ही मिष्टभाषी तथा कुशल वकील थे; तर्कपूर्ण धाराप्रवाह बहस करने में ये सारे गढ़वाल जिले में अद्वितीय थे । साथ ही इन्हें जन-सेवा से भी रुचि थी और कांग्रेस से ये पूर्ण सहानुभूति रखते थे; इसीलिये सन १६३० की 'इबतसत-गर्दी के ये भी शिकार हुये और इन्हें भी अन्य महानुभावों के साथ छै मास का कारावास भुगतना पड़ा । अक्तूबर, सन १६४४ में लगभग ४५ वर्ष को आयु में इनका देहान्त हो गया ।

(२७) श्री बख्तावर सिंह लिंगवाल

इनका जन्म २७ जनवरी, सन १८६६ ई० को मन्यारस्यूं पट्टी के थनूल ग्राम में हुआ था । इनके पिता श्री पूर्णसिंह लिंगवाल थे । अपने परिश्रम से शिक्षा पाने के बाद इन्होंने कुछ समय तक आर्य विद्यालय भगड़ू में अध्यापकी की और फिर अपना प्रायः सारा समय देहरादून में बिताया । स्वतंत्र व्यवसाय के साथ-साथ ये कांग्रेस व आर्य समाज में भाग लेते थे । साहित्य से इन्हें विशेष रुचि थी; तात्कालिक समस्याओं पर इसके कई लेख 'गढ़देश' और 'कर्मभूमि' में प्रकाशित हुये; कुछ समय तक इन पत्रों के सम्पादकीय विभाग में भी इन्होंने काम किया ।

पर २६ अक्तूबर,सन १६४५ को अचानक घर पर इनका देहान्त हो गया। इनके भाइयों में श्री औतारसिंह लिंग्वाल अवकाश-प्राप्त फौजी जमादार हैं।

(२८) श्री बृजवासी लाल

इनका जन्म मई, सन १६१० ई० में सितोनस्यूं पट्टी के कटूड़ ग्राम में हुआ था। इन्होंने डी० ए० वी० कौलेज देहरादून से हाइ स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। फिर कुछ वर्षों के बाद इन्होंने डी० ए० वी स्कूल पौड़ी में अध्यापन-कार्य प्रारम्भ किया और वहीं से बी० ए० तक का अध्ययन किया। उस स्कूल में ये लगभग साढ़े चार वर्ष तक रहे और सेवा-भावना की दृष्टि से केवल २५) मासिक पारिश्रमिक स्वीकार करते रहे।

देहरादून से ही इन्हें समाज-सुधार तथा साहित्य-प्रेम की लगन लग गई थी। विद्यार्थी–जीवन में इन्हें कविताओं पर पुरस्कार भी मिले। 'कौलेज-मैगज़ीन' तथा 'आर्यमित्र' में इनके उग्र समाज-सुधारक विचारों से परिपूर्ण कई लेख निकले। फिर भी इनकी बहुत सी रचनायें अप्रकाशित रह गईं। ये अभिनय तथा मुख-मुद्राओं के द्वारा विभिन्न भावों के प्रकाशन में भी पटु थे; 'ताण्डव-नृत्य' तो इनकी एक विशेषता थी। सन १६३० में देहरादून के नमक-सत्याग्रही विद्यार्थियों में ये प्रमुख थे। उसी वर्ष पौड़ी की 'इटबसन-गर्दी' में इन्हें भी अन्य महानुभावों के साथ छै मास के कारावास की सजा मिली थी। सन १६३१ में इन्होंने कोट महादेव की विशाल राजनैतिक कान्फ्रेंस को सफल बनाने में दिन-रात एक कर दिया था। पर केवल ३७ वर्ष की ही आयु में २१ अक्तूबर, सन १६४६ को इनका देहावसान हो गया। अपने पिता श्री दौलत सिंह के ये इकलौते पुत्र थे; वे अभी भी इनके दो पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा की देखभाल कर रहे हैं।

(२६) श्री विश्म्भर दत्त त्रिपाठी

इनका जन्म ८ दिसम्बर, सन १६२५ ई० को बिचला नागपुर पट्टी के विशाल ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री रामकृष्ण त्रिपाठी है; वे अभी जीवित हैं। इन्होंने मिशन स्कूल चोपड़ा से हाइ स्कूल और अल्मोड़ा से इंटरमीडियेट की परीक्षायें उत्तीर्ण कीं व फिर फौज में भर्ती हो गये। उसी पद पर ये झांसी में कार्य कर रहे थे कि जून, सन १६४७ ई० में किन्हीं आततताइयों द्वारा क़त्ल कर दिये गये! केवल २२ वर्ष के इस युवक ने अच्छी काव्य-प्रतिभा प्रदर्शित की थी। इनकी कविताओं में से छांट कर 'हिम सुमन' शीर्षक कविता श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा, एम० ए०, ने अपनी पुस्तक 'सुन्दर-असुन्दर' में उद्धृत की है। उसमें श्री बद्रीनारायण धाम की महानता व प्राकृतिक दृश्यावली का वर्णन किया गया है। उसका पहिला पद इस प्रकार है—

मन आज खिल जा भूमि पा जिसकी सुरों ने चाह की,
नर ने नारायन ने जहां पर स्वर्ग तज कर राह ली;
यह देख संग रमा चली, नारद-कुबेर तथा गरुड़,
भगवान प्रस्थ विमान वाहन हैं नियन्ता श्री गरुड़;
उत्फुल्ल हो हो देवताओं ने लुटाया पुष्प-धन,
अवशेष हैं अब भी वही, बदरीश-वन में ये सुमन!

(३०) श्री कुंवरसिंह मस्ताना

इनका जन्म २५ नवम्बर, सन १६१० ई० को मवालस्यूं पट्टी के मैणा ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री दौलतसिंह चौहान था। चौंदकोट में इन्होंने कांग्रेस स्वयंसेवकों का अच्छा संगठन किया। सन १६४१ के व्यक्तिगत सत्याग्रह में इन्हें एक वर्ष का कारावास मिला, जिसे इन्होंने बरेली जिला जेल में बिताया। सन १६४२ के आन्दोलन में ये लगभग १६ मास

नजरबन्द रहने के बाद मार्च, सन १६४४ में रिहा हुये। सन १६४६ में इन्होंने धरासू सहकारी संघ की स्थापना कराई। पर १५ जून, सन १६४७ ई० को इनका देहान्त हो गया! साहित्य, कला व संगीत से भी इन्हें रुचि थी; कुछ चित्रों व कविताओं की भी इन्होंने रचना की थी; विशेषकर राष्ट्रीय गीत गाकर ये साथियों को अनुप्राणित कर दिया करते थे; वास्तव में ये 'मस्ताने' थे।

(३१) श्री शेरसिंह भण्डारी

ये जलेथा, पट्टी चलणस्यूं, के निवासी थे। ये एक साहसी सुधारक थे; पुराने कट्टरपंथी ज़माने में भी हरिजनों की ये पूरी सहायता करते थे और समानता का बर्ताव करते थे। शिक्षा-प्रसार के इतने हिमायती थे कि जब क्षत्रिय-छात्रवृत्ति-ट्रष्ट के लिये धन-संग्रह किया जा रहा था, तब इन्होंने अपने हाथ से 'नागराजा का धगुला' और अन्दर से तांबे का तौला भी निकालकर दान में दे दिया! उत्साही इतने थे कि जब १४ जनवरी, सन १६४१ को दत्ताखेत स्थान पर श्री जगतसिंह नयाल ने व्यक्तिगत सत्याग्रह किया, तब इन्होंने भी युद्ध-विरोधी नारे लगा दिये; गिरफ़्तारी के बाद जब मजिष्ट्रेट ने इन्हें रिहा कर देना चाहा, तब इन्होंने जेल जाने की ज़िद की, अतः इन्हें एक साल क़ैद की सज़ा दी गई। उस समय इनकी आयु ७२ वर्ष की थी। आख़िर ७८ वर्ष की आयु में अक्तूबर, सन १६४८ ई० में इनका देहान्त हुआ।

(३२) श्री गोपेश्वर लखेड़ा

इनका जन्म टिहरी-गढ़वाल की पट्टी बारज्यूला के जखंड ग्राम में हुआ था। इनके पिता एक अच्छे सम्पत्तिवान व्यक्ति थे; अतः इन्होंने आराम के साथ हिन्दी व अँग्रेज़ी की शिक्षा ग्रहण की तथा फिर जन-सेवा की ओर ध्यान दिया। ये रचनात्मक वृत्ति के व्यक्ति थे; इसीलिये श्री श्रीदेव 'सुमन' ने 'कर्ममूमि' के अपने

एक लेख में इनके कार्य की बहुत प्रशंसा की थी। इन्हें कपास, रेशम व उद्यान-कला की धुन थी। इसलिये इन्होंने कपास व रेशम की खेती कराई तथा अक्तूबर, सन १६३६ में अपने गांव में "गढ़वाल वीभिग पाठशाला" की स्थापना की। उसमें एक शिक्षक रखकर इन्होंने कताई-बुनाई का प्रचार किया, पर जब वहां सफलता नहीं मिली, तब उस पाठशाला को इन्होंने टिहरी नगर में बदल दिया। लेकिन निशुल्क शिक्षा देने पर भी लोगों का कम सहयोग मिला और वह संस्था कुछ समय तक चल कर बन्द हो गई। ये कई बार अपने इलाक़े से राज्य-एसेम्बली के सदस्य निर्वाचित हुये तथा हमेशा प्रजा-पक्ष का समर्थन करते रहे। ये एक नरमपंथी सुधारक व्यक्ति थे और सब दलों के लोग इनका सम्मान करते थे; कुछ समय तक ये लोकप्रिय मिनिष्टर के पद पर भी रहे। नवम्बर, सन १६४७ में इनका देहावसान हुआ।

(३३) श्री मोलूसिंह

ये टिहरी-गढ़वाल जिले की भरदार पट्टी के सौंदा ग्राम के रहने वाले थे। ये एक साधारण किसान थे और कभी-कभी सभा-सम्मेलनों में सम्मिलित होने के लिये पहुँच जाते थे। ११ जनवरी, सन १६४८ को कीर्तिनगर में जब प्रबल जन-आन्दोलन हुआ, तब ये राज-कर्मचारियों की गोलियों के शिकार हुये! पहिले से इन्हें कोई नहीं जानता था, लेकिन उस आकस्मिक शहादत के कारण सब इनको पहिचान गये और श्री नागेंद्रदत्त सकलानी के साथ १५ जनवरी को टिहरी नगर में इनके शव की भी समारोह-पूर्वक अन्त्येष्टि-क्रिया की गई! इसीलिये इनकी मृत्यु पर श्री 'श्रीमन' ने लिखा था—

कुछ ऐसे भी गढ़े गये हैं
धरती में नर-रत्न,

जिनको जाना, मगर नहीं सनमाना दुनिया ने।
मोलू, तुम भी एक उन्हीं
नर-रत्नों में से थे,
खो देने के बाद जिन्हें पहचाना दुनिया ने।

(३४) श्री तोताराम थपलियाल

इनका जन्म पट्टी खातस्यूं के सिमतोली ग्राम में हुआ था; लेकिन ये पश्चिमी नयार के किनारे गंगोलीसैण में रहने लगे थे। केवल हिन्दी मिडिल पास होने पर भी इन्होंने विभिन्न दिशाओं में अपनी प्रतिभा प्रदर्शित की। प्रारम्भ में ये कुछ समय तक श्रीनगर हाइ स्कूल में अध्यापक रहे। फिर सन १६०४-५ में तिब्बत-युद्ध के अवसर पर ये कुली-कोर के संचालक बनकर तिब्बत गये। वहां से लौटकर इन्होंने कुछ समय तक शिमला व गढ़वालमें पी० डबल्यू० डी० में कार्य किया। तदुपरान्त कुछ समय तक ये सैनिटरी इन्सपेक्टर रहे। सन १६१४-१८ के महायुद्ध में इन्होंने गढ़वाली ब्राह्मणों की एक बटैलियन खड़ी कराने में सफलता पाई; ये स्वयं सीधे 'सूबेदार' नियुक्त किये गये। उस युद्ध में वीरता व योग्यता प्रदर्शित करने के कारण इन्हें 'आदर का खड्ग'(सोर्ड ऑफ़ ऑनर) और जागीर दी गई। तदुपरान्त ये लगभग १२ वर्ष तक ज़िला बोर्ड के सदस्य रहे; कुछ समय तक उसके वायस-चेयरमैन भी रहे।

ये हरफ़नमौला व्यक्ति थे; प्रत्येक विभाग का इन्हें कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य था; प्रभावशाली वक्ता थे; गढ़वाल के चहुंमुखी विकास के लिये ये अपने ढंग पर प्रयत्नशील रहते थे। सनातन-धर्मी होते हुये भी शिक्षा-प्रसार की भावना से इन्होंने डी० ए० वी० स्कूल, पौड़ी, को बहुत मदद पहुँचाई। ६६ वर्ष की आयु में १६ दिसम्बर, सन १६४८ को इनका देहांत हुआ।

(३५) श्री दयाधर प्रसाद धौलाखंडी

इनका जन्म २२ सितम्बर, सन १६१६ ई० को खाटली पट्टी के मल्ला डुमैला ग्राम में हुआ था। एम० ए०, एल० एल० बी० की परीक्षायें उत्तीर्ण करने के बाद ये भारत-सर्कार के जी० एच० क्यू० विभाग में लिपिक हो गये और उन्नति करते हुये सन १६४७ में ये कुछ समय तक ऑफिसर सुपरवाइजर के पद पर भी रहे। ये समाज-सेवी युवक थे। विशेपकर शिमला व दिल्ली के प्रवासी गढ़वालियों में इन्होंने अपना अच्छा स्थान बना लिया था। मेरठ के विद्यार्थी-जीवन में इन्होंने 'पहाड़ी सेवक संघ' के प्रचार-मन्त्री का कार्य किया था। दिल्ली में इन्होंने 'अखिल गढ़वाल प्रवासी सम्मेलन' की योजना तैयार की थी; पर वह सफल न हो सकी। वहां के 'गढ़वाल साहित्य मण्डल' में इनका प्रमुख हाथ था तथा इन्हें 'गिरीश' के सम्पादक-मण्डल का एक सदस्य नियुक्त किया गया था।

विद्यार्थी-जीवन से ही इन्हें कवितायें लिखने का शौक था; इनकी कुछ कवितायें 'कर्मभूमि' में प्रकाशित हुई थीं; 'मधुजीत' शीर्पक से अपना एक संग्रह भी इन्होंने तैयार किया था। 'कर्म-भूमि' के ये एक नियमित लेखक थे। विभिन्न विपयों पर इनके १६ लेख उसमें समय-समय पर प्रकाशित हुये। इनका विशेप ध्यान गढ़वाल के इतिहास की ओर था। इन्होंने इस विषय की सब उपलब्ध सामग्री का अध्ययन किया था। उसके आधार पर इन्होंने 'कर्मभूमि' में कुछ लेख लिखे; 'बसुधारा' में भी इस विषय पर इनका एक लेख प्रकाशित हुआ। साथ ही इन्होंने "ऐतिहासिक गढ़वाल" शीर्षक से एक निबन्ध-संग्रह भी तैयार किया था, पर वह प्रकाशित नहीं हो पाया; और केवल ३० वर्ष की ही आयु में २१ मार्च, सन १६४६ को इनका देहावसान हो गया! इनके पिता श्री नेत्रमणि

अभी जीवित हैं। बड़े भाई श्री अमरदत्त धौलाखंडी लैंसडौन के डाक-विभाग में कर्मचारी हैं; छोटे भाई श्री दामोदरप्रसाद धौलाखंडी वीरौंखाल में पोस्टमास्टर तथा अदालती पंचायत के सरपंच हैं।

(३६) श्री गौरसिंह

ये दशजूला पट्टी के बैजरौ गांव के रहने वाले थे। ये २२ दिसम्बर, सन् १६४८ को भर्ती हो कर बंगाल गये और वहां पश्चिमी बंगाल आर्म्ड पुलिस की तीसरी बटैलियन में सिपाही का कार्य करने लगे। १४ जुलाई, सन १६४६ को कलकत्ते के विशाल मैदान में प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू का भाषण हुआ; लाखों की भीड़ थी और ये शांति व सुव्यवस्था के लिये अन्य सैनिकों के साथ वहां नियुक्त थे। उन दिनों कम्यूनिष्टों ने कलकत्ते में बहुत उपद्रव मचा रखा था; उस सभा में भी वे विघ्न डालना चाहते थे; पर ये अविचल अपना कर्तव्य पालन करते रहे। अचानक इन पर ही एक बम आ गिरा और ये उसके विस्फोट से वहीं पर तत्काल शहीद हो गये! उस सभा के बाद इनके शव की अर्थी राजकीय सम्मान के साथ निकाली गई; उसके साथ सर्कारी व गैर-सर्कारी व्यक्तियों का एक विशाल दल था; अन्त्येष्टि-क्रिया होने से पहिले स्वयं श्री नेहरू ने इनके शव पर पुष्प चढ़ा कर इन्हें सम्मान प्रदान किया तत्कालीन गवर्नर-जनरल श्रीराजगोपालाचार्य ने अपनी ओर से इनके परिवार के लिये १०००) की सहायता प्रदान की।

(३७) श्री लीलानन्द लखेड़ा

ये कलिगाड, पट्टी बिचला बदलपुर के एक शांत और देश-सेवी व्यक्ति थे। इन्होंने अधारियाखाल के ऊपर उटंई के डांडा से बिचला बदलपुर, इड़ियाकोट व खाटली पट्टियों में होते हुये सिसई गांव तक क़रीब २६ मील लम्बी सड़क बनवाने में सर्वप्रमुख भाग

लिया था। जनता ने उस कार्य में पूरा सहयोग दिया; पर रूपये की कमी के कारण इन्हें उसके लिये अपनी जायदाद भी बेच देनी पड़ी थी! उस सड़क से एक बड़े इलाक़े की जनता के लिये सुविधा हुई और लोग उसे 'लीलानन्द रोड' के नाम से ही पुकारते हैं। ११ फ़र्वरी, सन १९५१ ई० को इनका देहांत हुआ।

(३८) श्री सदानन्द डबराल

ये संस्कृत के धुरन्धर विद्वान तथा सुन्दर कवि थे। इनका गांव तिमली (पट्टी डबरालस्यूं) था। वहां इन्होंने लगभग ५० वर्ष पहिले एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना की थी। ये स्वयं उसके आचार्य थे। अनेक छात्रों ने इनसे उच्च संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया; अतः ये साधारणतया 'गुरुजी' कहे जाते थे। नन्दप्रयाग के श्री महेशानन्द नौटियाल ने सन १९०६-७ में इनके द्वारा संस्कृत के कई ग्रन्थों का हिंदी में अनुवाद कराया था। स्वयं भी इन्होंने "नर-नारायण काव्य" आदि कई पुस्तकों की रचना की थी। इनकी वाणी में रस था, तथा ये तत्काल कविता करने में पटु थे। "कर्मभूमि" के सम्पादक श्री भैरवदत्त धूलिया स्वयं संस्कृत के अच्छे ज्ञाता हैं; उनका इनके साथ काफ़ी परिचय था। वे लिखते हैं—"एक बार वे हमारे यहां आये। मैंने उनके पास एक श्लोक पूर्ति के लिये दिया। किसी विद्वान ने एक श्लोक मुझे सुनाया था। उसके तीन पद मुझे याद थे; चौथा याद नहीं था। श्लोक इस प्रकार है

दूर्वाक्षताय शुभमक्षतमानयेति
स्वश्रू मुखादशनिपात मिवाकल्लय।
....
भक्तं ददौ गुरु जनस्य करे मृगाक्षी॥

अर्थात—सासू जी ने पुत्रबधू से कहा कि दूर्वाक्षत के लिये क्षत लाओ। बधू जी ने सासू के हाथ में भात लाकर दिया। यह उक्त

पदों का तात्पर्य है। तीसरा पद लुप्त होने से उसका अभिप्राय ज्ञात नहीं। हमने यही श्लोक काशी में एक पण्डित जी को दिया; उन्होंने तीसरे पद पर ये शब्द रखे—'सम्भाविनं पति वियोगमसौ समीक्ष्य।' इसी श्लोक की समस्यापूर्ति हमने पण्डित सदानन्द जी से करवाई। उन्होंने निम्न समस्यापूर्ति की—

दूर्वाक्षताय शुभमक्षत मानयेति
स्वश्रू मुखादशनिपात मिवाकल्लय।
पत्युर्वियोग दहनोष्णतराश्रु सिद्धं
भक्तं ददौ गुरुजनस्य करे मृगाक्षी॥

अर्थात—सासू ने पुत्रवधू को कहा कि दूर्वा और क्षत के लिये चावल लाओ, बधू जब चावल ला रही थी तो रास्ते में पति के वियोग जन्य दहन उष्णतर आंसू हाथ के चावलों में गिरे तो वे चावल पक कर भात हो गये और पुत्रबधू ने सास के हाथ पर चावल न देकर भात दिया। यह था हमारे पण्डितजी का पाण्डित्य उस श्लोक का असली तीसरा पद क्या है यह हमें मालूम नहीं। आप इस समय गढ़वाल में सब से पुराने योग्य संस्कृत-सेवी कथावाचक विद्वान थे।"

इनका अप्रैल, सन १९५१ में लगभग ८० वर्ष की अवस्था में देहांत हुआ। इनके पुत्र श्री वाणीविलास शास्त्री भी अच्छे प्रभावशाली वक्ता हैं।

(३९) श्री रामरत्न थपलियाल

इनका जन्म सन १८९९ ई० में ग्राम चिलोली, पट्टी असवालस्यूं में हुआ था। एक धनाढ्य पिता के पुत्र होने पर भी इनका ध्यान स्वाधीन व्यवसायों की ओर गया। अतः संस्कृत व हिन्दी का ज्ञान प्राप्त करने के बाद इन्होंने सन १९२०-२१ के असहयोग आन्दोलन में भाग लिया। उसके बाद इन्होंने कांसखेत-अद्वाणी सड़क पर बेड्वाखाल में कताई-बुनाई का एक बड़ा कारखाना

खोला ; तथा कुछ समय बाद उसे अपने गांव में ले आये । एक तो जनता की उदासीनता के कारण वह वैसे ही नहीं चल रहा था, उस पर तत्कालीन सर्कार की इन पर क्रूर दृष्टि पड़ी; फलस्वरूप इन्हें हज़ारों रूपयों की हानि उठानी पड़ी । उस धक्के ने इन्हें कुछ विक्षिप्त सा बना दिया और आध्यात्मिकता की ओर इनका आकर्षण बढ़ गया । इन्होंने गम्भीर अध्ययन के बाद कई पुस्तकें लिखीं; उनमें से "विश्व-दर्शन" पुस्तक के कई संस्करण हुये और विद्वानों ने उसकी प्रशंसा की । वह प्रथम बार सन १९३२ में प्रकाशित हुई थी । उसके बाद भी इन्होंने "संसार-स्वराज्य-विधान" और "संसार का भव्य स्तम्भ" आदि कई पुस्तकें लिखीं; लेकिन प्रकाशित नहीं कर पाये । उधर इनकी विक्षिप्तता बढ़ती चली गई; मजबूर होकर इन्हें बरेली के मस्तिष्क-चिकित्सालय में भर्ती करा दिया गया; वहीं, ५२ वर्ष की अवस्था में २४ सितम्बर, सन १९५१ को आखिर इनका देहावसान हो गया । इनके बड़े पुत्र श्री विश्वप्रकाश थपलियाल गढ़वाल रोडवेज् में कार्य करते हैं ।

(४०) श्री विद्याधर डंगवाल

इनका जन्म अगस्त, सन १९२१ ई० में देवप्रयाग में हुआ था । इनके पिता का नाम श्री श्रीधर डंगवाल था । हिन्दी व संस्कृत की शिक्षा प्राप्त करने के बाद इन्होंने समाज-सुधार तथा टिहरी-गढ़वाल के जन-आन्दोलन में उत्साहपूर्वक भाग लेना प्रारम्भ किया । उसी सिलसिले में ये सन १९४२ में टिहरी-गढ़वाल की सामन्तशाही के शिकार हुये और लगभग १३ महीने तक टिहरी-जेल में क़ैद रहे । वहां के असाधारण कष्टों के कारण इनका स्वास्थ्य बिगड़ गया । ये साहित्य-प्रेमी युवक थे; भिखारी तथा 'निर्जड़ेश्वरानन्द' के उपनाम से इनके लेख व कवितायें स्थानयी

पत्रों में प्रकाशित होती रहती थीं ; दैनिक 'हिन्दुस्तान' के भी ये नियमित सम्वाददाता थे। पर केवल ३१ वर्ष की ही आयु में १७ दिसम्बर, सन १६५१ को इनका देहान्त हो गया ! इनके माता-पिता अभी जीवित है, एक पांच वर्ष का पुत्र भी है।

परिशिष्ट

निम्नलिखित महानुभावों के सम्बन्ध में केवल सरसरी जानकारी ही प्राप्त हो सकी; अतः संक्षिप्त सूचनायें दे कर ही सन्तोष करना पड़ रहा है:—

(१) श्री भानु धमादा—इन्होंने हरिद्वार के पास वीरतापूर्वक सीमा की रक्षा की थी; इनके उत्तराधिकारियों को अभी तक जागीर मिलती है।

(२) श्री जीतू बगड्वाल—इन प्रसिद्ध भड़ का गीत प्रचलित है।

(३) श्री मदन नेगी—टिहरी से कुछ मील दूर इनकी स्मृति में अभी तक प्रति वर्ष मेला लगता है।

(४) श्री सिद्धवा रमोला—एक वीर पुरुष थे।

(५) श्री वागीश ओझा—इन्होंने 'वागीश' शीर्षक एक तंत्र-शास्त्रीय पुस्तक लिखी थी।

(६) श्री तुलाराम बहुगुणा—इन्होंने 'बद्री महात्म्य' नामक एक पद्य-ग्रन्थ लिखा था तथा 'वृहत् जातक' और 'ग्रहलाघव' पर संस्कृत में टीकायें लिखी थीं।

(७) श्री हरिदत्त नौटियाल—संस्कृत व ज्योतिष के प्रकांड विद्वान थे; धर्मशास्त्रों का सार लेकर इन्होंने 'धर्मवल्लरी' शीर्षक पद्य-ग्रन्थ लिखा था; हिन्दी व संस्कृत में भी इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं।

(८) श्री महिधर डंगवाल—इनका 'पंचांग' बहुत लोकप्रिय

है; इन्होंने एक सौ वर्ष आगे तक के 'पंचांग' तैयार कर डाले थे।

(९) श्री किशन सिंह रौतेला—सितार-वादन में निपुण थे; संगीताचार्य श्री विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने भी मुक्तकंठ से इन की प्रशंसा की थी।

(१०) श्री लीलाधर शास्त्री—ऋषिकुल हरिद्वार के स्नातक और फिर उसी के प्रिंसिपल हो गये थे; प्रभावशाली वक्ता और विद्वानों द्वारा प्रशंसित थे।

(११) श्री गोपी कप्तान व (१२) श्री इन्द्रवीरसिंह कप्तान—ये धौलपुर राज्य की सेना के कमाण्डर थे; विदेशों में इन्होंने बड़ा फौजी सम्मान पाया था।

(१३) कुंवर विचित्रशाह—महाराज कीर्तिशाह के छोटे भाई थे; अच्छे कला-मर्मज्ञ थे; श्री मोलाराम व अन्य चित्रकारों के चित्रों का एक बड़ा संग्रह इनके पास था।

(१४) श्री लीलानन्द कोटनाला—ये 'अलकनन्दा-तटवासी' के नाम से गढ़वाली में कवितायें लिखा करते थे।

(१५) श्री भरतसिंह रौतेला—टिहरी के अच्छे चित्रकार थे; 'माधुरी' व 'सरस्वती' आदि पत्र-पत्रिकाओं में इनके कई चित्र प्रकाशित हुये थे।

(१६) श्री लालसिंह नेगी—साधारण पद से तहसीलदारी तथा 'रायबहादुरी' प्राप्त की थी; अनेक गढ़वालियों को इन्होंने नौकरी पर लगवाया था।

(१७) श्री विजयराम रतूड़ी—इन्होंने 'गढ़वाल राज्य का इतिहास' पुस्तक प्रकाशित की थी।

(१८) श्री जवाहिरसिंह नेगी—अपढ़ होने पर भी अपनी प्रतिभा से पुलिस-इंस्पेक्टर हुये और 'रायबहादुरी' प्राप्त की; कई नामी डाकुओं को पकड़ने में सफल हुये थे।

(१९) श्री उर्बीदत्त डंगवाल—इन्होंने संस्कृत में इंगलैंड का

इतिहास लिखा था; ट्रिब्यून' आदि पत्रों ने भी उसकी प्रशंसा की थी।

(२०) श्री दुर्गादत्त—ये मन्यारस्यूं के निवासी थे और संस्कृत के विद्वान और प्रसिद्ध ज्योतिषी थे।

(२१) श्री चक्रधर पोखरियाल—'विजयेश' उपनाम से हिंदी में अच्छी कवितायें लिखा करते थे; अध्यापक थे।

(२२) श्री शितावसिंह शाह—गोपेश्वर-निवासी थे; सन् १६२० के बेगार-विरोधी आन्दोलन में जेल-यातना सही थी।

(२३) श्री गजाधर शर्मा—कालिकों, पट्टी गुजड़ू के निवासी थे; सन १६३० के आन्दोलन में ६ मास का कारावास मिला था।

(२४) श्री भूपालसिंह—कठूड़, पट्टी सितोनस्यूं के निवासी थे; सन १६३० के पेशावर-कांड में सज़ा मिली थी।

(२५) श्री शिवदत्त भदूला—रुइंडाली, पट्टी गुजड़ू के निवासी थे; सन १६३० के आन्दोलन में ६ मास का कारावास मिला था।

(२६) श्री रतनसिंह गुसाईं—पातल, पट्टी गुजड़ू के निवासी थे; सन १६३० के आन्दोलन में १ वर्ष का कारावास मिला था। इनके पुत्र स्व० श्री बनवारीसिंह को भी १ वर्ष का कारावास मिला था।

(२७) श्री रामदयालसिंह विष्ट—सिमार, पट्टी जैंतोलस्यूं के निवासी थे; अन्य कई कार्यों के साथ लैंसडौन की पंचायती धर्मशाला बनवाने में सर्वप्रमुख भाग लिया था; इस कार्य में स्व० श्री राधावल्लभ जोशी भी इनके साथी थे।

(२८) श्री छकटमणि डेवराणी—डुंडेख, पट्टी लंगूर पल्ला के निवासी थे; डाडामण्डी इलाक़े में अनेक सेवा-कार्यों में प्रमुख भाग लिया था।

(२६) श्री वीरसिंह गुसांई—पातल, पट्टी गुजड़ू के निवासी थे; सन १६३० के आन्दोलन में १ वर्ष का कारावास मिला था।

(३०) स्वामी ज्ञानानन्द—बडोली , पट्टी उदयपुर वल्ला के निवासी थे; सन १९३० के आन्दोलन में कारावास मिला था; दलितोद्धार-कार्य में विशेष उत्साह दिखाया था ।

(३१) श्री शीशराम भदुला—रुइंडाली, पट्टी गुजड़ू के निवासी थे; सन १९३० के आन्दोलन में ३ मास का कारावास मिला था ।

(३२) श्री केशवदत्त जोशी—सैंधार ग्राम के निवासी थे; सन १९३० के आन्दोलन में ३ मास का कारावास मिला था।

(३३) श्री हरिप्रसाद मिश्र—कोटद्वार-भाबर के निवासी थे; सन १९३० के आन्दोलन में ६ मास का कारावास मिला था ।

(३४) श्री मस्तराम ध्यानी—भौन, पट्टी ईड़ियाकोट के निवासी थे; सन १९३२ के आन्दोलन में ६ मास का कारावास मिला था ।

(३५) श्री जोधसिंह रावत—नौड़ियालगांव, पट्टी कफोलस्यूं के निवासी थे; सन १९३० में अपने पुत्र श्री आनन्दसिंह के साथ ६ मास तक कारागार-वासी रहे थे ।

(३६) श्री केशरसिंह नाथ—बकोल्यूं, पट्टी ईड़ियाकोट के निवासी थे; सन १९४१ के आन्दोलन में ६ मास के कारावास का दण्ड मिला था।

(३७) श्री खुशहालसिंह शाह—संगलाकोटी, पट्टी गुराडस्यूं के निवासी थे; सन १९४१ के आन्दोलन में इन्हें जेल-प्रवास मिला था ।

(३८) श्री रविदत्त—सिरुवा, पट्टी मल्ला कालीफाट के निवासी थे; सन १९३० के आन्दोलन में अध्यापकी से त्यागपत्र देकर शामिल हुये और दो बार जेल-यातना सही ।

(३९) श्री चण्डीप्रसाद उनियाल—संस्कृत के ज्ञाता व रघुनाथ कीर्ति महाविद्यालय देवप्रयाग में जन-सेवी अध्यापक थे; कुछ समय तक टिहरी राज्य-प्रतिनिधि सभा के सदस्य भी रहे ।

(४०) श्री प्यारेलाल जोशी—देवप्रयाग के एक आदर्श स्वयंसेवक

थे; सन १९४१ के आंदोलन में ३ मास का कारावास मिला था।

(४१) श्री गोपालसिंह बिष्ट—जल्ठा, पट्टी डबरालस्यूं के निवासी थे; सन १९४१ व १९४२ के आन्दोलनों में कारावास प्राप्त किया था।

(४२) श्री लीलानन्द डबराल—कूंतणी (डबरालस्यूं) के निवासी थे; प्रौढ़-अध्यापकी से त्यागपत्र देकर सन १९४१ व सन १९४२ के आंदोलनों में कारावास प्राप्त किया था ।

(४३) श्री सत्यनारायण आगरावाल—देवप्रयाग के निवासी थे; सन १९३० के आंदोलन में आगरा से कारावास प्राप्त किया था।

(४४) श्री पातीराम सैली—सैल, पट्टी रानीगढ़ के निवासी थे; रानीगढ़-ग्राम-सेवक-संघ के सेवादल-कप्तान थे; सन १९४१ व सन १९४२ के आंदोलनों में कारावास मिला था।

(४५) श्री मोतीसिंह रावत—डुंगरी, पट्टी गुजड़ू के निवासी थे; बृद्ध होते हुये भी युवक राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं में उ[illegible] भरते थे; इनके पुत्र श्री थानसिंह रावत प्रसिद्ध जन-सेवक हैं।

(४६) श्री गुलाबसिंह रावत—स्यूंसी, पट्टी साबली के निवासी थे; सन १९४२ के आंदोलन में कारावास मिला था।

(४७) श्री पीताम्बरदत्त त्रिपाठी—गोविन्द पाठशाला, शांति-सदन (चटुवापीपल) के आचार्य थे; संस्कृत के विद्वान तथा पद्य-रचना में प्रवीण थे

(४८) श्री गंगासिंह रावत—भलगांव, पट्टी लंगूर पल्ला के निवासी थे; समाज-सुधारक और गढ़वाली भाषा के कवि थे।

(४९) श्री जोधसिंह मनराल—नन्दप्रयाग के निवासी थे; राष्ट्रीय आंदोलनों में दो बार जेल-प्रवास किया था।

(५०) श्री खुशहालसिंह—कांसखेत के निवासी थे; सन १९३० के 'पेशावर-कांड' में कारावास मिला था।

(५१) श्री खड्गसिंह नेगी—पीपली, पट्टी मवालस्यूं के निवासी थे; बरेली कौलेज में अध्ययन करते समय सन १८८५ ई० में

इन्होंने 'गढ़वाल डिबेटिंग क्लब' की स्थापना की थी।

(५२) श्री क्रान्तिचन्द्र उनियाल—दमराड़ा, पट्टी उदयपुर वल्ला के निवासी थे; सन १६३०-३२ के आंदोलनों में जेल-यातनायें सहीं और ज़मीन भी कुर्क हुई; अन्त में कुछ विक्षिप्त हो गये थे।

(५३) श्री मनवरसिंह रावत—बछेली, पट्टी लंगूर पल्ला के निवासी थे; अपने इलाक़े में पाठशाला स्थापित करके शिक्षा-प्रसार किया; इनके पुत्र स्व० श्री मौलीसिंह रावत ज़िला बोर्ड के सदस्य थे।

(५४) श्री योगेश्वरप्रसाद डोभाल–टिहरी के एक सेवाव्रती युवक थे; काशी विद्यापीठ से स्नातक होने के बाद ही देहांत हो गया

(५५) श्री सुन्दरसिंह—बधाण इलाक़े के निवासी थे; सन १६३१ के पेशावर-कांड में सज़ा मिली थी।

(५६) श्री अम्बिकादत्त शर्मा—श्रीनगर हाइ स्कूल के संस्थापकों में से थे; 'गढ़वाली कवितावली' में इनकी 'श्री रामचन्द्र-वदन वर्णन' कविता बहुत सुन्दर है।

गढ़वाल प्रदेश
का
ट्यूनी
चकरौता
कालसी
पांवटा
देहरादून
कालुंगा
मसूरी
तिलाड़ी
उत्तरकाशी
गंगोत्री
गोदी
प्रतापनगर
टिहरी
जौल
चम्बा
कीर्तिनगर
मलेथा
देवप्रयाग
श्रीनगर
नरेन्द्र नगर
ऋषिकेश
मरोडा
सिलोगी
सतपुली
लंगूरगढ़
बयेली
पाली
लैंसडौन
दुगड्डा
कोटद्वार
नजीबाबाद
कालागढ़
सहारनपुर
हरिद्वार
रुड़की
ज़िला सहारनपुर
ज़िला बिजनौर